महादेवी का काव्य

श्री सुमित्रानन्दन पन्त

अब हम छायावाद के वसन्त वन की सबसे मधुर, भाव-मुखर पिकी महादेवीजी के काव्य पर आते हैं। यद्यपि छायावादी युग में कामायनी के समान एक उत्कृष्ट महाकाव्य की भी सृष्टि हुई, पर मुख्यतः वह प्रगीत-प्रधान युग रहा जिसकी सुनहली परिणति कला-बोध भाव-व्यंजना तथा रस-सृष्टि की दृष्टि से निश्चय ही महादेवी के गीतों में हुई है, जिन्हें छायावादी भाव-साधना के युग की प्रेम-साधिका मीरा भी कहते हैं। उनकी अभिव्यक्ति का क्षेत्र सीमित एवं भाव-संस्कार-जनित सूक्ष्मता का द्योतक होने के कारण उसमें अन्तःसलिला धारा का-सा प्रच्छन्न प्रवेग तथा भावना की निगूढ़ गहराइयाँ मिलती हैं। उनका भाव-जगत् प्रसाद का-सा हिम-विद्ध समरस-शृंग या निराला का-सा महत्-मानवता से उद्वेलित सागर नहीं है। वह अन्तर्मुखी भाव-साधना के पवित्र अश्रुओं से धौत तपःपूत स्फटिक-शुभ्र प्राण-चेतना का रश्मि-कलश मन्दिर है जो स्वयं उनके हृदय के भीतर का उनका सूक्ष्म रत्न हृदय है। वह प्राणों की संवेदना से सौरभ-गुंजरित मनोरम सृष्टि है जिसका चाँदनी का प्रांगण चन्दन की भाव सोंधी गन्ध से सिंचित है। प्रसाद मानव भावना के चिरन्तन संघर्ष को युग की पीठिका में उतारकर, मानसी मीरी की भाव मणिमाला की सीमा पर मुग्ध हो उसका समाधान समन्वित ज्ञान शृंग पर अवस्थित आनन्दवाद की उच्च एकान्त व्यक्तिमुखी भूमि पर दे गए। उन्होंने निराकार चिति को भी साकार सगुण शिवत्व के ही माध्यम से अभिव्यक्त किया। शिव के व्यक्तित्व में साकार निराकार स्वरूप अधिक स्पष्ट संयोजित होने के कारण उन्होंने सीधा निराकार निःसीम सौन्दर्य-स्पर्श को मुख्यतः बौद्धिक दृष्टि से नवीन प्रतीकों-बिम्बों के माध्यम से व्यक्त किया और महादेवी जी ने भी निराकार के ही बोध को प्रधानतया भावात्मक दृष्टि की सूक्ष्म संवेदना तथा सुख-दुःख के सौन्दर्य की रंगीनी के माध्यम से गीतिमय मार्मिक अभिव्यक्ति दी। उनके भावनाकाश की मेघ-मूर्तियों को बेधकर, अन्तर्बोध का रश्मि-बाण बार-बार व्याप्त होकर, सघन प्रकाश के विद्युत्-क्षण बरसाता रहा है। दूसरे शब्दों में जिस निराकार दृष्टि को निराला ने बुद्धि से ग्रहण कर अपने काव्य-पट में अवतरित किया उसी को महादेवी जी ने भावना-प्लावित हृदय की झंकार द्वारा कला-वैभव-मण्डित तथा प्रतीक-बिम्बित किया उनकी अभिव्यक्ति मीरा की-सी सीधी या निराला की-सी शक्ति-प्रेरित

क्रम



न होकर प्रतीकों-बिम्बों के सौन्दर्य-सृष्टा से अधिक प्रभावित करती है। प्रसाद ने भाव सत्ता का निरपेक्ष रूप में सूक्ष्म विवेचन तथा मूर्तीकरण किया, महादेवी ने भावना के संवेदनों का सूक्ष्म विश्लेषण तथा उनके सुख-दुःखमय और अधिकतर दुःखमय स्पर्शों के दंश का चित्रण किया है। महादेवी का काव्य मुख्यतः भाव-संवेदना प्रधान है, अपना दर्शन बोध या मूल्य-बोध को उन्होंने भावनाओं के आरोहण-अवरोहण के लिए सोपान-मात्र बनाया है। उनमें मध्ययुगीन रहस्यवादी अभिव्यक्ति का जो सबसे अधिक प्रभाव मिलता है इसका मुख्य कारण उनका नारी-हृदय का सहज-संस्कार तथा तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति की पृष्ठभूमि में नारी-जीवन की सीमाएँ ही हैं। इन कुण्ठ परिस्थितियों में अपने भीतर साधनात्मक अन्तःउन्मुख भरने की भावना से अधिक उपयोग उन्होंने रहस्यवादी प्रणाली का अभिव्यंजना के लिए ही किया है। जो घनीभूत पीड़ा या वेदना प्रसाद के मस्तक में स्मृति-सी छाई थी वह महादेवी के भावना जगत् में अधिक गहरी, तीव्र तथा मर्मस्पर्शी होकर व्याप्त मिलती है। उनके काव्य का सर्वप्रमुख तत्त्व वेदना, वेदना का आनन्द, वेदना का सौन्दर्य, वेदना के लिए ही आत्मसमर्पण है। वह तो वेदना के साम्राज्य की एकछत्र साम्राज्ञी हैं और कोई सुख उन्हें आत्म-विस्मृत या आत्म-तन्मय होने का नहीं चाहिए। सुख तो क्षणजीवी है, वेदना ही चिरस्थायी, चिरव्यापी एवं चिर-स्पृहणीय है। उनकी काव्य-सृष्टि के अन्य आयामों पर विचार करने से पहले हम उनकी इस वेदना मूर्च्छा की आत्म-जागृति पर विचार करेंगे।

महादेवी जी ही छायावादियों में एकमात्र वह विरल्ला भाव-जीवना कवयित्री हैं जिन्होंने नये युग के परिप्रेक्ष्य में राग-तत्त्व के गूढ़ संवेदन तथा राग मूल्य की अधिक मर्मस्पर्शी गम्भीर अन्तर्मुखी तीव्र-संवेदनात्मक अभिव्यक्ति दी है, जिसका कारण जैसा मैंने अभी कहा है सम्भवतः उनका नारी-व्यक्तित्व है। इसका सम्बन्ध उनके निजी वैयक्तिक जीवन से उतना नहीं है—उनका व्यक्तिगत जीवन तो सामाजिक दृष्टि से तथा स्वभाव से भी सन्तुलित ही रहा है। वह एक सम्पन्न घर में पैदा हुईं, उनके माता-पिता तथा परिवार का वातावरण भी शिक्षित सुरुचिपूर्ण ही रहा। उनकी स्वतन्त्र व्यक्तिगत आकांक्षाओं की पूर्ति के पथ में भी कोई ऐसे दुःखद व्यवधान या बाधाएँ नहीं उपस्थित हुईं, फिर यह अकल्पनीय वेदना का संसार उन्होंने अपने हृदय में क्यों बसा लिया? उनका-सा विनोदी परिहास प्रिय छायावादियों में दूसरा नहीं मिलता, उनकी निर्द्वन्द्व भावापूर्ण हँसी प्रसिद्ध है। किसी विनोदप्रिय अवसर या घटना के छूते-भर स्पर्श से ही उनकी हृतन्त्री बज उठती है और वह हँसी में गोल-मटोल हो जाती हैं। क्या यह उनके हृदय की वेदना के दुःख का पारद अवगुण्ठन मात्र है? ऐसा तो नहीं जान पड़ता। वह एक प्रख्यात महिला-शिक्षा संस्थान की अत्यन्त कुशल सेवा-परायण संचालिका हैं। उन्हीं के अविराम प्रयत्न तथा आत्म-त्याग से उस संस्था का उद्भव तथा विकास हुआ। अनेक संस्था-सम्बन्धी संघर्षों का उन्हें साहस के साथ सामना करना पड़ता है। जीवन-यथार्थ के प्रति लोकाचार तथा सामाजिक व्यवहार के प्रति उनकी दृष्टि प्रबुद्ध है। यह कोई रचनाओं में गाई पीड़ा की वासन्ती नहीं है, फिर यह क्या बात है कि उन्होंने इस विराट् युग की विविधमुखी जीवन परिस्थितियों में केवल वेदना को ही अपनी अन्तर्भामिनी चुना? और उसे अपने तन-मन

के अणुओं से सहसाकर अपने सम्पूर्ण उत्सर्ग से उसमें प्राण भरकर, समस्त सहानुभूति की उस व्यापकता प्रदान करके तथा अपने कवि-हृदय के मर्मस्पर्श स्वप्नों, और अकलुष सौन्दर्य-बोध से उसका शृंगार-सज्जा करके उसको छायावादी काव्य के अनिन्द्य कला-धाम के ताजमहल के भीतर एक अदृश्य निराकार प्रीति-प्रतिमा की तरह प्राण प्रतिष्ठित कर दिया। निश्चय ही यह व्यावहारिक यथार्थ के जगत् के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठ महादेवी का रूप नहीं है—यह उनके सूक्ष्म अन्तर्जगत् के चेतन उपचेतन सूक्ष्म-चेतन स्तरों में व्याप्त उस चिरन्तन भारतीय नारी उस आने वाली विश्व-नारी का रूप है उस अजेय राग-तत्त्व की अन्तस्तत्त्व स्वप्न-सौन्दर्य भूषित विरह दग्ध तपःपूत सूक्ष्म-सूक्ष्मतम परमाणुओं से निर्मित विराट प्रतिमा का रूप है, जो विश्व की या सृष्टि की प्राण-पीठिका पर अनादि काल से प्रतिष्ठित है। जहाँ प्रसाद के रूप में छायावाद ने भारतीय संस्कृति का अमृत घट इस युग को दिया निराला ने समस्त देह-प्राण-मन तथा बौद्धिक द्वन्द्वों से ऊपर की आत्म ज्योति का निराकार स्पर्श दिया वहाँ महादेवी ने इस युग के लिए इस सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उस राग-मूल्य की प्रच्छन्न गुह्य अन्तः-सत्ता की ओर इंगित किया जिसके बिना आने वाले युग के यथार्थ का अस्थि-पंजर प्राण रस-सौन्दर्य तथा मानव हृदय के प्रेम स्पन्दन से वंचित रहकर केवल एक विमाकार दानव-सा ही नवीन युग की पीठिका पर अट्टहास करता होता। भले ही महादेवी ने उस मूल्य को केवल संकेतात्मक और कहीं-कहीं पर निवृत्तिमूलक या निषेधात्मक अभिव्यक्ति दी हो। सूक्ष्म भाव-प्रवण महत् राग सम्मोहनमयी महादेवी की इस वेदना के मूल भारतीय संस्कृति में गहरे अत्यन्त गहरे फैले हुए मिलते हैं। हमें अपने मध्ययुगों के जीवन में एक संक्षिप्त दृष्टि डालनी होगी कि कैसे यह राग की आह्लादिनी-शक्ति अकथनीय अगाध वेदना-बंधन में बदल गई और इसके क्या कारण थे? किस हद तक मध्ययुगीन जीवन या काव्य राग चेतना के विकास में सहायक हो सका और कहाँ उसके लिए परिस्थितियों के लौह कपाट अवरुद्ध मिले।

प्रथम चित्र हमारे सम्मुख राम-युग की सांस्कृतिक मान्यताओं का आता है, जिसमें वनचर और महर्षियों के जीवन की तुलना में कृषि जीवन के स्थायी परिवेश में राग मूल्यों के लिए एक सामाजिक मर्यादा, एक स्त्री-पुरुष के सदाचार आदि की भूमिका मिलती है जिसने राग भावना के विकास, वितरण तथा परितृप्ति के लिए एक व्यापक पुष्ट नैतिक पीठिका प्रस्तुत की। सदियों तक यह नैतिक-सन्तुलन मानव-समाज के उन्मत्त पथ को अपनी मान्यता के अंकुश से प्रशस्त राजपथ पर परिचालित करता रहा। सीता राम की पुण्य भावना के पावन सात्त्विक स्फटिक प्रांगण पर राग-चेतना अपने शील-भरे सन्तुलित चरण बढ़ाती रही। उस युग के नियन्त्रण की राजयष्टि इतनी निर्मम थी कि दन्तकथा ही सही पर एक धोबी के शंका प्रकट करने पर, भारतीय गृहस्थ जीवन-मर्यादा की रक्षा के लिए श्री राम ने निष्कलंक सीताजी का भी परित्याग कर दिया। यह वाल्मीकि रामायण का चित्रपट है। किन्तु कृष्ण-युग में न जाने कहाँ से और कैसे एक अविवेक हृदय मथित करने वाली, मधुमधुर वंशी-ध्वनि सुनाई पड़ने लगी। सम्भवतः तब कृष्ण-युग अपनी आर्थिक राजनीतिक सांस्कृतिक दार्शनिक सौन्दर्य-बोध शौर्य-वीर्य आदि की सात्त्विक राजस मान्यताओं में पूर्ण विकसित एवं पुष्पित-

पल्लवित हो चुका था और राग भावना राम-युग के नैतिक प्रांगण की सीमाओं के भीतर मात्र क्रीड़ा तथा लीला-नृत्य करती हुई अब अपने विकास तथा अभिव्यक्ति के लिए 'दूसरी भाव भंगिमा तथा सौन्दर्य-प्रेरणा की प्रतीक्षा में थी—क्योंकि निरन्तर अमन्द विकास-क्षमता ही का नाम जीवन है—कि सहसा रस-पुरुष कृष्ण का व्यक्तित्व भारतीय संस्कृति के राज-प्रासाद में जन्म लेता है और राम-युग की मर्यादाओं के तटों को डुबाते हुए, राग-भावना सौन्दर्य बोध तथा रसाह्लाद का एक अभूतपूर्व नवीन प्लावन भारतीय नर-नारियों के जीवन में उपस्थित होता है। गृहस्थ की देहरी से बाहर निकलकर गायों सी रँभाती हुई गोपियों-सी तन-मन की सुधि भूलती हुई नई वंशी-ध्वनि पर मुग्ध राग भावना वृन्दावन के सीमित क्षेत्र ही में सही महाभारत से लेकर जयदेव के 'गीत-गोविन्द' तक और पीछे रीति-काव्य के युग में मुखर अभिव्यक्ति पाती रही। किन्तु यह विश्व व्यापी राग-सिन्धु का उद्वेलन क्या उस युग के घट में समा सकता था ? कृष्ण तो उस युग के एकीभूत अन्तःस्थित व्यक्तित्व थे। उनका चैतन्य तो लोक-जीवन की सिद्धि या व्याप्ति बन नहीं सका था। निश्चय ही वह राग-संचरण आत्मा और जीवों के रूप में बँधकर कृष्ण-गोपियों की लीला के रूप में सामंजस्य पाकर, एक वैयक्तिक सामन्तगत सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक मूल्य बनकर रह गया। राम जिस प्रकार सामाजिक-परमबोध या सामूहिक मूल्य के प्रतीक हैं कृष्ण उसी प्रकार परम व्यक्ति-मूल्य के प्रतीक हैं। साथ ही उस रागोत्थान को तत्कालीन बाह्य परिस्थितियों की सीमाओं के कारण एवं समष्टिक लोक-जीवन में अभिव्यक्ति न मिल सकने के कारण उसका एक दूसरा पक्ष फिर विरह-मूर्ति राधा के रूप में हमारे सामने उपस्थित होता है। कृष्ण-युग के राग-प्लावन को विगत देह मूल्यों के तृण के दोने में सँभालकर रखना सम्भव नहीं था—क्योंकि अपने विकास के शिखर पर भी कृषि-युग की बहिर्मुखी परिस्थितियों की सीमाओं में प्रकारान्तर उपस्थित नहीं किया जा सकता था। अतः कृष्ण-युग ने रागतत्व के आध्यात्मिक मूल्य-संकेत को तो स्वीकार किया पर जीवन तथा प्राणों के स्तर पर उसका उपभोग करने के लिए उसे सामूहिक के बदले वैयक्तिक अथवा प्रेम-साधना का विषय बना दिया और राग-चेतना के विराट्-रूप एवं परम चेतना के एकान्वित तद्गत अन्तःस्वरूप के प्रतीक या द्योतक होते हुए भी कृष्ण और राधा के व्यक्तित्व में कृषि-युग के परिस्थिति-सीमित देह-मूल्य को भी स्वीकृत करना जैसे उस युग की विवशता एवं आवश्यकता थी। नहीं तो रागशक्ति के अदम्य वेग को न रोक सकने के कारण लोक-जीवन में घोर अनाचार फैलने की अनिवार्य सम्भावना थी। फिर भी एक दूसरे ही परिप्रेक्ष्य में कृष्ण और गोपियों की लोकीय भूमिका में उस रागतत्व की विभुता पावनता एवं विश्व-मूल्य को प्राणों के स्तर पर भी उस युग को स्वीकृति देनी पड़ी और व्यक्तिगत रूप में उस परम राग-चेतना या 'रसो वै सः' कृष्ण तत्व की प्रेमसाधना के लिए जीवन की भूमिका के बदले महाभाव की भूमिका ने जन्म लिया।

महाभारत के बाद भारतीय संस्कृति में ह्रास-विघटन के चिह्न उपस्थित होने लगे थे। बुद्ध के उदय तक भारतीय चैतन्य कर्मकाण्ड विधि विधानों की संकीर्णता में जड़ीभूत हो गया था। बुद्ध का निर्वाण एवं उन्नत नैतिक आत्म-साधना का पथ इसी के प्रति विद्रोह था। बुद्ध के आगमन के बाद ही भारत भूमि जिन अवांछनीय बाधाओं की आक्रमण

भूमि बनकर पराधीनता के पाश में फँस गयी और कब और कैसे उसकी नारी समस्त रागभावना की विभूति को समेटकर मध्ययुगीन गृहस्थ के कटघरे में कुण्ठित होकर, फिर भूगर्भ में चली गई, कब रीति-काव्य की भूमिका में परकीया अभिसारिका, विप्रलब्धा खण्डिता आदि नारी-रूपों में उसने पुनः जन्म लिया और प्रेम की प्रतीक्षा में रत इन्द्रिय उत्तप्त उच्छ्वसित, विरहिणी के अस्थि-पंजर ने सौन्दर्य-भावना को अभिभूत कर लिया इस सबसे आप अच्छी तरह परिचित हैं। यही मध्ययुगों से भारतीय राग भावना का विरह कुण्ठ एवं देह-बोध गुण्ठित साहित्यिक स्वरूप तथा इतिहास रहा है। और इसी रागतत्त्व के मर्मस्पर्शी उद्घाटन एवं आचरण की प्रतिनिधि गायिका वेदनामूर्ति कल्याणी महादेवी हैं जिन्होंने चिरन्तन प्राण-पुरुष की गोपन रहस्यमयी वंशी-ध्वनि का आमन्त्रण स्वीकार करके रस-सागर की उत्ताल तरंगों में उठती-उतराती अस्पृश्य-स्पर्श से रोमांचित होती हुई, भारतीय मध्ययुगीन राग-चेतना राधा की विरह-दग्ध पीड़ा विष-मूच्छित वेदना की आनन्दमूर्ति निष्कलुष 'दीपशिखा' की तरह लहराह जलती हुई, प्रीति-साधना को पुनः अपने काव्य के चित्रपट में अभिव्यक्ति दी है। और यह राधा की प्रेम-वेदना जिसे न वह छोड़ सकती है, न भुला सकती है न जीत ही सकती है प्रत्येक भारतीय नारी के भीतर, युग-नारी तथा विश्व नारी के भीतर आज नवीन संवेदनों में प्रकट हो रही है। भारत ही नहीं समस्त विश्व में काव्य और साहित्य में ही नहीं आधुनिक मनोविज्ञान और दर्शन में भी एवं फ्रॉयड आदि के उपचेतन-अचेतन मन के दमित काम व्यापारों तथा लिबिडो के स्तरों ग्रन्थियों आदि के विश्लेषण में भी यह रागतत्त्व नये विकास नये सामाजिक वितरण नये स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों के निरूपण में प्रकट होने के लिए अपने स्वत्व को घोषित कर रहा है। उन्नीसवीं सदी का स्वच्छन्दतावाद भी इसी से प्रेरित है। रागतत्त्व का नया मूल्यांकन नई नारी का उदय भविष्य की अवश्यंभावी सम्भावनाओं में से है। राग-मूल्य की भावी अवधारणा उसकी सामाजिक परिणति उसके आध्यात्मिक नैतिक प्राणिक एवं मनोवैज्ञानिक पक्षों का पुनर्मूल्यांकन स्त्री-पुरुष के भावी वैयक्तिक-सामाजिक सम्बन्ध आदि ऐसे गम्भीर तथा व्यापक महत्त्व के प्रश्न इस युग के उत्थान के साथ उदय हुए हैं कि जिनके बारे में विस्तार से कहने और उस विस्तार का स्वरूप एवं मूल्य-निरूपण करने में अभी अनेक दशक और सम्भवतः शती निःशेष हो जायगी। इसका संक्षिप्त विवेचन मैंने आज की युगदृष्टि से जहाँ तक सम्भव हो सका है 'लोकायतन' में भी किया है किन्तु यह सब कहने से मेरा तात्पर्य यह है कि भाव-प्रवण महादेवी की काव्यात्मक वेदना का कारण हमें आत्मा-परमात्मा में न खोजकर वर्तमान अविकसित संकीर्ण मरणोन्मुखी सामाजिक यथार्थ के निर्मम-दंश में तथा भावी आदर्श के स्वप्न में खोजना चाहिए। उनकी कवि-दृष्टि अत्यन्त संवेदनशील तथा काव्य-साधना अत्यन्त प्रच्छन्न रही है। काव्य-भूमिका की दृष्टि से वह हमारे युग की प्रेयसी हैं जिन्होंने राधा तथा मीरा की तरह नये चैतन्य-बोध का स्पर्श पाने तथा उसमें तन्मय हो जाने के लिए भावनिष्ठ हृदय से वेदना का घूँट पीकर, प्रेम-साधना की है। यदि आप महादेवी को बौद्धभिक्षुणी या विरहिणी मन या कृष्ण युग की गोपिका या मध्ययुग के गृहपरिवार में बद्ध अवगुण्ठिता देह-बोध सीमित नारी नहीं बनाना चाहते जिसे तुलसी-'मानस' में अनुसूया उपदेश देती है, और जिस मध्ययुगीन गृहस्थ की सीमा में न अँट सकने

के कारण उन्होंने स्वतः उससे बाहर निकलकर, उस प्रेम या राग भावना की पीड़ा-सीमस बन्धन-वर्जित आराधिका बनना स्वीकार किया जो गत युगों के इन सभी नारी-वर्गों या राग-मूल्यों का अतिक्रमण करके नर-नारी के जीवन के लिए नया सामाजिक परिवेश प्रस्तुत करना चाहती है और यदि हम उनकी काव्य चेतना को या उन्हें एक स्वस्थ नव जीवन-उन्मेष से भरी युग प्रबुद्ध आने वाली नारी के रूप में देखना चाहते हैं तो आपको यह मानना ही पड़ेगा कि उनकी इस निगूढ़ निःसीम भाव-वेदना का कारण निश्चय ही इस विश्व-व्यापी राग-संवेदन का नवीन आह्वान तथा उद्बोधन है—उसने सामाजिक शृंखला की कड़ियों के दुःसह बोझ के कारण भले ही वैसी ही प्रच्छन्न अभिव्यक्ति उनके काव्य में पाई हो। जिस प्रकार उनके समस्त या अधिकांश काव्य का आलोचकों ने मध्ययुगीन रहस्यवादी निवृत्तिमूलक दृष्टि से मूल्यांकन किया है उसे मैं इस बीती जागती मानवी के लिए, जिसके हृदय का प्राणवान स्पन्दन अतीत के सब अविकसित बन्धनों को छिन्न भिन्न करने की क्षमता रखता है निश्चय ही महान् अन्याय समझता हूँ। उन्हें हमें मध्ययुग की पीठिका से हटाकर इसी युग के बाहरी-भीतरी बौद्धिक हार्दिक सामाजिक तथा सांस्कृतिक सशक्त मर्मस्पर्शी लोकव्यापी प्रभावों की अविच्छिन्न समन्वित भूमिका पर खड़ा कर देखना चाहिए।

यह ठीक है कि उन्होंने यत्र-तत्र मध्ययुगीन रहस्यवादी अभिव्यक्ति के प्रभावों को ग्रहण करके उन्हें छायावादी युग के अनुरूप नये प्रतीकों एवं बिम्बों में ढालकर अरूप मूल्य के प्रति अपनी खोज उसके अभाव की पीड़ा और आगे चलकर उसके भीतर से एक नई आस्था आशा तथा अपने ध्येय की विजय को वाणी दी है, पर इससे उन्हें कबीर या मीरा की पंक्ति में उतने पीछे नहीं बिठाया जा सकता। जागरण की बेला में ऐसे प्रभाव सभी छायावादियों में कम-अधिक मात्रा में पड़े हैं जो महादेवी में अधिक दिखाई देते हैं पर इसे हम इस तरह समझ सकते हैं कि उन्होंने अत्यन्त शुद्ध और सूक्ष्म भी समझे जाने वाले राग-संवेदन या प्रेम-संवेदन को अपनी काव्य-वस्तु के लिए चुना—और नारी होकर वह न चुनतीं तो और कौन चुनता? फिर उनकी इसी नारी की स्थिति ने उस अभिव्यक्ति को और भी रहस्यमयी बना दिया। उन्होंने अज्ञात प्रियतम की बात कही है उसके लिए उनके प्राणों में व्यथा भी जगती है उसका स्वप्न-दर्शन या स्पर्श भी उन्हें कभी मिला है और बीच में वह रूठ सो भी गया है पर यह अज्ञात प्रियतम तो वह प्रेम-मूल्य या राग मूल्य है जिसे उन्होंने निवृत्ति के आनन्द में मण्डित न करके प्रवृत्ति की पीड़ा के माध्यम से स्वीकार किया है जो उनके युग का आग्रह था। और आप यदि इस व्यापक यथार्थ की दृष्टि से कबीर मीरा आदि सन्तों तथा मध्ययुगीन भक्तों के काव्य-तत्त्वों प्रतीकों बिम्बों का विश्लेषण करें तो उन्हें और उनके युग में पड़े कवियों को भी आप इसी राग-मूल्य की साधना में निरत पायेंगे जिसकी अनिवार्य उपयोगिता व्यापक लोक जीवन तथा विश्व मानव के लिए है, जिसके आनन्द सौन्दर्य रस-स्पर्श के बिना इस महान् वैज्ञानिक युग का भौतिक सामाजिक ढाँचा भी अपनी ही बुद्धि-विश्लेषण की चकाचौंध में अन्तर्गति भाव प्रेरणा मर्मस्पर्शी अन्तर आह्लाद तथा अन्तःसन्तुलन के अभाव में कभी भी अपने ही भार-ग्रास के कारण किसी अणु-युद्ध में नष्ट हो सकता है। विश्व जीवन में प्रसारित

उसको गति देने वाली उसमें संयोजन करनेवाली अन्तरात्मा का ही नाम रस-चैतन्य या रागतत्त्व है। यह दूसरी बात है कि मध्ययुगीन निष्क्रिय सामन्ती जीवन-परिस्थितियों के कारण जब तक विज्ञान ने जड़ की ग्रन्थि नहीं खोली थी रस-ईश्वर को जो अपने में पूर्ण, किन्तु अपनी सृष्टि में विकास के पथ में है जो सृष्टि में रमकर स्वयं सृष्टि में प्रसरित है जो कृष्ण-चैतन्य से भी विकसित तत्त्व है, उसे विश्व-जीवन में संयोजित एवं मूर्त करना तब सम्भव नहीं था। ईश्वर या परमात्मा या परात्पर आदि ब्रह्म के रूपों को विश्व-जीवन से विच्छिन्न मानकर केवल आत्मा के धरातल पर उन्हें परम सत्य के रूप में मानना तथा निवृत्ति-पथ की साधना से उस चरम बोध-बिन्दु के स्पर्श या साक्षात्कार को जीवित रखने की व्यक्तिवादी पद्धति मुख्यतः बुद्ध के निर्वाण-दर्शन की भारतीय दर्शनों में परिणति के स्वरूप में तब प्रचलित हो गई थी किन्तु सार्वकालिक सार्वभौम सत्य इन साधकों और सन्तों का भी उस उच्चतम सत्य को विश्व-जीवन की संगति में परिणत करने का ही रहा है चाहे वे स्पष्ट ही तब न जानते हों। बाह्य जीवन-गति में ईश्वर को प्रतिष्ठित न करने की असमर्थता के कारण उस चरम सत्य-बोध को पीढ़ी-दर-पीढ़ी जीवित रखने के लिए ही वे प्रकाश-वाहकों की तरह केवल उच्चतम परोक्ष-बिन्दु के रूप में उसका प्रचार करते रहे। मैं युग-युगों के संस्कारों की धूल से भरी इस नैतिक-पतन से ओढ़ी गई सामन्ती-मूल्यों की चदरिया को ज्यों-की-त्यों नहीं छोड़ देना चाहता इसे व्यापक प्रकाश में धोकर नये युग के अनुरूप राग-भावना में रंजित करना चाहता हूँ। वैसे भी स्वकीया-परकीया से परे सामाजिक ठोस सौन्दर्य की भूमि पर प्रतिष्ठित स्त्री-पुरुष की प्रीति-मुक्ति की रस-प्रतिमा को अवश्य नया सामाजिक संस्कार तथा मूल्य देना है। यह एक दीर्घ प्रक्रिया भले ही हो और इसकी कई स्थितियाँ भी हों पर गत सामाजिक विधान में घनीभूत राग-चेतना को नवीन रूप से जीवन-सक्रिय होना है और नये विश्व को नवीन सौन्दर्य-बोध तथा शक्ति से प्रेरित करना है इसमें मुझे सन्देह नहीं। महादेवी के काव्य का उद्देश्य निवृत्तिमूलक आत्मा-परमात्मा के मिलन को मानना उनके प्रेरणा-स्रोतों को बिलकुल ही न समझने के बराबर है। उनकी-सी पीड़ा मीरा-कबीर किसी में इतनी मात्रा में इसलिए भी नहीं है कि चाहे ज्ञान-पथ से हो चाहे भक्ति-पथ से वे केवल व्यक्ति-मुक्ति चाहते रहे हैं और महादेवी का युग लोक-मुक्ति का, दारिद्र्य दैन्य दुःख अशिक्षा अन्धकार तथा सर्वत्रित स्त्री-पुरुषों की परस्पर सहानुभूति से पीड़ित असंख्यों की संख्या में विदीर्ण लोक-जीवन की मुक्ति एवं पुनर्निर्माण का युग है इसलिए उनकी प्रेरणा का स्रोत मध्ययुगीन जीवन-दृष्टि में होना सम्भव नहीं हो सकता। इसका अर्थ है वह मध्ययुगों की केवल अनुगूँज या प्रतिध्वनि भर रही। मध्ययुग या इस युग के जीवन-दर्शन को सम्यक् दृष्टि से समझने के लिए सामाजिक परिस्थितियों एवं परिवेश का ज्ञान अनिवार्य है उसके बिना दर्शन का सत्य जीवन-शून्य रिक्त प्रकाश भर है।

महादेवी ने अपनी भूमिकाओं तथा विवेचनात्मक गद्य में छायावाद रहस्यवाद तथा अपनी अनुभूति के बारे में जो कुछ लिखा है उसे ध्यान में रखते हुए भी मैं उनके भाव-तत्त्व एवं काव्य-वस्तु के प्रति अपना एक पृथक् दृष्टिकोण रखता हूँ तथा उसे यथार्थ पर आधारित मानता हूँ। यह सम्भव है कि रागात्मक मूल्य की सृष्टि उन्होंने अभी पूर्ण

वेदना के रूप में उसके बौद्धिक मूल्य के प्रति अपरिचित रहकर केवल अपनी अन्तःप्रेरणा से भी हो। इसीलिए उनके प्रतीक-विधानों में थोड़ी-बहुत समाज-सम्बन्धी कृत्रिमता होते हुए भी उनकी रहस्यमयी वेदना की अभिव्यक्ति में गहरी स्वाभाविकता मिलती है। उच्च कोटि की सृजन-प्रक्रिया के लिए मूल्य का बोध अनिवार्य आवश्यकता नहीं भी हो सकती युग चेतना के वातावरण में ऐसे अनेक सूक्ष्म-स्थूल तत्त्व व्याप्त रहते हैं जो स्रष्टा या कलाकार को अज्ञात रूप से लक्ष्य की ओर प्रेरित करते रहते हैं। और यह कवि की सूक्ष्म भाव प्रवणता तथा सहज संवेदना-शक्ति पर निर्भर करता है कि वह युग की अन्तश्चेतना के संकेत को कितनी गहराई तथा व्यापकता में ग्रहण करने की क्षमता रखता है और उसका कला-बोध उसे कितने सशक्त सम्प्रेषणीय उपकरणों के माध्यम से मूल्य की अन्तरात्मा को अभिव्यक्ति के सौन्दर्य से वेष्टित करने में सफल होता है। बहुत सम्भव है अपनी बहिर्जीवन की व्यस्तता एवं व्यग्रता के कारण वह सूक्ष्म प्रकाश-बिम्ब अथवा ज्योति-बिन्दु अब बाह्य जीवन प्रभावों के धूम से आच्छादित होकर सृजन-सक्रिय भी न रह गया हो अथवा उसकी छाप अन्तरपट से मिट भी गई हो पर ऐसा प्रतीत नहीं होता। सम्यक् अन्तःपरिस्थिति तथा एकाग्र एकान्त मिलने पर वह पुनः अधिक प्रभावोत्पादक रूप से जाग्रत एवं रचनाशील हो सकता है। यह जो भी हो छायावाद को और विशेषतः महादेवी की रहस्यमयी अभिव्यक्ति को मध्ययुगीन निवृत्तिमुखी वैयक्तिक साधना की रहस्यवादी भूमि पर रखकर देखना समीक्षकों की अपने युग के प्रति अप्रबुद्धता तथा मध्ययुगीन मान्यताओं से आच्छादित मस्तिष्क एवं बुद्धि का ही द्योतक है। मध्ययुगों में (जिसमें युगों से) अर्जित भारतीय चैतन्य का जीवन्त स्रोत सूख गया था और उसके स्थान पर केवल विधि-विधानों के तटों के बीच चेतना-धारा के प्रतिरूप शुष्क चिह्न ही शेष रह गए थे। मनुष्य केवल अहं-केन्द्रित देह-मूल्य का प्रतीक व्यक्ति-मात्र रह गया था और व्यक्तिगत पाप-पुण्य की भावना से पीड़ित एवं महत् सामाजिक विकास की भूमि से विच्छिन्न होकर, आत्ममुक्ति परलोक तथा स्वर्गकामी बनकर विश्व जीवन से असम्बद्ध परोक्ष सत्य की ओर उन्मुख हो गया था। निश्चय ही अपनी समस्त करुणा वेदना संवेदना आत्म-विसर्जन अथवा मर मिटने की भावना को लेकर भी महादेवी की काव्य-दृष्टि इसी महान् विश्वचेतना से स्पन्दित लोक-मंगलोन्मुखी तथा मानवोन्मुखी है। उसमें एक प्रच्छन्न आशा का उन्मेष तथा नये जीवन प्रभात की अरुणिमा का भी सौन्दर्य है। वह विगत सामाजिक राग-मूल्यों के बन्धनों जड़-रूढ़ियों की शृंखलाओं से मुक्ति भी चाहती है जो उनके काव्य से अधिक जिसमें वह नारी-मर्यादा के प्रति अधिक सचेत है—उनके गद्य से सबल साहसी वाणी पाती है। उन्होंने अपने काव्य में जिस गहन-गूढ़ रागात्मक द्वन्द्व की मर्मभरी वेदना को अभिव्यक्ति दी है उसके बिना नव मूल्य का एक आयाम ही अधूरा रहता। उनके काव्य से प्रसाद की-सी मांसलता निराला की-सी शक्ति का परिचय न मिलता हो। पर उनमें जो एक अन्तःसचेतन पीड़ा (कास्मिक पेन) की अनुभूति है वह राग चेतना तथा प्रेम भावना के प्रति पर्यन्त-भूत अकल्पित तथा सिन्धु-अतल गोपनीय सत्य की मर्मस्पर्शी मार्मिक वाणी देने में सक्षम हुई है। महादेवी भारत में पैदा हुईं और उन्होंने प्रेम को अन्तर्मुखी अभिव्यक्ति दी यह परिणाम में दोनों का सम्मिलन इस युग में विशेष आकस्मिक

प्रतीत मिलती, जिससे राग-तत्त्व के गम्भीरतम अन्तर्मूल्य पर—मैं आध्यात्मिक शब्द जान-बूझकर नहीं कह रहा हूँ कि उससे फिर रहस्यवादी भ्रम न फैले—प्रकाश नहीं पड़ता। पश्चिम की बहिर्मुखी प्राणों की भूमि पर प्रतिष्ठित राग-मूल्य का अन्तःसंस्कार होना है, नहीं तो वह फ्रायडियन उपचेतन अवचेतन अन्धकार के गर्तों में गिर सकता है। रागात्मक सत्य के नये मूल्य तथा नई सामाजिक मान्यता के अभाव के कारण आज हमें बीटनिक्स, हंग्री जनरेशन्स तथा अन्यथा कवितावादी आदि का अधोमुखी-विद्रोह देखने को मिल रहा है। उनमें युग-तथ्य का भले ही एक अंश वर्तमान हो पर इसमें सन्देह नहीं कि उनकी आस्था दिग्भ्रान्त है। रागमूल्य को देह की संकीर्णता से ऊपर उठाकर व्यापक सामाजिक भूमि पर प्रतिष्ठित करना है जिससे उसका बहिःसंस्कार हो सके। सभी छायावादी कवियों ने अपने-अपने ढंग से राग-मूल्य के उन्नीत सौन्दर्य को अपनी काव्य-वस्तु में अभिव्यक्ति दी है। उन्होंने नारी को उसका प्रतीक बनाकर उसे मध्ययुगीन देह-बोध तथा राग-द्वेष की संकीर्ण सामान्य नैतिक कारा से मुक्त कर, नवीन राग-चेतना की सौन्दर्य-प्रतिमा के रूप में अपने मुक्त उन्नत भाव-स्वप्नों से उसकी नवीन मूर्ति निर्मित कर, व्यक्ति-मोह के धरातल से उठाकर विस्तृत सामाजिक धरातल पर लोक-जीवन मंगल कर्म में संलग्न मानवी के रूप में प्रतिष्ठित किया है। छायावाद की यह अमूल्य देन लोकमानस के लिए है—वह केवल रोमैण्टिक स्वच्छन्दतावादी भ्रम-मुक्ति का ही सन्देश वाहक नहीं रहा, उसने उस मुक्ति को एक उच्च सामाजिक धरातल भी प्रदान किया है। जैसा सम्भवतः मैं पहले भी कह चुका हूँ महादेवी के काव्य में छायावादी अभिव्यंजना तथा भाववस्तु ने अपनी पूर्णता प्राप्त की, उसमें छायावादी स्वप्न-सृष्टि का सौन्दर्य तथा छायावादी मूक भावोच्छ्वसित हृदय की धड़कन अधिक सूक्ष्म होकर अधिक स्पष्ट सुनाई पड़ती है यद्यपि उसमें ह्रास के चिह्न भी उतने ही स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। उनके काव्य के और भी अनेक पक्ष हैं पर उनकी मुख्य धुन की ओर मैं ऊपर संक्षेप में संकेत कर चुका हूँ। अन्य छायावादियों की तरह उनके प्रतीक बिम्ब-विधान सांकेतिक संकेत तथा प्रकृति चित्रण के अनेक आयाम रहे हैं जिससे कभी तादात्म्य प्राप्त करके कभी उसे उपकरण बनाकर उन्होंने अपनी अभिव्यंजना को सौन्दर्य-दीप्त तथा मर्मस्पर्शी बनाया है। उनके काव्य में विरह-नारी के अतृप्त-प्रेम अविकसित राग-भावना की विशुद्ध हृदयानुभूति है। उनकी दृष्टि अन्तर्मुखी तथा वैयक्तिक ही है जो उनकी भाववस्तु के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है। सामूहिक जीवन का महत्तम एवं उच्चतम संवेदनों का वैभव विकसित उन्नीत व्यक्ति-दृष्टि ही प्रदान कर सकती है। महादेवी की काव्य-सृष्टि का भी विकास हुआ है। दीपशिखा में उनकी 'यामा' की वेदना चिन्तन-गम्भीर तथा भावदीप्त हो गई है।

वेदना के रूप में उसके बौद्धिक मूल्य के प्रति अपरिचित रहकर केवल अपनी अन्तःप्रेरणा से की हो, इसीलिए उनके प्रतीक-विधानों में थोड़ी-बहुत समाज-सम्बन्धी कृत्रिमता होते हुए भी उनकी रहस्यमयी वेदना की अभिव्यक्ति में गहरी स्वाभाविकता मिलती है। उच्च कोटि की सृजन प्रक्रिया के लिए मूल्य का बोध अनिवार्य आवश्यकता नहीं भी हो सकती युग-चेतना के वातावरण में ऐसे अनेक सूक्ष्म-स्थूल तत्त्व व्याप्त रहते हैं जो स्रष्टा या कलाकार को अज्ञात रूप से सत्य की ओर प्रेरित करते रहते हैं। और यह कवि की सूक्ष्म भाव प्रवणता तथा गहन संवेदना-शक्ति पर निर्भर करता है कि वह युग की अन्तश्चेतना में स्थित का कितनी गहराई तथा व्यापकता से ग्रहण करने की क्षमता रखता है और उसका कला-बोध उस चिन्तन समस्त सम्प्रेषणीय उपकरणों के माध्यम से मूल्य की अन्तरात्मा का अभिव्यक्ति के सौन्दर्य से वेष्टित करने में सफल होता है। बहुत सम्भव है अपनी बाह्य जीवन की व्यस्तता एवं व्यग्रता के कारण वह सूक्ष्म प्रकाश बिन्दु अथवा ज्योति-बिन्दु अब बाह्य जीवन प्रभावों के धूम से आच्छादित होकर सूक्ष्म-अभिन्न भी न रह गया हो अथवा उसकी छाप अन्तस्तल से मिट भी गई हो पर ऐसा प्रतीत नहीं होता। सम्भव अनुकूल परिस्थिति तथा एकाग्र एकान्त चिन्तन पर वह पुनः अधिक प्रभावोत्पादक रूप से प्रकाशन रूप रचनाशील हो सकता है। यह जो भी हो छायावाद को और विशेषतः महादेवी की रहस्यमयी अभिव्यक्ति को मध्ययुगीन निवृत्तिमूलक वैयक्तिक साधना की रहस्यवादी भूमि पर रखकर देखना आलोचकों की अपने युग के प्रति असंपृक्तता तथा मध्ययुगीन मान्यताओं से आच्छादित मस्तिष्क एवं बुद्धि का ही द्योतक है। मध्ययुगों में विगत युगों से अर्जित भारतीय संस्कृति का जीवन्त स्रोत सूख गया था और उसके स्थान पर केवल विधि-विधानों के तटों के बीच चेतना-धारा के अवशिष्ट सूखे चिह्न ही शेष रह गए थे। मनुष्य केवल अर्थ-रहित रूढ़-मूल्य का प्रतीक व्यक्ति-मात्र रह गया था और व्यक्तिगत पाप-पुण्य की भावना से पीड़ित एवं महत् सामाजिक विकास की भूमि से विच्छिन्न होकर आत्ममुक्ति का मार्ग तथा स्वर्गगामी बनकर इस जीवन से असम्बद्ध परोक्ष लक्ष्य की ओर उन्मुख हो गया था। निश्चय ही अपनी समस्त करुणा वेदना संवेदना आत्म विसर्जन अथवा मर मिटने की भावना को लेकर भी महादेवी की काव्य-सृष्टि इसी कारण निवृत्तिमूलकता से ऊर्ध्वमुखी लोक-मंगलोन्मुखी तथा समाजोन्मुखी है। उसमें एक प्रच्छन्न आशा का सन्देश तथा नये जीवन प्रभात की प्रतीक्षा का भी सौरभ है। वह विगत सामाजिक राग-भावना के बन्धनों अथवा रूढ़ियों की शृंखलाओं से मुक्ति भी चाहती है जो उनके काव्य में अधिक विशेष कर शांति-प्रतीक्षा के प्रति अधिक व्यापक है—उनके काव्य में इसका गान्धी जी की छाती है। उन्होंने भारत वर्ष में जिस मानव-रूप साधारण पुरुष की मर्मभरी वेदना की अभिव्यक्ति की है उसके बिना वह मूल्य का एक आयाम हो अधूरा रहता। उनके काव्य में प्रसार व्यापी भावना निराशा की-सी दार्शनिक प्रक्रिया न मिलता हो पर उसमें भी एक करुणा भरी पीड़ा (कारुणिक पेन) की अनुभूति है जो राग चेतना तथा प्रेम भावना के प्रति सर्वत-पूर्व अर्पित तथा विभु बनकर भारतीय रूप को अन्तःसाक्षी मानिक बनाए देने में सफल हुई है। महादेवी भारत में पैदा हुई और उन्होंने प्रेम को अपनी अभिव्यक्ति दी वह परिणाम में हारी ना कमजोर इस रूप में विशेष दार्शनिक रूप में प्रेम

प्रणीत मिलती जिससे राग-तत्त्व के गम्भीरतम अन्तर्मूल्य पर—मैं आध्यात्मिक शब्द जान-बूझकर नहीं कह रहा हूँ कि उससे फिर रहस्यवादी भ्रम न फैले—प्रकाश नहीं पड़ता। पश्चिम की बहिर्मुखी प्राणों की भूमि पर प्रतिष्ठित राग-मूल्य का अन्तःसंस्कार होना है, नहीं तो वह फ्रायडियन उपचेतन अवचेतन के अन्धकार के गर्तों में गिर सकता है। रागात्मक सत्य के नये मूल्य तथा नई सामाजिक मान्यता के अभाव के कारण आज हमें बीटनिक्स, हंग्री जनरेशन्स तथा अन्यथा कवितावादी आदि का अधोमुखी-विद्रोह देखने को मिल रहा है। उनमें युग-सत्य का भले ही एक अंश वर्तमान हो पर इसमें सन्देह नहीं कि उनकी आस्था दिग्भ्रान्त है। रागमूल्य को देह की संकीर्णता से ऊपर उठाकर व्यापक सामाजिक भूमि पर प्रतिष्ठित करना है जिससे उसका बहिःसंस्कार हो सके। सभी छायावादी कवियों ने अपने-अपने ढंग से राग-मूल्य के उन्नीत सौन्दर्य को अपनी काव्य-वस्तु में अभिव्यक्ति दी है। उन्होंने नारी को उसका प्रतीक बनाकर उसे मध्ययुगीन देह-भाव तथा राग-द्वेष की संकीर्ण कामान्ध नैतिक कारा से मुक्त कर, नवीन राग-चेतना की सौन्दर्य-प्रतिमा के रूप में अपने मुक्त उन्नत भाव-स्वप्नों से उसकी नवीन मूर्ति निर्मित कर व्यक्ति-मोह के धरातल से उठाकर, विस्तृत सामाजिक धरातल पर लोक-जीवन मंगल कर्म में संलग्न मानवी के रूप में प्रतिष्ठित किया है। छायावाद की यह अमूल्य देन लोकमानस के लिए है—वह केवल रोमेण्टिक स्वच्छन्दतावादी प्रेम-मुक्ति का ही सन्देश वाहक नहीं रहा उसने उस मुक्ति को एक उच्च सामाजिक धरातल भी प्रदान किया है। जैसा सम्भवतः मैं पहले भी कह चुका हूँ महादेवी के काव्य में छायावादी अभिव्यंजना तथा भाववस्तु ने अपनी पूर्णता प्राप्त की उसमें छायावादी स्वप्न-सृष्टि का सौन्दर्य तथा छायावादी गूढ़ भावोच्छ्वसित हृदय की धड़कन अधिक सूक्ष्म होकर अधिक स्पष्ट सुनाई पड़ती है यद्यपि उसमें ह्रास के चिह्न भी उतने ही स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। उनके काव्य के और भी अनेक पक्ष हैं पर उनकी मुख्य देन की ओर मैं ऊपर संक्षेप में संकेत कर चुका हूँ। अन्य छायावादियों की तरह उनके प्रतीक बिम्ब-विधान आध्यात्मिक संकेत तथा प्रकृति चित्रण के अनेक आयाम रहे हैं जिसमें कभी तादात्म्य प्राप्त करके कभी उसे उपकरण बनाकर उन्होंने अपनी अभिव्यंजना को सौन्दर्य-दीप्त तथा मर्मस्पर्शी बनाया है। उनके काव्य में चिर-नारी के अतृप्त प्रेम अविकसित राग-भावना की विशुद्ध हृदयानुभूति है। उनकी दृष्टि अन्तर्मुखी तथा वैयक्तिक ही है जो उनकी भाववस्तु के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है। सामूहिक जीवन का गहनतम एवं उच्चतम संवेदनों का वैभव विकसित उन्नीत व्यक्ति-दृष्टि ही प्रदान कर सकती है। महादेवी की काव्य-दृष्टि का भी विकास हुआ है। 'दीपशिखा' में उनकी 'यामा' की वेदना चिन्तन-गम्भीर तथा आत्मतोष्य हो गई है।

काव्य-कला

महादेवी

सत्य पर जीवन का सुन्दर ताना-बाना बुनने के लिए कला-सृष्टि ने स्थूल-सूक्ष्म सभी विषयों का अपना उपकरण बनाया। यह पाषाण की कठोर स्थूलता में रेखाओं की निश्चित सीमा उसमें व्यक्ति की क्षणिक स्थिति और [illegible]। सूक्ष्म भावना तक पहुँची अथवा चित्रों और रंग में यह प्राण [illegible] बहुत सहज नहीं। परन्तु शब्द के विस्तार में कला-सृजन को आकाश की मूर्तिमत्ता, रंग रेखा की सजीवता, स्वर का माधुर्य सब कुछ एक साथ देने की सुविधा प्राप्त हो गई। काव्य में कला का उत्कर्ष एक ऐसे बिन्दु तक पहुँच गया जहाँ से वह ज्ञान को भी सहायता देने लगा, क्योंकि सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य उसका साधन है। एक अपनी एकता में असीम रहता है, दूसरा अपनी अनेकता में अनन्त। इसी से साधन के परिचय स्निग्ध खण्ड रूप से साध्य की विस्मयभरी अखण्ड स्थिति तक पहुँचने का क्रम आनन्द की लहर-पर-लहर उठाता हुआ चलता है।

इस व्यापक सत्य के साथ हमारी सीमा का सम्बन्ध कुछ जटिल-सा है। हमारी दृष्टि के सामने क्षितिज तक जो अनन्त विस्तार फैला है वह मिट नहीं सकता पर हम अपनी आँख के सामने [illegible] रख कर [illegible] उसे दृष्टिपथ के बाहर कर सकते हैं। फिर जब-जब हम उसे अपनी आँख से कुछ अन्तर पर एक विशेष स्थिति में उस विस्तार के साथ रखते हैं तब-तब हमारे लिए वह क्षितिज [illegible] विस्तार का [illegible] है। [illegible] जितना ही हमारी दृष्टि की सीमा [illegible] [illegible]। परन्तु [illegible] विशेष [illegible] [illegible] हमारी दृष्टि उस विस्तार का [illegible] है। [illegible] के उस असीम विस्तार का [illegible] और विस्तार की [illegible] अभाव में उस [illegible] की अनन्तता की अनुभूति [illegible] नहीं। [illegible] स्थिति भी कुछ ऐसी ही रहती है। उसका जितना [illegible] [illegible] उस [illegible] स्थिति में [illegible] [illegible] [illegible] जाता है [illegible] [illegible] सीमा [illegible] [illegible] निश्चित स्थिति [illegible]।

[illegible]

इस स्थिति को प्रेषणीय बना सकना दुष्कर नहीं तो कठिन अवश्य है। आकार की रेखाओं की संख्या, लम्बाई-चौड़ाई, हल्कापन, भारीपन आदि गणित के अंकों में बाँधे जा सकते हैं। परन्तु रेखा में परिव्याप्त एक व्यापक सजीवता का परिचय संख्या, भाषा या तोल से नहीं दिया जा सकता। आकार का ठीक नाप-तोल के साथ दूसरे तक पहुँचा देना जितना सहज है, जीवन को सम्पूर्ण अनुभवनीयता के साथ दूसरे को दे सकना उतना ही कठिन।

सत्य की व्यापकता में से हम चाहे जिस अंश को ग्रहण करें, वह हमारी सीमा में बँधकर खण्डित हो ही जाता है और इस स्थिति में हमारी सीमा के साथ सापेक्ष पर अपनी व्यापकता में निरपेक्ष बना रहता है। दूसरे के निकट हमारी सीमा में घिरा सत्य हमारा रहकर ही अपना परिचय देना चाहता है और दूसरा हमें जानकर ही उस सत्य का मूल्य आँकने की इच्छा रखता है। इतना ही नहीं, उसकी तुला पर रुचि-वैचित्र्य, संस्कार, स्वार्थ आदि के न जाने कितने पासंगों की उपस्थिति भी सम्भव है। अतः सत्य के सापेक्ष ही नहीं, निरपेक्ष मूल्य के सम्बन्ध में भी अनेक मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं।

इसके अतिरिक्त मनुष्य की चिर अतृप्त जिज्ञासा भी कुछ कम नहीं रोकती-टोकती। 'हमने अमुक वस्तु को अमुक स्थिति में पाया' इतना कथन ही पर्याप्त नहीं, क्योंकि सुनने वाला क्यों-कहाँ कहकर उसे अपने प्रत्यक्ष ज्ञान की परिधि में बाँध लेने को व्याकुल हो उठेगा। अब यदि वह हमारी ही स्थिति में, हमारे ही दृष्टिकोण से उसे न देख सके तो वह वस्तु कुछ भिन्न भी लग सकती है और तब विवाद की कभी न टूटने वाली शृंखला में नित्य नई कड़ियाँ जुड़ने लगेंगी। बाह्य जीवन में तो यह समस्या किसी अंश तक सरल की भी जा सकती है, परन्तु अन्तर्जगत् में इसे सुलझा लेना सदा ही कठिन रहा है।

इस सत्य-सम्बन्धी उलझन को सुलझाने के लिए जीवन न ठहर सकता है और न इसे छोड़कर आगे बढ़ सकता है, अतः वह सुलझाता हुआ चलता है। बाह्य जीवन में राजनीति, समाज-शासन, धर्म आदि इतिवृत्त के समान सत्य का परिचय भर देते चलते हैं। मनुष्य की हठीली जिज्ञासा किसी ग्रन्थि को पकड़कर रुक न जाय, इस भय से उन्होंने प्रत्येक ग्रन्थि पर अनुग्रह और दण्ड की ऐसी चिकनाहट लगा दी है, जिससे हाथ फिसल-फिसल जावें। कहीं महाकाव्य के समान बहुत विस्तार में उलझे हुए और कहीं सूत्र के समान संक्षिप्त रूप में सुलझे हुए सिद्धान्त कभी सत्य के मंगलमय-जैसे जान पड़ते हैं और कभी अत्याचार-जैसे। कभी सत्य की विभिन्न भंगिमाओं का स्मरण करा देते हैं और कभी अधूरे रेखाचित्र का, पर व्यापक अखण्डित सत्य का अभाव नहीं दूर कर पाते। मनुष्य के बाह्य जीवन की विषमता मिटाने के लिए वे सहस्र रूप बदलने पर बाध्य हैं और उसके अन्तर्जगत् के वैषम्य के लिए पुनरावृत्त होने पर विवश।

हमारी बुद्धि-वृत्ति बाहर के स्थूलतम बिन्दु से लेकर भीतर के सूक्ष्मतम बिन्दु तक जीवन को एक सूत्र में बाँध सकती है, परन्तु दूसरा सूत्र बनाने के लिए हमारी रागात्मिका वृत्ति ही अपेक्षित रहेगी। हमारे मस्तिष्क और हृदय की स्थिति पृथ्वी के दो गोलार्द्धों के समान है, जो मिलकर भूगोल को पूर्णता देते हैं और अलग आधा संसार ही पा सकते हैं। एक भाग का सूत्र दूसरे का पूरक बना रहने के लिए ही उसे अन्तर

काव्य कला

महादेवी

सत्य पर जीवन का सुन्दर ताना-बाना बुनने के लिए कला-सृष्टि ने स्थूल-सूक्ष्म सभी विषयों को अपना उपकरण बनाया। वह पाषाण की कठोर स्थूलता से रंग-रेखाओं की निश्चित सीमा, उनसे ध्वनि की क्षणिक स्थिति और तब शब्द की सूक्ष्म व्यापकता तक पहुँची अथवा किसी और क्रम से, यह जान लेना बहुत सहज नहीं। परन्तु शब्द के विस्तार में कला-सृजन को पाषाण की मूर्तिमत्ता, रंग-रेखा की सजीवता, स्वर का माधुर्य सब-कुछ एकत्र कर लेने की सुविधा प्राप्त हो गई। काव्य में कला का उत्कर्ष एक ऐसे बिन्दु तक पहुँच गया, जहाँ से वह ज्ञान को भी सहायता दे सका, क्योंकि सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य उसका साधन है। एक अपनी एकता में असीम रहता है, दूसरा अपनी अनेकता में अनन्त, इसी से साधन के परिचय-स्निग्ध खण्ड रूप से साध्य की विस्मयभरी अखण्ड स्थिति तक पहुँचने का क्रम आनन्द की लहर-पर-लहर उठाता हुआ चलता है।

इस व्यापक सत्य के साथ हमारी सीमा का सम्बन्ध कुछ जटिल-सा है। हमारी दृष्टि के सामने क्षितिज तक जो अनन्त विस्तार फैला है वह मिट नहीं सकता, पर हम अपनी आँख के सामने एक छोटा-सा तिनका भी खड़ा करके उसे व्यवधान के समान ही अपने लिए लुप्त कर सकते हैं। फिर जब तक हम उसे अपनी आँख से कुछ अन्तर पर एक विशेष स्थिति में उस विस्तार के साथ रखकर न देखें तब तक हमारे लिए वह क्षितिज व्यापी विस्तार नहीं के बराबर है। केवल तिनका ही हमारी दृष्टि की सीमा को सब ओर से घेरकर विराट् बन जायगा। परन्तु उस तृण-विशेष पर ही नहीं, लता, वृक्ष, खेत, वन आदि सभी खण्डरूपों पर ठहरती हुई हमारी दृष्टि उस विस्तार का ज्ञान करा सकती है। बिना रूपों की सीमा के उस असीम विस्तार का बोध होना कठिन है और विस्तार की व्यापक पीठिका के अभाव में उन रूपों की अनेकात्मकता की अनुभूति सम्भव नहीं। अखण्ड सत्य के साथ हमारी स्थिति भी कुछ ऐसी ही रहती है। उसका जितना अंश हम अपनी सीमा में घेर सकते हैं उसे ऐसी स्थिति में रखकर देखना आवश्यक हो जाता है जहाँ वह हमारी सीमा में रहकर भी सत्य की व्यापकता में अपनी निश्चित स्थिति बनाये रहे।

व्यक्ति की सीमा में तो सत्य की ऐसी दोहरी स्थिति सहज ही नहीं, स्वाभाविक भी है, अन्यथा उसे तत्त्वतः ग्रहण करना सम्भव न हो सकेगा। परन्तु जगत में अखण्ड की

इस स्थिति को प्रेषणीय बना सकना दुष्कर नहीं तो कठिन अवश्य है। आकार की रेखाओं की संख्या, लम्बाई-चौड़ाई, हल्का भारीपन आदि गणित के अंकों में बाँधे जा सकते हैं। परन्तु रेखा से परिमाण तक व्याप्त सजीवता का परिचय संख्या, मात्रा या तौल में नहीं दिया जा सकता। आकार को ठीक नाप-जोख के साथ दूसरे तक पहुँचा देना जितना सहज है, जीवन को सम्पूर्ण अतुलनीयता के साथ दूसरे का बना सकना उतना ही कठिन।

सत्य की व्यापकता में से हम चाहे जिस अंश को ग्रहण करें, वह हमारी सीमा में बँधकर खण्डित हो ही जाता है और इस स्थिति में हमारी सीमा के साथ सापेक्ष, पर अपनी व्यापकता से निरपेक्ष बना रहता है। दूसरे के निकट हमारी सीमा से घिरा सत्य हमारा रहकर ही अपना परिचय देना चाहता है और दूसरा हमें तोलकर ही उस सत्य का मूल्य आँकने की इच्छा रखता है। इतना ही नहीं, उसकी तुला पर रुचि-वैचित्र्य, संस्कार, स्वार्थ आदि के न जाने कितने पासंगों की उपस्थिति भी सम्भव है, अतः सत्य के सापेक्ष ही नहीं, निरपेक्ष मूल्य के सम्बन्ध में भी अनेक मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं।

इसके अतिरिक्त मनुष्य की चिर अतृप्त जिज्ञासा भी कुछ कम नहीं रोकती टोकती। 'तुमने अमुक वस्तु को अमुक स्थिति में पाया' इतना कथन ही पर्याप्त नहीं, क्योंकि सुनने वाला कहाँ-कहाँ कहकर उसे अपने प्रत्यक्ष ज्ञान की परिधि में बाँध लेने को व्याकुल हो उठेगा। अब यदि वह हमारी ही स्थिति में हमारे ही दृष्टिकोण से उसे न देख सके तो वह वस्तु कुछ भिन्न भी लग सकती है और तब विवाद की कभी न टूटने वाली शृंखला में नित्य नई कड़ियाँ जुड़ने लगेंगी। बाह्य जीवन में तो यह समस्या किसी अंश तक सरल की भी जा सकती है, परन्तु अन्तर्जगत् में इसे सुलझा सकना सदा ही कठिन रहा है।

इस सत्य-सम्बन्धी उलझन को सुलझाने के लिए जीवन न ठहर सकता है और न इसे छोड़कर आगे बढ़ सकता है, अतः वह सुलझाता हुआ चलता है। बाह्य जीवन में राजनीति, समाज-शासन, धर्म आदि इतिवृत्त के समान सत्य का परिचय-मात्र दे चलते हैं। मनुष्य की हठीली जिज्ञासा किसी ग्रन्थि को पकड़कर रुक न जाय, इस भय से उन्होंने प्रत्येक ग्रन्थि पर अनुग्रह और दण्ड की रंगीन चिकनाहट लगा दी है, जिससे हाथ फिसल जाय। कहीं महाभारत के समान बहुत विस्तार में उलझे हुए और कहीं सूत्रों के समान संक्षिप्त रूप में सुलझे हुए सिद्धान्त कभी सत्य के अंशमात्र जैसे जान पड़ते हैं और कभी कारागार जैसे, कहीं सत्य की विकलांग मूर्तियों का स्मरण करा देते हैं और कहीं अधूरे रेखाचित्रों का, पर व्यापक खण्डित सत्य का अभाव नहीं दूर कर पाते। मनुष्य के बाह्य जीवन को नियमित रखने के लिए वे सहस्राक्ष बनने पर बाध्य हैं और उसके अन्तर्जगत् के वैभव के लिए धृतराष्ट्र होने पर विवश।

हमारी बुद्धि-वृत्ति बाहर के स्थूलतम बिन्दु से लेकर भीतर के सूक्ष्मतम बिन्दु तक जीवन को एक अर्द्धवृत्त में घेर सकती है, परन्तु दूसरा अर्द्धवृत्त बनाने के लिए हमारी रागात्मिका वृत्ति ही अपेक्षित रही है। हमारे भावजगत और ज्ञानक्षेत्र की स्थिति पृथ्वी के दो गोलार्द्धों के समान है, जो मिलकर भूगोल को पूर्णता देते हैं और अलग आधा संसार ही घेर पाते हैं। एक भाग का भूखण्ड दूसरे का पूरक बना रहने के लिए ही उस समय

पर रखकर अपनी दृष्टि का विषय नहीं बना पाता परन्तु इससे दोनों में से किसी की भी स्थिति संदिग्ध नहीं हो जाती।

हमारी बुद्धि और रागात्मिका वृत्ति के दो अर्द्धवृत्तों से घिरे सत्य के सम्बन्ध में भी यही सत्य रहेगा। हमारे व्यावहारिक जीवन का प्रत्येक कार्य संकल्प-विकल्प, कल्पना स्वप्न, सुख-दुख आदि की विभिन्नवर्णी कड़ियों वाली शृंखला के एक सिरे में बंधा रहता है। इस शृंखला की प्रायः सभी कड़ियों की स्थिति अन्तर्जगत् में ही सम्भव है। व्यवहार जगत् केवल कार्य से सम्बन्ध रखता है, बुद्धि कार्य के स्थूल ज्ञान से लेकर उसे जन्म देने वाले सूक्ष्म विचार तक जानती है और हृदय तज्जनित सुख-दुख से लेकर स्वप्न-कल्पना तक की अनुभूतियाँ संचित करता है। इस प्रकार बाह्य जीवन की सीमा में बालू जैसा लगने वाला कार्य भी हमारे अन्तर्जगत् की असीमता में बनने-बढ़ने विराट् हो सकता है।

बहिर्जगत् से अन्तर्जगत् तक फैले और ज्ञान तथा भावक्षेत्र में समान रूप से व्याप्त सत्य की सहज अभिव्यक्ति के लिए माध्यम खोजते-खोजते ही मनुष्य ने काव्य और कलाओं का आविष्कार कर लिया होगा। कला सत्य को ज्ञान के सिकता-विस्तार में नहीं खोजती अनुभूति की सरिता के तट से एक विशेष बिन्दु पर ग्रहण करती है। तट पर एक ही स्थान पर बैठे रहकर भी हम असंख्य नई तरंगों को सामने आते और पुरानी लहरों को आगे जाते देखकर नदी से परिचित हो जाते हैं। वह किस पर्वतीय उद्गम से निकलकर कहाँ-कहाँ बहती हुई किस समुद्र की अथाह तरलता में विलीन हो जाती है, यह प्रत्यक्ष न होने पर भी हमारी अनुभूति में नदी वर्त्तमान है और रहेगी। जब हम कहते हैं कि हमने एक ओर चाँदनी की धूल-जैसी झिलमिलाती बालू और दूसरी ओर दूर हरीतिमा में लहरता बनाती हुई, अथाह नील जल से भरी नदी देखी तब सुनने वाला कोई अपरिमित नाप-जोख नहीं माँगता। हमने इतने मन प्रवाह नापा है, इतनी सौ लहरें गिनी हैं, इतने फीट गहराई नापी है, इतने सेर पानी तौला है आदि आदि नाप-तौल न बताकर भी हम नदी का ठीक परिचय दूसरे के हृदय तक पहुँचा देते हैं। सुनने वाला उस नदी को ही नहीं उसके अप्रतिम सौन्दर्य को भी प्रत्यक्ष पाकर एक ऐसे आनन्द की स्थिति में पहुँच जाता है, जहाँ गणित के अंकों में बँधी नाप-जोख के लिए स्थान नहीं।

मस्तिष्क और हृदय परस्पर पूरक रहकर भी एक ही पथ से नहीं चलते। बुद्धि में समानान्तर पर चलने वाली भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ हैं और अनुभूति में एकतारता लिए गहराई। ज्ञान के क्षेत्र में एक छोटी रेखा के नीचे उससे बड़ी रेखा खींचकर पहली का छोटा और भिन्न अस्तित्व दिखाया जा सकता है। इसके अनन्त उदाहरण विज्ञान जीवन की स्थूल सीमा में और दर्शन जीवन की सूक्ष्म असीमता में दे चुका है। पर अनुभूति के क्षेत्र में एक की स्थिति से नीचे और अधिक गहराई में उतरकर भी हम उसके साथ एक ही रेखा पर रहते हैं। एक वस्तु को एक व्यक्ति अपनी स्थिति-विशेष में अपने विशेष दृष्टि-बिन्दु से देखता है, दूसरा अपने धरातल पर अपने से और तीसरा अपनी सीमारेखा पर अपने से। तीनों ने वस्तु-विशेष को जिन विशेष दृष्टिकोणों से जिन विभिन्न परिस्थितियों में देखा है वे उनके तद्विषयक ज्ञान को भिन्न रेखाओं में बाँट देंगी। इन विभिन्न रेखाओं के नीचे ज्ञान के एक सामान्य धरातल की स्थिति है अवश्य, परन्तु वह अपनी एकता के

परिचय के लिए ही इस सापेक्षता को सँभाल रखती है।

अनुभूति के सम्बन्ध में यह कठिनाई सरल हो जाती है। एक व्यक्ति अपने दुःख को बहुत तीव्रता से अनुभव कर रहा है, उसके निकट आत्मीय की अनुभूति में तीव्रता की मात्रा कुछ कम हो जायगी और साधारण मित्र में उसका और भी न्यून हो जाना सम्भव है, पर जहाँ तक दुःख के सामान्य संवेदन का प्रश्न है, वे तीनों एक ही रेखा पर, निकट, दूर, अधिक दूर की स्थिति में रहेंगे। हाँ, जब उनमें से कोई उस दुःख को अनुभूति के क्षेत्र से निकालकर बौद्धिक धरातल पर रख देगा तब कथा ही दूसरी हो जायगी। अनुभूति अपनी सीमा में जितनी सबल है उतनी बुद्धि नहीं। हमारे स्वयं जलने की हल्की अनुभूति भी दूसरे के राख हो जाने के ज्ञान से अधिक स्थायी रहती है।

बुद्धिवृत्ति अपने विषय को ज्ञान के अनन्त विस्तार के साथ रखकर देखती है, अतः व्यष्टिगत सीमा में उसका संदिग्ध हो उठना स्वाभाविक ही रहेगा। 'अमुक ने धूम देखकर अग्नि पाई' की जितनी आवृत्तियाँ होंगी हमारा धूम और अग्नि की सापेक्षता विषयक ज्ञान उतनी ही निश्चित स्थिति पा सकेगा। पर अपने विषय पर केन्द्रित होकर उसे जीवन की अनन्त गहराई तक ले जाना अनुभूति का लक्ष्य रहता है, इसी से हमारी व्यक्तिगत अनुभूति जितनी निकट और तीव्र होगी दूसरे का अनुभूत सत्य हमारे समीप उतना ही असंदिग्ध होकर आ सकेगा। 'तुमने जिसे पानी समझा वह बालू की चमक है, तुमने जिसे काला देखा वह नीला है, तुमने जिसे कोमल पाया वह कठोर है' आदि-आदि कहकर हम दूसरे में स्वयं उसी के इन्द्रियजन्य ज्ञान के प्रति अविश्वास उत्पन्न कर सकते हैं, परन्तु 'तुम्हें जो काँटा चुभने की पीड़ा हुई वह भ्रान्ति है' यह हमसे असंख्य बार सुनकर भी कोई अपनी पीड़ा के अस्तित्व में सन्देह नहीं करेगा।

जीवन के विभिन्न बिन्दुओं को जोड़ने का कार्य हमारा मस्तिष्क कर लेता है, पर इस क्रम से बनी परिधि में सजीवता के रंग भरने की क्षमता हृदय में ही सम्भव है। काव्य या कला मानो इन दोनों का सन्धिपत्र है, जिसके अनुसार बुद्धिवृत्ति झीने वायुमण्डल के समान बिना भार डाले हुए ही जीवन पर फैली रहती है और रागात्मिका वृत्ति उसके धरातल पर, सत्य को अनन्त रंग-रूपों में फिर नवीन स्थिति देती रहती है। अतः काव्य-कला का सत्य जीवन की परिधि में सौन्दर्य के माध्यम द्वारा व्यक्त अखण्ड सत्य है।

सौन्दर्य-सम्बन्धी समस्या भी कुछ कम उलझी हुई नहीं है। बाह्य जगत् अनेक रूपात्मक है और उन रूपों का सुन्दर तथा कुरूप में एक व्यावहारिक वर्गीकरण भी हो चुका है। क्या कला इस वर्गीकरण की परिधि में आने वाले सौन्दर्य को ही सत्य का माध्यम बनाकर शेष को छोड़ दे? केवल बाह्य रेखाओं और रंगों का सामञ्जस्य ही सौन्दर्य कहा जाय तो प्रत्येक युग का मानव-समाज ही नहीं, प्रत्येक व्यक्ति भी अपनी रुचि में दूसरे से भिन्न मिलेगा। किसके रुचि-वैचित्र्य के अनुसार सामञ्जस्य की परिभाषा बनाई जाय यह प्रश्न सत्य से भी अधिक जटिल हो उठेगा।

सत्य की प्राप्ति के लिए काव्य और कलाएँ जिस सौन्दर्य का सहारा लेते हैं वह जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आश्रित है, केवल बाह्य रूपरेखा पर नहीं। प्रकृति का अनन्त वैभव, प्राणिजगत् की अनेकात्मक गतिशीलता, अन्तर्जगत् की रहस्यमयी विविधता

सब-कुछ इसके सौन्दर्य-कोष के अन्तर्गत है और इसमें गुरुतम वस्तु के लिए भी ऐसे भारी मुहूर्त भी उपस्थित होते हैं जिनमें वह पर्वत के समकक्ष खड़ी होकर ही सफल हो सकती है और लघुतम वस्तु के लिए भी ऐसे मधु क्षण आ पहुँचते हैं जिनमें वह छोटे तृण के साथ बैठकर ही इतिहास बन सकती है।

जीवन का जो स्पर्श विकास के लिए अपेक्षित है उसे पाने के उपरान्त कोमल कठोर, मधु, कटु, सुन्दर, विरूप, आकर्षक, भयानक कुछ भी कलाजगत् से बहिष्कृत नहीं किया जाता। उजले कमलों की चादर जैसी चाँदनी में मुसकराती हुई विभावरी अभिराम है पर अँधेरे के स्तर-पर-स्तर ओढ़कर विराट् बनी हुई काली रजनी भी कम सुन्दर नहीं। फूलों के बोझ से झुक झुक पड़ने वाली लता कोमल है पर शून्य नीलिमा की ओर विस्मित बालक-सा ताकने वाला ठूँठ भी कम सुकुमार नहीं। अविरल जलदान से पृथ्वी को कँपा देने वाला बादल ऊँचा है पर एक बूँद आँसू के भार से नत और कम्पित तृण भी कम उन्नत नहीं। गुलाब के रंग और नवनीत की कोमलता में कंकाल छिपाये हुए रूपसी कमनीय है पर झुर्रियों में जीवन का विज्ञान लिखे हुए वृद्ध भी कम आकर्षक नहीं। बाह्य जीवन की कठोरता, संघर्ष, जय-पराजय सब मूल्यवान हैं पर अन्तर्जगत् की कल्पना, स्वप्न, भावना आदि भी कम अनमोल नहीं।

उपयोग की कला और सौन्दर्य की कला को लेकर बहुत-से विवाद सम्भव होते रहे हैं परन्तु यह भेद मूलतः एक-दूसरे से बहुत दूरी पर नहीं ठहरते।

कला शब्द से किसी निर्मित पूर्ण खण्ड का ही बोध होता है और कोई भी निर्माण अपनी अन्तिम स्थिति में जितना सीमित है आरम्भ में उतना ही फैला हुआ मिलेगा। उसके पीछे स्थूल जगत् का अस्तित्व, जीवन की स्थिति, किसी अभाव की अनुभूति, पूर्ति का आदर्श, उपकरणों की खोज, एकत्रीकरण की कुशलता आदि-आदि का जो इन्द्रजाल रहता है उसके अभाव में निर्माण की स्थिति शून्य के अतिरिक्त कौन-सी संज्ञा पा सकेगी! चिड़िया का कलरव कला न होकर कला का विषय हो सकता है पर मनुष्य के गीत को कला कहना होगा। एक में वह सहज प्रवृत्ति मात्र है पर दूसरे ने सहज प्रवृत्ति के आधार पर अनेक स्वरों को विशेष सामञ्जस्यपूर्ण स्थिति में रखकर एक विशेष रागिनी की सृष्टि की है जो अपनी सीमा में जीवनव्यापी सुख-दुःखों की अनुभूति को अक्षय रखती है। इस प्रकार प्रत्येक कला-कृति के लिए निर्माण-सम्बन्धी विधान की भी आवश्यकता होगी और उस विधान की सीमित रेखाओं में व्यक्त होने वाले जीवन के व्यापक सत्य की अनुभूति की भी। जब हमारा ध्यान किसी एक पर ही केन्द्रित हो जाता है तब दोनों को जोड़ने वाली कड़ियाँ अस्पष्ट होने लगती हैं।

एक कृति को ललित कहकर चाहे हम जीवन से दृष्टि से ओझल शिखर पर प्रतिष्ठित कर आएँ और दूसरी को उपयोगी का नाम देकर चाहे जीवन के धूल भरे अस्तव्यस्त चरणों पर रख दें परन्तु उन दोनों ही की स्थिति जीवन से बाहर सम्भव नहीं। उनकी दूरी हमारे विकास-क्रम से बनी है कुछ उनकी तात्त्विक भिन्नता से नहीं। नीचे की पहली सीढ़ी से चढ़कर जब हम ऊपर की अन्तिम सीढ़ी पर खड़े हो जाते हैं, तब उन दोनों की दूरी हमारे आरोह-क्रम की सापेक्ष है—स्वयं एक-एक तो न वे नीची हैं, न ऊँची।

व्यावहारिक जगत् में हमने पहले खाद्य, आच्छादन, छाया आदि की समस्याओं को जिन स्थूल रूपों में सुलझाया था उन्हें यदि आज के व्यंजन, वस्त्राभूषण और भवन के ऐन्द्रजालिक विस्तार में रखकर देखें तो वे कला के स्थूल और सूक्ष्म उपयोग से भी अधिक रहस्यमय हो उठेंगे। जो बाह्य जगत् में सहज था वह अन्तर्जगत् में भी स्वाभाविक हो गया, अतः उपयोग-सम्बन्धी स्थूलता सूक्ष्म होते-होते एक रहस्यमय विस्तार में हमारी दृष्टि से ओझल हो गई—और तब हम उसका निकटवर्ती छोर पकड़कर दूसरे को अस्तित्वहीन कहकर खोजने की चिन्ता से मुक्त होने लगे।

सत्य तो यह है कि जब तक हमारे सूक्ष्म अन्तर्जगत् का बाह्य जीवन में पग-पग पर उपयोग होता रहेगा, तब तक कला का सूक्ष्म उपयोग-सम्बन्धी विवाद भी विशेष महत्त्व नहीं रख सकता। हमारे जीवन में सूक्ष्म और स्थूल की जैसी समन्वयात्मक स्थिति है, वही कला को केवल स्थूल या केवल सूक्ष्म में निर्वासित न होने देगी। जब हम एक व्यक्ति के कार्य को स्वीकार करेंगे, तब उसकी पृष्ठभूमि बने हुए कामना, स्वप्न, सूक्ष्म आदर्श, रहस्यमयी भावना आदि का भी मूल्य आँकना आवश्यक हो जायगा और कला यदि उस वातावरण का ऐसा परिचय बनी है जो काम से न दिया जा सकता तो जीवन को उसके लिए भीतर-बाहर के सभी द्वार खोलने पड़ेंगे।

उपयोग की ऐसी निम्नोन्नत भूमियाँ हो सकती हैं जो अपने बाह्य रूपों में एक दूसरी से सर्वथा भिन्न जान पड़ें, परन्तु जीवन के व्यापक धरातल पर उनके मूल्य में विशेष अन्तर नहीं रहता।

हमारी शिराओं में संचरित जीवन-रस और दूर मिट्टी में उत्पन्न अन्न के उपयोग में प्रत्यक्षतः कितना अन्तर और अप्रत्यक्षतः कैसी एकता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। रोगी की व्याधि विशेष के लिए खाद्यविशेष उपयोगी हो सकता है, परन्तु उसके सिरहाने किसी सहृदय द्वारा रखा हुआ अधखिला गुलाब का फूल भी कम उपयोगी नहीं। अपनी वेदना में छटपटाता हुआ वह उस फूल को धीरे-धीरे खिलने और हौले-हौले झड़ने वाली पंखुड़ियों को देख-देखकर, कितनी बार विश्राम की साँस लेता है, किस प्रकार अपने अकेलेपन को भर देता है, कितने भावों की सम-विषम भूमियों के पार आ जाता है और कैसे चिन्तन के क्षणों में अपने आपको खो-खो पाता है, यह चाहे हमारे लिए प्रत्यक्ष न हो, परन्तु रोगी के जीवन में तो सत्य रहता ही। चतुर चिकित्सक, रोग का निदान, उपयुक्त औषधि और पथ्य आदि का उपयोग स्पष्ट है, परन्तु रोगी की स्वस्थ इच्छाशक्ति, वातावरण का अनिर्वचनीय सामञ्जस्य, सेवा करने वाले का हृदयगत स्नेह, सद्भाव आदि उपयोग में अप्रत्यक्ष होने के कारण कम महत्त्वपूर्ण हैं, यह कहना अपनी भ्रान्ति का परिचय देना होगा।

जब केवल शारीरिक स्थिति से सम्बन्ध रखने वाला उपयोग भी इतना जटिल है, तब महत्त्वपूर्ण जीवन को अपनी परिधि में घेरने वाले उपयोग का प्रश्न कितना रहस्यमय हो सकता है, यह स्पष्ट है।

जिस प्रकार एक वस्तु के स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक अनेक उपयोग हैं, उसी प्रकार एक जीवन को सूक्ष्मतम से लेकर स्थूलतम तक असंख्य परिस्थितियों के बीच से

आगे बढ़ना होता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य के अभाव और उनकी पूर्तियों में इतनी संख्यातीत विविधता है, उसके कार्य कारण के सम्बन्ध में इतनी मापहीन व्यापकता है कि उपमान-विशेष की एक रेखा से समस्त जीवन को घेर लेने का प्रयास असफल ही रहेगा। मनुष्य का जीवन इतना एकांगी नहीं कि उसे हम केवल अर्थ, केवल काम या ऐसी ही किसी एक कसौटी पर रखकर सम्पूर्ण रूप से खरा या खोटा कह सकें। कपटी-से-कपटी लुटेरा भी अपने साथियों के साथ जितना सच्चा है उसे देखकर महान् सत्यवादी भी लज्जित हो सकता है। कठोर-से कठोर अत्याचारी भी अपनी सन्तान के प्रति इतना कोमल है कि कोई भावुक भी उसकी तुलना में न ठहरेगा। उद्धत-से उद्धत बर्बर भी अपने माता पिता के सामने इतना विनत मिलता है कि उसे नम्र शिष्य की संज्ञा देने की इच्छा होती है। सारांश यह कि जीवन के एक छोर से दूसरे छोर तक जो एक स्थिति में रह सके ऐसा जीवित मनुष्य सम्भव ही नहीं अतः एकान्त उपयोग की कल्पना ही सहज है।

जिस गढ़े हुए धनुष की प्रत्यंचा कभी नहीं उतरती वह शर-संधान के काम का नहीं रहता। जो नेत्र एक भाव में स्थिर हैं, जो होंठ एक मुद्रा में बद्ध हैं, जो पग एक स्थिति में अचल हैं वे चित्र या मूर्ति में ही अंकित रह सकते हैं। जीवन की गतिशीलता में विश्वास कर लेने पर, मनुष्य की असंख्य परिस्थितियों और विविध आवश्यकताओं में विश्वास करना अनिवार्य हो उठता है और अभाव की विविधता से उपयोग की बहुरूपता एक अविच्छिन्न सम्बन्ध में बँधी है। यह सत्य है कि जीवन में किसी आवश्यकता का अनुभव नित्य होता रहता है और किसी का यदा-कदा, परन्तु निरन्तर अनुभूत अभावों की पूर्ति ही पूर्ति है और जिनका अनुभव ऐसा नियमित नहीं वे अभाव ही नहीं ऐसी धारणा भ्रान्तिपूर्ण है।

कभी-कभी एकरस अनेक वर्षों की तुलना में सहानुभूति, स्नेह, सुख-दुःख के कुछ क्षण कितने मूल्यवान ठहरते हैं, इसे कौन नहीं जानता। अनेक बार व्यक्ति के जीवन में एक छन्द, एक चित्र या एक घटना ने अभूतपूर्व परिवर्तन सम्भव कर दिया है। कारण स्पष्ट है। जब कवि, चित्रकार या संयोग के मार्मिक सत्य ने उस व्यक्ति को एक क्षणिक कोमल मानसिक स्थिति में छू पाया तब वे क्षण अनन्त कोमलता और करुणा के सौन्दर्य द्वार खोलने में समर्थ हो सके। ऐसे कुछ क्षण युगों से अधिक मूल्यवान् अतः उपयोगी मान लिए जावें तो आश्चर्य की बात नहीं।

वास्तव में जीवन की गहराई की अनुभूति के कुछ क्षण होते हैं, वर्ष नहीं। परन्तु वे क्षण निरन्तरता से रहित होने के कारण कम उपयोगी नहीं कहे जा सकते। जो क्रूर मनुष्य सौ-सौ शास्त्रों के नित्य मनन से कोमल नहीं बन पाता वह यदि एक छोटे-से निर्दोष बालक के सरल और आकस्मिक प्रश्न-मात्र से द्रवित हो उठता है, तो वह क्षणिक प्रश्न शास्त्र-मनन की निरन्तरता से अधिक उपयोगी क्यों न माना जाय। एक बाण-विद्ध क्रौंच से प्रभावित ऋषि 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वं'—कहकर यदि प्रथम श्लोक और आदिकाव्य की रचना में समर्थ हो सका तो उस क्षुद्र पक्षी की व्यथा को मनीषी की ज्ञान-गरिमा से अधिक मूल्य क्यों न दिया जाय। यदि एक वैज्ञानिक फल के गिरने से पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति का पता लगा सका तो उस तुच्छ फल का टूटना पर्वतों के टूटने से अधिक महत्त्वपूर्ण क्यों न समझा जाय।

यदि नित्य और नियमित स्थूल ही उपयोग की कसौटी रहे तो शरीर की कुछ आवश्यकताओं के अतिरिक्त और कुछ भी महत्त्व की परिधि में नहीं आता। परन्तु हमारे इस निष्कर्ष को जीवन तो स्वीकार करे ! बुद्धि ने अपनी सीमा में स्थूलतम से सूक्ष्मतम तक सब कुछ ज्ञेय माना है और हृदय ने अपनी परिधि में उसे संवेदनीय। जीवन ने इन दोनों को समान रूप से स्वीकृति देकर इस दोहरे उपयोग को असंख्य विभिन्न और ऊँचे-नीचे स्तरों में विभाजित कर डाला है। जब इनमें से एक का लक्ष्य बनाकर हम जीवन का विकास चाहते हैं तब हमारा प्रयास अपनी दिशा में गतिशील होकर भी सम्पूर्ण जीवन को सामञ्जस्यपूर्ण गति नहीं देता।

जीवन की अनिश्चित-से अनिश्चित स्थिति भी उपयोग के प्रश्न को एकांगी नहीं बना पाती। युद्ध के लिए प्रस्तुत सैनिक की स्थिति से अधिक अनिश्चित स्थिति और किसी की सम्भव नहीं परन्तु उस स्थिति में भी जीवन भोजन आच्छादन और अस्त्र-शस्त्र के उपयोग में ही सीमित नहीं हो जाता। मस्तिष्क और हृदय को क्षण-भर विश्राम देने वाले सुख के साधन, प्रियजनों के स्नेह-भरे सन्देश, रक्षणीय वस्तुओं के सम्बन्ध में ऊँचे-ऊँचे आदर्श, जय के सुनहले-रुपहले स्वप्न, अदम्य साहस और विश्वास की भावना, अन्तश्चेतना का अनुशासन आदि मिलकर ही तो वीर को वीरता से मरने और सम्मान से जीने की शक्ति दे सकते हैं। पौष्टिक भोजन, झिलमिलाते कवच और चकाचौंध उत्पन्न करने वाले अस्त्र-शस्त्र-मात्र वीर-हृदय का निर्माण नहीं करते, उसके निर्मायक उपकरण तो अन्तर्जगत् में छिपे रहते हैं। यदि हम अन्तर्जगत् के वैभव को अनुपयोगी सिद्ध करना चाहें तो कवच में सम्मानित काठ के पुतले भी खड़े किये जा सकते हैं, क्योंकि जीवित मनुष्य की तुलना में उनकी आवश्यकताएँ नहीं के बराबर और उपयोग सहस्रगुण अधिक रहेंगे।

उपयोग की ऐसी ही भ्रान्ति पर तो हमारा यन्त्र-युग खड़ा है। परन्तु संसार ने हँसने रोने थकने मरनेवाले मनुष्य को खोकर जो वीतराग अथक और अमर देवता पाया है उससे जीवन को आत्महत्या का वरदान देने के अतिरिक्त और क्या किया ? समाज और राष्ट्र में मनुष्य की स्थिति न केवल तात्कालिक है और न अनिश्चित, अतः उसके जीवन से सम्बन्ध रखने वाले उपयोग को अधिक व्यापक धरातल पर स्थायित्व की रेखाओं में देखना होगा।

उपयोगिता के प्रश्न के साथ एक कठिनाई और है। जैसे-जैसे उपयोग की भूमि ऊँची होती जाती है, वैसे-वैसे वह प्रत्यक्षता में न्यून और व्यापकता में अधिक होती चलती है। सबसे नीची भूमि जिस अंश तक मूर्त है सबसे ऊँची उसी अंश तक निराकार। उपयोगिता की दृष्टि से खाद्य भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के स्वास्थ्य-रुचि आदि की अपेक्षा रखता है परन्तु उससे बना रस रोगी स्वस्थ आदि सभी प्रकार के व्यक्तियों के लिए समान रूप से उपयोगी रहेगा। इसी से उपयोग की प्रत्यक्ष और निम्न भूमि पर जैसी विभिन्नता मिलती है वैसी उन्नत पर अप्रत्यक्ष भूमि पर सहज नहीं।

दूसरे के दुःख से सहानुभूति रखना, यह सिद्धान्त जब व्यावहारिक जीवन में कर्तव्य विधि निषेध के रूप में आता है तब भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में उसके प्रयोग के रूप विभिन्न

रहते हैं और प्रयोग में छुटकारा इन पाश तर्क विविध। परन्तु जब यही इतिवृत्त हमारी भावभूमि पर हृदय की प्रेरणा बनकर उपस्थित होता है, तब न प्रयोगों में इतनी विभिन्नता दिखाई देती है और न तर्क की आवश्यकता रहती है। किसी का दुःख जब हमारे हृदय को स्पर्श कर चुका तब हम उसके और अपने सम्बन्ध को साधारण लौकिक आदान-प्रदान की तुलना पर तोलने में असमर्थ ही रहेंगे।

यदि हम किसी के दुःख को बँटा लेंगे तो दूसरा भी हमारे दुःख में सहभागी होगा यह सामाजिक नियम न हमें स्मरण रहता है और न हम स्मरण करना चाहते हैं। इसी से महानतम त्यागों के पीछे विधिनिषेधात्मक नैतिकता के संस्कार चाहे रहें परन्तु स्वयं विधि निषेध की सतर्क चेतना सम्भव नहीं रहती। सत्य बोलना उचित है, इस सिद्धान्त को गणित के नियम के समान रट-रटकर जो सत्य बोलने की शक्ति पाता है वह सच्चा सत्यवादी नहीं। सत्यवादी तो उसे कहेंगे जिसका सत्य बोलना विधि-निषेध की सीमा पारकर स्वभाव ही बन चुका है। उपयोग की इस सूक्ष्म पर व्यापक भूमि पर सत्य में जैसी एकता है, स्थूल और संकीर्ण धरातल पर वैसी ही अनेकता। इसी कारण संसार-भर के दार्शनिक धर्म-संस्थापक कवि आदि के सत्य में देश काल और व्यक्ति की दृष्टि से विभिन्नता होने पर भी मूलगत एकता मिलती है।

सत्य तो यह है कि उपयोग का प्रश्न जीवन के समान ही निम्न-उन्नत सम-विषम प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष भूमियों में समान रूप से व्याप्त है और रहेगा।

जहाँ तक काव्य तथा अन्य ललित कलाओं का सम्बन्ध है वे उपयोग की उस उन्नत भूमि पर स्थायी हो पाती हैं जहाँ उपयोग सामान्य रह सके। करुण रागिनी उपयोग की जिस भूमि पर है वहाँ वह प्रत्येक श्रोता के हृदय में एक करुण भाव जागृत करके ही सफल हो सकती हर्ष या उल्लास का नहीं। व्यक्ति के संस्कार परिस्थिति मानसिक स्थिति आदि के अनुसार उसकी मात्राओं में न्यूनाधिक्य हो सकता है परन्तु उसके उपयोग में इतनी विभिन्नता सम्भव नहीं कि एक में हर्ष का संचार हो और दूसरे में विषाद का उद्रेक।

जीवन को गति देने के दो ही प्रकार हैं—एक तो बाह्य अनुशासनों का सहारा देकर उसे चलाना और दूसरे, अन्तर्जगत् में ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न कर देना जिससे सामञ्जस्यपूर्ण गतिशीलता अनिवार्य हो उठे। अन्तर्जगत् में प्रेरणा बनने वाले साधनों की स्थिति उस बीज के समान है जिसे मिट्टी को रस-रूप रस आदि में व्यक्त होने की सुविधा देने के लिए, स्वयं उसके अन्धकार में समाकर दृष्टि से ओझल हो जाना पड़ता है।

विधि-निषेध की दृष्टि से महान्-से-महान् कलाकार के पास उतना भी अधिकार नहीं जितना चौराहे पर खड़े सिपाही को प्राप्त है। वह न किसी को आदेश दे सकता है और न उपदेश और यदि देने की नासमझी करता भी है तो दूसरे उसे न मानकर समझदारी का परिचय देते हैं। वास्तव में कलाकार तो जीवन का ऐसा संगी है, जो अपनी आत्म-कहानी में हृदय की कथा कहता है और स्वयं चलकर पग-पग के लिए पथ प्रशस्त करता है। वह बौद्धिक परिणाम नहीं किन्तु अपनी अनुभूति दूसरे तक पहुँचाता है और वह भी एक विचित्रता के साथ। काँटा चुभाकर काँटे का ज्ञान तो संसार दे ही देगा परन्तु कलाकार बिना काँटा चुभने की पीड़ा दिये हुए ही उसकी कसक की तीव्र मधुर अनुभूति

दूसरे तक पहुँचाने में समर्थ है। अपने अनुभवों की गहराई में वह जिस जीवन-सत्य से साक्षात् करता है उसे दूसरे के लिए संवेदनीय बनाकर कहना चाहता है, 'यह सौन्दर्य तुम्हारा ही तो है पर मैं आज देख पाया।' जीवन को स्पर्श करने का उसका ढंग ऐसा है कि हम उसके सुख-दुख हर्ष-विषाद हार-जीत सब-कुछ प्रसन्नतापूर्वक ही स्वीकार करते हैं—दूसरे शब्दों में हम बिना खोजने का कष्ट उठाये हुए ही कलाकार के सत्य में अपने आपको पाते हैं। दूसरे के बौद्धिक निष्कर्ष तो हमें अपने भीतर उनका प्रतिबिम्ब खोजने पर बाध्य करते हैं परन्तु अनुभूति हमारे हृदय से तादात्म्य करके प्राप्ति का सुख देती है।

उपदेशों के विपरीत अर्थ लगाये जा सकते हैं, नीति के अनुवाद भ्रान्त हो सकते हैं, परन्तु सच्चे कलाकार की सौन्दर्य-सृष्टि का अपरिचित रह जाना सम्भव है बदल जाना सम्भव नहीं। मनु की जीवन-स्मृतियों में अनर्थ की सम्भावना है पर वाल्मीकि का जीवन-दर्शन संशयहीन ही रहेगा। इसी से कलाकारों के मठ नहीं निर्मित हुए, महन्त नहीं प्रतिष्ठित हुए, साम्राज्य नहीं स्थापित हुए और सम्राट नहीं अभिषिक्त हुए। कवि या कलाकार अपनी सामान्यता में ही सबका ऐसा अपना बन गया कि समय समय पर धर्म नीति आदि को जीवन के निकट पहुँचने के लिए, उससे परिचय-पत्र माँगना पड़ा।

कवि में दार्शनिक को खोजना बहुत साधारण हो गया है। जहाँ तक सत्य के मूल रूप का सम्बन्ध है वे दोनों एक-दूसरे के अधिक निकट हैं अवश्य पर साधन और प्रयोगों की दृष्टि से उनका एक होना सहज नहीं। दार्शनिक बुद्धि के निम्न स्तर से अपनी खोज आरम्भ करके उसे सूक्ष्म बिन्दु तक पहुँचाकर सन्तुष्ट हो जाता है—उसकी सफलता यही है कि सूक्ष्म सत्य के उस रूप तक पहुँचने के लिए वही बौद्धिक दिशा सम्भव रहे। अन्तर्जगत् का सारा वैभव परखकर सत्य का मूल्य आँकने का उसे अवकाश नहीं भाव की गहराई में डूबकर जीवन की थाह लेने का उसे अधिकार नहीं। वह तो चिन्तन-जगत् का अधिकारी है। बुद्धि अन्तर का बोध कराकर एकता का निर्देश करती है और हृदय एकता की अनुभूति देकर अन्तर की ओर संकेत करता है। परिणामतः चिन्तन की विभिन्न रेखाओं का समानान्तर रहना अनिवार्य हो जाता है। सांख्य जिस रेखा पर बढ़कर सत्य की प्राप्ति करता है, वह वेदान्त को अंगीकृत न होगी और वेदान्त जिस क्रम से चलकर सत्य तक पहुँचता है उसे योग स्वीकार न कर सकेगा।

काव्य में बुद्धि हृदय से अनुशासित रहकर ही सक्रियता पाती है इसी से उसका दर्शन न बौद्धिक तर्क प्रणाली है और न सूक्ष्म बिन्दु तक पहुँचाने वाली विशेष विचार-पद्धति। वह तो जीवन को चेतना और अनुभूति के समस्त वैभव के साथ स्वीकार करता है। अतः कवि का दर्शन जीवन के प्रति उसकी आस्था का दूसरा नाम है। दर्शन में चेतना के प्रति नास्तिक की स्थिति भी सम्भव है परन्तु काव्य में अनुभूति के प्रति अविश्वासी कवि की स्थिति असम्भव ही रहेगी। जीवन के अस्तित्व को शून्य प्रमाणित करके भी दार्शनिक बुद्धि के सूक्ष्म बिन्दु पर विश्राम कर सकता है परन्तु यह अस्वीकृति कवि के अस्तित्व को डाल से टूटे पत्ते की स्थिति दे देती है।

दोनों का मूल अन्तर न जानकर ही हम किसी भी कलाकार में बुद्धि की एक रूप एक दिशा वाली रेखा ढूँढने का प्रयास करते हैं और असफल होने पर खीझ उठते हैं।

इसका यह अर्थ नहीं कि दर्शन और कवि की स्थिति में विरोध है। कोई भी कलाकार दर्शन ही क्या धर्म नीति आदि का विवेचक होने के कारण ही कला-सृजन के उपयुक्त या अनुपयुक्त नहीं ठहरता। यह समस्या तो तब उत्पन्न होती है जब वह अपनी कला को ज्ञान विशेष का एकांगी शुष्क और बौद्धिक अनुवाद मात्र बनाने लगता है।

कवि का वेदान्त ज्ञान जब अनुभूतियों से रूप कल्पना से रंग और भावजगत् से सौन्दर्य पाकर साकार होता है तब उसके सत्य में जीवन का स्पन्दन रहेगा बुद्धि की तर्क शृंखला नहीं। ऐसी स्थिति में उसका पूर्ण परिचय न अद्वैत दे सकेगा और न विशिष्टाद्वैत। यदि कवि ने इतनी सजीव साकारता के बिना ही अपने ज्ञान को कला के सिंहासन पर अभिषिक्त कर दिया तो वह निष्प्राण मूर्ति के समान न निरा देवता रहता है और न कोरा पाषाण। कला जीवन की विविधता समेटती हुई आगे बढ़ती है अतः सम्पूर्ण जीवन को गला-पिघलाकर तर्कसूत्र में परिणत कर लेना उसका लक्ष्य नहीं हो सकता।

व्यष्टि और समष्टि में समान रूप से व्याप्त जीवन के हर्ष-शोक आशा-निराशा सुख दुःख आदि की संख्यातीत विविधता की स्वीकृति देने ही के लिए कला-सृजन होता है। अतः कलाकार के जीवन-दर्शन में हम उसका जीवनव्यापी दृष्टिकोण-मात्र पा सकते हैं। जो सम-विषम परिस्थितियों की भीड़ में नहीं मिल जाता सरल-कठिन सत्यों के मेले में नहीं खो जाता और मधुर-कटु सुख-दुखों की छाया में नहीं छिप जाता वही व्यापक दृष्टिकोण कवि का दर्शन कहा जायगा। परन्तु ज्ञान-क्षेत्र और काव्यजगत् के दर्शन में उतना ही अन्तर रहेगा जितना दिशा की शून्य सीधी रेखा और अनन्त रंग रूपों से बसे हुए आकाश में मिलता है।

काव्य की परिधि में बाह्य और अन्तर्जगत् दोनों आ जाने के कारण अभिव्यक्ति के स्वरूप मतभेदों को जन्म देते रहे हैं। केवल बाह्यजगत् की यथार्थता काव्य का लक्ष्य रहे अथवा उस यथार्थ के साथ सम्भाव्य यथार्थ अर्थात् आदर्श भी व्यक्त हो यह प्रश्न भी उपेक्षणीय नहीं। यथार्थ और आदर्श दोनों को यदि चरम सीमा पर रखकर देखा जाय तो एक प्रत्यक्ष इतिवृत्त में बिखर जायगा और दूसरा असम्भव कल्पनाओं में बँध जायगा। ऐसे यथार्थ और आदर्श की स्थिति जीवन में ही कठिन हो जाती है फिर उसकी काव्य-स्थिति के सम्बन्ध में क्या कहा जाय!

काव्य में गोचर जगत् तो सहज स्वीकृति पा लेता है पर स्थूल जगत् में व्याप्त चेतन और प्रत्यक्ष सौन्दर्य में अन्तर्हित सामञ्जस्य की स्थिति बहुत सहज नहीं।

हमारे प्राचीन काव्य ने बौद्धिक तर्कवाद से दूर, उस आत्मानुभूत ज्ञान को स्वीकृति दी है जो इन्द्रियजन्य ज्ञान-सा अनायास पर उससे अधिक निश्चित और पूर्ण माना गया है। इस ज्ञान के आधार सत्य की तुलना उस आकाश से की जा सकती है जो ग्रहण शक्ति की अनुपस्थिति में अपना शब्दगुण नहीं व्यक्त करता। इसी कारण ऐसे ज्ञान की उपलब्धि आत्मा के उस संस्कार पर निर्भर है जो सामान्य सत्य को विशिष्ट सीमा में ग्रहण करने की शक्ति भी देता है और उस सीमित ज्ञानानुभूति को जीवन की व्यापक पीठिका देने वाला सौन्दर्यबोध भी सहज कर देता है।

जैसे रूप रस गन्ध आदि की स्थिति होने पर भी करण (इन्द्रिय) के अभाव

या अपूर्णता में कभी उसका ग्रहण सम्भव नहीं होता और कभी वे अधूरे ग्रहण किये जाते हैं वैसे ही आत्मानुभूत ज्ञान आत्मा के संस्कार की मात्रा और उससे उत्पन्न ग्रहणशक्ति की सीमा पर निर्भर रहेगा। कवि को द्रष्टा या मनीषी कहने वाले युग के सामने यही निश्चित तर्कक्रम से स्वतन्त्र ज्ञान रहा।

यह ज्ञान व्यक्तिसामान्य नहीं, यह कहकर हम उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते क्योंकि हमारा प्रत्यक्ष जगत्-सम्बन्धी ज्ञान भी इतना सामान्य नहीं। विज्ञान का भौतिक ज्ञान ही नहीं नित्य का व्यवहार-ज्ञान भी व्यक्ति की सापेक्षता नहीं छोड़ता। व्यक्तिगत रुचि संस्कार पूर्वार्जित ज्ञान ज्ञान-करणों की पूर्णता अपूर्णता अभाव आदि मिलकर स्थूल जगत् के ज्ञान को इतनी विभिन्नता देते रहते हैं कि हम व्यक्ति के महत्त्व से ज्ञान का महत्त्व निश्चित करने पर बाध्य हो जाते हैं। जो ऊँचा सुनता है या जो स्टेथेस्कोप की सहायता से फेफड़ों का अस्फुट स्वर मात्र सुनता है, वे दोनों हमारे स्वर-सामञ्जस्य के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष नहीं दे सकते। पर जो आहट की ध्वनि से लेकर मेघ के गर्जन तक सब स्वर सुनने की क्षमता भी रखता है और विभिन्न स्वरों में सामञ्जस्य लाने की साधना भी कर चुका है, वही इस दिशा में हमारा प्रमाण है।

समाज नीति आदि से सम्बन्ध रखने वाले इन्द्रियानुभूत ज्ञान ही नहीं सूक्ष्म बौद्धिक ज्ञान के सम्बन्ध में भी अपने से अधिक पूर्ण व्यक्तियों को प्रमाण मानकर मनुष्य विकास करता आया है। अतः अध्यात्म के सम्बन्ध में ही ऐसा तर्कवाद क्यों महत्त्व रखेगा! फिर यह आत्मानुभूत ज्ञान इतना विच्छिन्न भी नहीं जितना समझा जाता है। साधारणतः तो प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी अंश तक इसका उपयोग करता रहता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के साथ इस ज्ञान का वैसा ही अज्ञात सम्बन्ध और अव्यक्त स्पर्श है जैसा प्रकृति की प्रत्यक्ष और प्रशान्त निस्तब्धता के साथ आँधी के अव्यक्त पूर्वाभास का हो सकता है, जो स्थितिहीनता में भी स्थिति रखता है। इसके अव्यक्त स्पर्श का अनुभव करके अनेक बार मनुष्य प्रत्यक्ष प्रमाण बौद्धिक निष्कर्ष और अनुकूल परिस्थितियों की सीमाएँ पार कर लेने के लिए विवश हो उठता है।

कठोर विज्ञानवादी के पास भी ऐसा बहुत-कुछ बच जाता है जो कार्य-कारण से नहीं बाँधा जा सकता। स्थूलता के एकान्त उपासक के पास भी बहुत-कुछ शेष रह जाता है, जो उपयोग की कसौटी पर नहीं परखा जा सकता। और यदि केवल संख्या ही महत्त्व रखती हो तो संसार के सब कोनों में ऐसे व्यक्तियों की स्थिति सम्भव हो सकी है जो आत्मानुभूत ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध करते रहे।

अगोचर जगत् से सम्बन्ध रखने वाली रहस्यानुभूति की स्थिति भी ऐसी ही है। जहाँ तक अनुभूति का प्रश्न है वह तो स्थूल और गोचर जगत् में भी सामान्य नहीं। प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि फूल को फूल ग्रहण कर ले यह स्वाभाविक है, परन्तु सबके अन्तर्जगत् में अनुभूति एक-सी स्थिति नहीं पा सकती। अपने संस्कार, रुचि के अनुसार कोई फूल से तादात्म्य प्राप्त करके भाव-तन्मय हो सकेगा कोई उदासीन दर्शक-मात्र रह जायगा। स्थूल जगत् से सम्पर्क का रूप भी अनुभूति की मात्रा निश्चित कर सकता है। जिसने अंगारे स्वयं उठाकर हाथ को कठोर कर लिया है उसकी अंगुलियाँ अंगारे पर पड़

फिर भी जलने की तीव्र अनुभूति नहीं उत्पन्न करेगी, पर जिसका हाथ अचानक अंगारे पर पड़ गया है, उसे जलने का तीव्र मर्मानुभव करना पड़ेगा। जिसने काँटों पर चलने का अभ्यास कर लिया है, उसके शरीर में अनेक काँटों का स्पर्श तीव्र व्यथा नहीं उत्पन्न करता, पर जो चलते चलते अचानक काँटे पर पैर रख देता है, उसके लिए एक काँटा ही तीव्र दुःखानुभूति का कारण बन जाता है।

परन्तु इन सब खण्डशः अनुभूतियों के पीछे हमारे अन्तर्जगत् में एक ऐसा व्यापक अखण्ड और संवेदनात्मक धरातल भी है, जिस पर सारी भिन्नताएँ ठहर सकती हैं। काव्य इसी को स्पर्श करके संवेदनीयता प्राप्त करता है। इसी कारण जिन सुख-दुःखों की प्रत्यक्ष स्थिति भी हमें तीव्र अनुभूति नहीं देती, उन्हीं की काव्य स्थिति से साक्षात् करके हम अस्थिर हो उठते हैं।

व्यापक अर्थ में तो यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक सौन्दर्य या प्रत्येक सामञ्जस्य की अनुभूति भी रहस्यानुभूति है। यदि एक सौन्दर्य-अंश या सामञ्जस्य-खण्ड हमारे सामने किसी व्यापक सौन्दर्य या अखण्ड सामञ्जस्य का द्वार नहीं खोल देता, तो हमारे अन्तर्जगत् का उल्लास से आन्दोलित हो उठना सम्भव नहीं। इतना ही नहीं, किसी कर्म के सौन्दर्य और सामञ्जस्य की अनुभूति भी रहस्यात्मक हो सकती है, इसी से मनुष्य ऐसे कर्मों को आलोक-स्तम्भ बना-बनाकर जीवन-पथ में स्थापित करता रहा है।

सौन्दर्य अपने समर्थन के लिए जिस सामञ्जस्य की ओर इंगित करता है, विरूपता भी अपने विरोध के लिए उसी की ओर संकेत करती है, पर दोनों के संकेत में अन्तर है। प्रत्येक सौन्दर्य-खण्ड अखण्ड सौन्दर्य से जुड़ा है और इस तरह हमारे हृदयगत सौन्दर्य-बोध से भी जुड़ा है, पर विरूप व्यापक सामञ्जस्य का विरोधी होने के कारण हमारे भीतर कोई स्वभावगत स्थिति नहीं रखता। सौन्दर्य से हमारा वह परिचय है, जो अगाध जलराशि में एक लहर का दूसरी लहर से होता है, पर विरूपता से हमारा वैसा ही मिलन है, जैसा पानी में फेंके हुए पत्थर और उससे उठी लहर में सहज है। सौन्दर्य चिरपरिचय में भी नवीन है, पर विरूपता अति परिचय में नितान्त साधारण बन जाती है। इसी से सौन्दर्य की रहस्यानुभूति ही अन्तहीन काव्यकथा में नये परिच्छेद जोड़ती रही है।

आधुनिक युग में कलाकार की सीमाएँ जानने के लिए जीवन-व्यापी वातावरण की विषमताओं से परिचित होना अपेक्षित रहेगा।

हमारी सामाजिक परिस्थिति में अभी तक प्रतिक्रियात्मक ध्वंस-युग ही चल रहा है। उसके सम्बन्ध में ऐसा कोई स्वस्थ और पूर्ण चित्र अंकित नहीं किया जा सका, जिसे दृष्टि का केन्द्र बनाकर निर्माण का क्रम आरम्भ किया जा सकता। इस दिशा में हम अपने व्यक्तिगत स्वार्थ और सुविधा के अनुसार ही तोड़ने-फोड़ने का कार्य करते चलते हैं, अतः कहीं चट्टान पर सुनार की हथौड़ी का हल्का स्पर्श होता है और कहीं राख के ढेर पर लोहार की गहरी चोट। क्या संस्कृति क्या आदर्श, सबमें हमारी शक्तियों का विक्षिप्त-जैसा प्रयोग है, इसी से जो टूट जाता है, वह हमारी ही आँखों की किरकिरी बनने के लिए वायुमण्डल में मँडराने लगता है और जो हमारे प्रहार से नहीं बिखरता, वह विषम

तथा विरूप बनकर हमारे ही पैरों को आहत और गति को कुण्ठित करता रहता है। निर्माण की दिशा में किसी सामूहिक लक्ष्य के अभाव में व्यक्तिगत प्रयास अराजकता के आकस्मिक उदाहरणों से अधिक महत्त्व नहीं पाते।

किसी भी सत्त्वशील समाज और उसके प्रबुद्ध कलाकारों में जो सक्रिय सहयोग और परस्पर पूरक आदान-प्रदान स्वाभाविक है, वह हमारे समाज के लिए कल्पनातीत बन गया। समाज की एक बिन्दु पर अचलता और कलाकार की लक्ष्यहीन गति-विभ्रमता ने उसे एक प्रकार से असामाजिक प्राणी की स्थिति में डाल दिया है।

प्रत्येक सच्चे कलाकार की अनुभूति प्रत्यक्ष सत्य ही नहीं अप्रत्यक्ष सत्य का भी स्पर्श करती है, उसका स्वप्न वर्तमान ही नहीं अनागत को भी रूपरेखा में बाँधता है और उसकी भावना यथार्थ ही नहीं सम्भाव्य यथार्थ को भी मूर्तिमत्ता देती है। परन्तु इन सबकी व्यक्तिगत और अनेक रूप अभिव्यक्तियाँ दूसरों तक पहुँचकर ही तो जीवन की समष्टिगत एकता का परिचय देने में समर्थ हैं।

कलाकार के निर्माण में जीवन के निर्माण का लक्ष्य छिपा रहता है, जिसकी स्वीकृति के लिए जीवन की विविधता आवश्यक होगी। जब समाज उसके किसी भी स्वप्न का मूल्य नहीं आँकता, किसी भी आदर्श को जीवन की कसौटी पर परखना स्वीकार नहीं करता, तब साधारण कलाकार तो सब-कुछ धूल में फेंककर रूठे बालक के समान क्षोभ प्रकट कर देता है और महान् समाज की उपस्थिति ही भुलाने लगता है। हमारे कला-क्षेत्र में जो एक उच्छृंखल गति है, उसके मूल में निर्माण की सन्तुलित सक्रियता से अधिक विवश क्षोभ की अस्थिरता ही मिलती।

एक ओर समाज पक्षाघात से पीड़ित है और दूसरी ओर धर्म-विक्षिप्त। एक चल ही नहीं सकता, दूसरा वृत्त के भीतर वृत्त बनाता हुआ एक पैर से दौड़ लगा रहा है। गर्म और ठंडे जल से भरे पात्रों की निकटता जैसे उनका तापमान एक-सा कर देती है, उसी प्रकार हमारे धर्म और समाज की सापेक्ष स्थिति उन्हें एक-सी निर्जीवता देती रहती है। आज तो बाह्य और आन्तरिक विकृति ने धर्म को ऐसी परिस्थिति में पहुँचा दिया है जहाँ रूढ़िग्रस्त रहने का नाम निष्ठा और रीतिकालीन प्रवृत्तियों की चंचल क्रीड़ा ही गतिशीलता है। इतना ही नहीं, इस स्वप्न के खँडहर का द्वारपाल सर्प बन गया है। कलाकार यदि धर्म के क्षेत्र में प्रवेश चाहे तो उस हाथी पर गंगायमुनी काम की अम्बारी में जाना होगा जो उसकी निर्धनता में सम्भव नहीं।

हमारी संस्कृति में धर्म और कला का ऐसा अन्योन्याश्रित विस्तार था जो जीवन से अधिक मृत्यु में दृढ़ होता गया। क्या काव्य, क्या मूर्ति, क्या चित्र, सबकी यथार्थ रेखाओं और स्थूल रूपों में अध्यात्म ने सूक्ष्म आदर्श की प्रतिष्ठा की। परन्तु जब धर्म के असंख्य स्तरों के नीचे दबकर वह अध्यात्म-स्पन्दन रुक गया, तब धर्म के निर्जीव कंकाल में हमें मृत्यु का ठंढा स्पर्श मिलने लगा।

शरीर को चलाने वाली चेतना का अशरीरी स्पन्दन तो प्रत्यक्ष नहीं होता, परन्तु उसके अभाव में अचल शरीर का गल-गलकर नष्ट होना प्रत्यक्ष भी रहेगा और वातावरण को दूषित भी करेगा। समन्वयात्मक अध्यात्म कब खो गया, यह तो हम न जा

रहे परन्तु व्यावहारिक धर्म की विविध विकृतियाँ हमारे जीवन के साथ रहीं। ऐसी स्थिति में काव्य तथा कलाओं की स्वस्थ गतिशीलता असम्भव हो उठी। निर्माण-युग में तो कला-सृष्टि अमृत की संजीवनी देकर ही सफल हो सकती थी वही पतन-युग में मदिरा की उत्तेजना-मात्र बनकर विलासशील मानी गई। मदिरा का उपयोग तो स्वयं को भुलाने के लिए है स्मरण करने के लिए नहीं और जीवन का सृजनात्मक विकास अपनेपन की चेतना में ही सम्भव है। परिणामतः कलाएँ और काव्य जैसे-जैसे हममें विक्षिप्त की चेष्टाएँ भरने लगे वैसे-वैसे हम विकास-पथ पर लक्ष्यभ्रष्ट होते गए।

जागरण के प्रथम चरण में हमारी राष्ट्रीयता ने अपनी व्यापकता के लिए जिस अध्यात्म का आह्वान किया काव्य ने सौन्दर्य-काया में उसी की प्राण-प्रतिष्ठा कर दी। कवि ने धर्म के धरातल पर किसी विकृत रूढ़ि को स्वीकार नहीं किया परन्तु सक्रिय विरोध के साधनों का अभाव-सा रहा।

कुछ ने सम्प्रदायों की संकीर्णता के बाहर रहकर, आदर्श चरित्रों को नवीन रूपरेखा दे डाला और इस पुरानी सांस्कृतिक परम्परा और नई लोक-भावना का समन्वय उपस्थित किया। कुछ ने धर्म के मूलगत अध्यात्म को व्यक्तिगत साधना के उस धरातल पर स्थापित कर दिया जहाँ वह हमारे अनेकरूप जीवन की अरूप एकता का आधार भी बन सका और सौन्दर्य की विविधता की व्यापक पीठिका भी।

कुछ ने उसे स्वीकार ही नहीं किया परन्तु उनके स्थान में किसी अन्य व्यापक आदर्श की प्रतिष्ठा न होने के कारण यह अस्वीकृति एक उच्छृंखल विरोध-प्रदर्शन मात्र रह गई। नास्तिकता उसी दिशा में सृजनात्मक विकास दे सकती है जब ईश्वरता से अधिक सजीव और सामञ्जस्यपूर्ण आदर्श जीवन के साथ चलता रहे। जहाँ केवल अविश्वास ही उनका सम्बल है वहाँ वह जीवन के प्रति भी अनास्था उत्पन्न किये बिना नहीं रहती। और जीवन के प्रति अविश्वासी व्यक्ति का सृजन के प्रति भी अनास्थावान हो जाना अनिवार्य है। ऐसी स्थिति का अन्तिम और अवश्यम्भावी परिणाम जीवन के प्रति व्यर्थता की भावना और निराशा ही होती है। इसी से सच्चा कवि या कलाकार किसी-न-किसी आदर्श के प्रति आस्थावान रहेगा ही।

धर्म ने यदि अपने आपको कूप के समान पत्थरों से बाँध लिया है तो राजनीति ने धरती के ढाल पर पड़े पानी के समान अनेक धाराओं में विभक्त होकर शक्ति को बिखरा डाला है।

पिछले पच्चीस वर्षों में विश्व के राजनीतिक जीवन में जो-जो आदर्श उपस्थित किये गए उनमें से एक को भी अभी तक पूर्ण विकास का अवसर नहीं मिल सका। पुराना पर स्वार्थी साम्राज्यवाद नवीन पर क्रूर नात्सीज़्म और फासिज़्म आध्यात्म-प्रधान गांधीवाद जनसत्तात्मक साम्यवाद, समाजवाद आदि सब रेल के तीसरे दर्जे के छोटे डिब्बे में ठसाठस भरे उन यात्रियों-जैसे हो रहे हैं, जो एक-दूसरे के सिर पर सवार होकर ही बैठ रहने का अवकाश और लड़ने-झगड़ने में ही मनोरंजन के साधन पा सकते हैं। इनमें से मानव-कल्याण पर केन्द्रित विचारधाराओं को भी शताब्दियाँ तो दूर रहीं अभी विकास के लिए पचास वर्ष भी नहीं मिल सके। एक की सीमाएँ स्पष्ट हुए बिना ही दूसरी अपने

लिए स्थान बनाने लगती है और इस प्रकार विश्व का राजनीतिक जीवन परस्पर-विरोधिनी शक्तियों का खेल-मात्र रह गया है।

हमारा राजनीतिक वातावरण भी कुछ कम विषम और छिन्न-भिन्न नहीं। वास्तव में हमारी राष्ट्रीयता जनता की पुत्री होने के साथ-साथ धर्म और पूँजी की पोष्य पुत्री भी रही है, अतः दोनों ओर के गुण-अवगुण उसे उत्तराधिकार में मिलते रहे हैं। उसकी छाया में धार्मिक विरोध भी पनप सके और आर्थिक वैषम्य से उत्पन्न बौद्धिक मतभेद भी विकास पाते रहे।

इसके अतिरिक्त हमारी राष्ट्रीयता की गतिशीलता के लिए आध्यात्मिक धरातल पर भी एक सैनिक संगठन अपेक्षित था और सैनिक संगठन की कुछ अपनी सीमाएँ रहेंगी ही। सेना में सब वीर और धीर व्रत के विश्वासी ही रहें ऐसी सम्भावना सत्य नहीं हो सकती। पर जो व्यक्ति स्वार्थ या परार्थ के लिए, विवशता या अन्तर की प्रेरणा से यथार्थ की असुविधा या आदर्श की चेतना के कारण सेना की परिधि में आ गए, उनमें सभी को बाह्य वेशभूषा और गति की दृष्टि से एक-सा रहना पड़ेगा। इस प्रकार सैनिक संगठन में बाह्य एकता का जो महत्त्व है वह आन्तरिक विशेषता का नहीं और यह त्रुटि हमारी राष्ट्रीयता में भी अनजाने ही अपना स्थान बनाने लगी।

यह कुछ संयोग की ही बात नहीं कि इस युग में कोई महान् कलाकार राजनीति की कठिन रेखा के भीतर स्वच्छन्दता की साँस न ले सका। जहाँ तक हमारी कविता और कलाओं का प्रश्न है वे अनाथालय के जीवों के समान सब द्वारों पर अपना अनाथपन माँगने को स्वतन्त्र रहीं परन्तु हर द्वार पर उनके गीत के लिए स्वर-ताल निर्दिष्ट और नियम निश्चित थे। जो नीति ने चुनना चाहा वह समाज को नहीं भाया और जो समाज को रुचिकर हुआ वह राष्ट्रीयता की स्वीकृति न पा सका।

ऐसी स्थिति में कलाकार यदि नवीन प्रेरणाओं को जीवन की व्यापक पीठिका पर प्रतिष्ठित कर सकता तो उसका लक्ष्य स्पष्ट और पथ परिष्कृत हो जाता परन्तु हमारे समाज की छिन्न-भिन्नता ने यह कार्य सहज नहीं रहने दिया। इस विषम मानव समष्टि में भी सौ में चौरानबे मनुष्य तो जड़ और निर्धन श्रमजीवी हैं जिनकी स्थिति का एकमात्र उपयोग शेष ६ के लिए सुविधाएँ जुटाना है और शेष ६ में अकर्मण्य धनजीवी तथा बुद्धिजीवी, बुद्धिजीवी श्रमिक आदि इस प्रकार एकत्र हैं कि एक की विकृति से दूसरा जलता-खीजता रहता है।

केवल धनजीवियों में किसी जाति की व्यापक विशेषताओं और व्यापक गुणों को खोजना व्यर्थ का प्रयास है। उनकी स्थिति तो उस रोग के समान है जो जितना अधिक स्थान घेरता है, उतना ही अधिक स्वास्थ्य का अभाव प्रकट करता है और जैसे-जैसे तीव्र होता है वैसे-वैसे जीवन के संकट का विज्ञापन बनता जाता है। नितान्त निर्धन बुद्धिजीवी वर्ग जैसे एक ओर उच्च बनने की आकांक्षा रखकर दूसरी ओर अभाव की शिलाओं में दबकर टूट जाता है उसी प्रकार सर्वथा समृद्ध भी उच्चताजनित दर्प और सुविधाओं के दृढ़ भित्ति में घबराता रहता है।

जिस बुद्धिजीवी वर्ग को हम विराट् पर निश्चेष्ट जाति का मस्तिष्क बनने का

अधिकार है उसने मनजीवी की सुखलिप्सा और अपने समाज की संकीर्णता के साथ ही नव आवरण को स्वीकृति दी है। अतः एक शरीर में दो प्रेतात्माओं के समान उनके जीवन में दो भिन्न प्रवृत्तियाँ धक्कम-धूक मचाती रहती हैं। विषमताओं से उत्पन्न और संकीर्णता से पोषित स्वभाव को इस युग की विलासिता ने ऐसा रूप दे दिया है जिसमें पुराना स्वार्थ घनीभूत है और नवीन ज्ञान पुंजीभूत।

विज्ञान के चरम विकास ने हमारी आधुनिकता को एकांगी बुद्धिवाद में इस तरह सीमित किया है कि आज जीवन के किसी भी आदर्श को उसके निरपेक्ष सत्य के लिए स्वीकार करना कठिन है। परिणामतः एक निस्सार बौद्धिक उलझन भी हमारे हृदय की सम्पूर्ण सरस भावनाओं से अधिक सारवती जान पड़े तो आश्चर्य ही क्या है! इस ज्ञान व्यवसायी युग में बिना स्थायी पूँजी के ही सिद्धान्तों का व्यापार सहज हो गया है। अतः न अब हमें किसी विश्वास का खरापन जाँचने के लिए अपने जीवन को कसौटी बनाना पड़ता है और न किसी आदर्श का मूल्य आँकने के लिए जीवन की विविधता समझने की आवश्यकता होती है। हमारा शिक्षित जीवन इतना व्यक्ति-प्रधान है कि प्रायः वैयक्तिक भ्रान्तियाँ भी समष्टिगत सत्य का स्थान ले लेती हैं और स्वार्थ-साधन के प्रयास ही व्यापक मतिशीलता के पर्याय बन जाते हैं।

जहाँ तक जीवन का प्रश्न है उस सजीवता के वैभव में पैठने का न बुद्धिवादी को अवकाश है न इच्छा। वह तो उसे दर्पण की छाया के समान स्पर्श से दूर रखकर देखने का अभ्यास करते-करते स्वयं इतना निर्लिप्त हो गया है कि उसे ज्ञान का रजिस्टर मात्र कहना चाहिए। जीवन के व्यापक स्पन्दन से वह जितना दूर हटता जाता है उतना ही विकास के मूल तत्त्वों से अपरिचित बनता जाता है। और अन्त में उसका भारी पर अज्ञानात्मक ज्ञान उसी के जीवन की उष्णता को ऐसे दबा देता है जैसे छोटी-सी चिनगारी को राख का ढेर। आज की आवश्यकताओं के अनुसार वह संसार-भर के सम्बन्ध में बहुत कुछ जानता है। परन्तु अपनी धरती की अनुभूति के बिना यह ज्ञान बीज चुनते रहने के लिए ही उनके मस्तिष्क की सारी सीमा घेर रखते हैं।

हमारे बुद्धिजीवी वर्ग में अधिकांश तो मानसिक हीनता की भावना में ही पलते और बढ़ते हैं। उनका बाह्य जीवन ही समुद्र पार के कतरे-ब्योंते आच्छादनों से अपनी नग्नता को नहीं छिपाये है अन्तर्जगत् को भी वहीं से लोहार की धौंकनी-जैसा स्पन्दन मिल रहा है। उनका पंगु-से-पंगु स्वप्न भी विदेशी पंख लगा लेने पर स्वर्ग का सन्देशवाहक मान लिया जाता है। उनका विरूप से विरूप आदर्श भी पश्चिमीय साँचे में ढलकर सुन्दरतम के अतिरिक्त और कोई संज्ञा नहीं पाता। उनका मूल्यहीन-से मूल्यहीन सिद्धान्त भी दूसरी संस्कृति की छाया का स्पर्श करते ही पारसों का शिरोमणि कहलाने लगता है। उनका दरिद्र-से-दरिद्र विचार भी देशी परिधान में विदेशी पैबन्द लगाकर समस्त विचार-जगत का एकछत्र सम्राट् स्वीकार कर लिया जाता है।

ऐसे अव्यवस्थित बुद्धिजीवियों में संस्कृति की रेखाएँ टूटी हुई और जीवन का चित्र अधूरा ही मिलेगा।

केवल श्रम ही जिसे स्पन्दन देता है, उस विशाल मानव-समूह की कथा कुछ दूसरी

हो है। बुद्धिजीवियों से उसका सम्पर्क छूटे हुए कितना समय बीता होगा, इसका अनुमान बिन्दु-बिन्दु से समुद्र बने हुए उसके अज्ञान और तिल-तिल करके पहाड़ बने हुए उसके अभावों से लगाया जा सकता है। आज उसकी जड़ता की खाई इतनी गहरी और चौड़ी हो गई है कि बुद्धिजीवी उस ओर झाँकने के विचार-मात्र से सभीत हो जाता है, पार करना तो दूर की बात है।

साधारणतः शारीरिक श्रम और बुद्धि-व्यवसाय एक-दूसरे की गति के अवरोधक हैं, इसी से प्रायः विचारों की उलझन से छुटकारा पाने का इच्छुक एक-न-एक श्रम का कार्य आरम्भ कर देता है। इसके अतिरिक्त और भी एक स्पष्ट अन्तर है। बुद्धि जीवन को सूक्ष्मता से स्पर्श करती है, परन्तु उसकी सम्पूर्णता पर एक व्यापक अधिकार बनाये रखना नहीं जानती। इसके विपरीत, श्रम पूरा भार डालकर ही जीवन को अपना परिचय देता है, परन्तु उसकी सम्पूर्णता को सब ओर से नहीं घेरता। प्रायः बुद्धि-व्यवसाय जितनी शीघ्रता से जीवनी शक्ति का क्षय कर सकता है, उतनी शीघ्रता की क्षमता श्रम में नहीं। इसी से जीवन के व्यावहारिक धरातल पर, बुद्धि-व्यवसायी का कुछ शिथिल और अस्त-व्यस्त मिलना जितना सम्भव है, श्रमिक का दृढ़ और व्यवस्थित रहना उतना ही निश्चित। नैतिकता की दृष्टि से भी श्रम मनुष्य को नीचे गिरने की इतनी सुविधा नहीं देता, जितनी बुद्धि दे सकती है, क्योंकि श्रमिक के श्रम के साथ उसकी आत्मा का बिक जाना असम्भव नहीं है, परन्तु बुद्धि-विक्रेता की तुला पर उसकी आत्मा का चढ़ जाना अनिवार्य रहता है।

श्रम की स्फूर्तिदायक पवित्रता के कारण ही सब देशों में सब युगों के सन्देशवाहक और साधक उसे महत्त्व दे सके हैं। अनेक तो जीवन के आदि से अन्त तक उसी को आजीविका का साधन बनाये रहे। इस प्रकार जहाँ कहीं जीवन की स्वच्छ और स्वाभाविक गति है, वहाँ श्रम की किसी-न-किसी रूप में स्थिति आवश्यक रहती है।

केवल श्रम ही-श्रम के भार और विश्राम के साधनों के नितान्त अभाव ने हमारे श्रमजीवी जीवन का समस्त सौन्दर्य नष्ट कर दिया है। यह स्वाभाविक भी था। जिस मिट्टी से घर बनाकर हम आँधी, पानी, धूप, जाड़े आदि से अपनी रक्षा करते हैं, वही जब अपनी निश्चल स्थिति छोड़कर हमारे ऊपर आ पड़ती है, तब वज्रपात से कम सहायक नहीं होती। इस मानव-समष्टि में ज्ञान के अभाव ने रूढ़ियों को अतल गहराई दे दी है, यह मिथ्या नहीं और अर्थ-वैषम्य ने इसकी दयनीयता को असीम बना डाला है, यह सत्य है, परन्तु सब-कुछ सह-सुन, गुनकर हमें इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि श्रम का यह उपासक केवल बुद्धि-व्यापारी से अधिक स्वाभाविक मनुष्य भी है और मानवीय गुणों का उससे अधिक विश्वसनीय रक्षक भी। इतना ही नहीं, युगों से सूक्ष्म परिष्कार और सीमित विस्तार पाने वाली नृत्य, गीत, चित्र आदि कलाओं के मूलरूप भी यह सँजोए है और उपयोगी शिल्पों की विविध व्यावहारिकता भी वह सँभाले है। जीवन के गद्य में छन्द की वह जितनी क्षमता रखता है, उतनी किसी बुद्धिवादी में सम्भव नहीं। वास्तव में उसके प्रथम प्रहार के लिए बुद्धिजीवी ही विभीषण बन गया, अन्यथा उसके जीवन में विदेशियों की इतनी विस्तृत सेना का प्रवेश सहज न हो पाता।

हमारे कवि, कलाकार आदि बुद्धिजीवियों के विभिन्न स्तरों में उत्पन्न हुए और

नहीं पले हैं। अतः अपने वर्ग के संस्कारों का अंशभागी और गुण अवगुणों का उत्तराधिकारी होना उनके लिए स्वाभाविक ही रहेगा। उनके मस्तिष्क ने अपने वातावरण की विषमता का ज्ञान बहुत विस्तार से संचित किया और उनके हृदय ने व्यक्तिगत सीमा में सुख दुःखों को बहुत तीव्रता से अनुभव किया। विभिन्न संस्कारों की वर्ण छाया विविधता से भरी भावभूमि और चिन्तन की अनेक दिशाओं ने मिलकर उनके जीवन को एक सीमित स्थिति दे दी थी। परन्तु उस एक स्थिति को सम्पूर्ण वातावरण में सार्थकता देने के लिए समष्टि का वही स्पर्श अपेक्षित था जो फूल को समीर से मिलता है—अदीख निश्चित पर व्यापक। जिस समाज में उनकी स्वाभाविक स्थिति थी वह विषमताओं में बिखर चुका था उससे ऊँचे वर्ग के अहंकार और कृत्रिमता ने उससे परिचय असम्भव कर दिया था और निम्न में उतरने पर उन्हें आभिजात्य के खो जाने का भय था। फलतः उन्होंने अपने एकाकीपन के शून्य को अपनी ही प्यास की आग और जिज्ञासा के पानी से इस तरह भर लिया कि उनका हर स्वप्न मुकुलित होते ही झुलस गया और प्रत्येक आनन्द अंकुरित होते ही ठिठुर गया।

बीज केवल अकेले रहने के लिए, अन्य बीजों की समष्टि नहीं छोड़ता। वह तो नूतन समष्टि सम्भव करने के लिए ही ऐसी पृथक स्थिति स्वीकार करता है। यदि वही बीज पुरानी धरती और सनातन आकाश की अवज्ञा करके अपनी असाधारणता बनाये रखने के लिए वायु पर उड़ता ही रहे तो संसार के निकट अपना साधारण परिचय भी खो बैठेगा।

कवि कलाकार, साहित्यकार, सब समष्टिगत विशेषताओं को नव-नव रूपों में साकार करने के लिए ही उससे कुछ पृथक खड़े जान पड़ते हैं परन्तु यदि वे अपनी असाधारण स्थिति को जीवन की व्यापकता में साधारण न बना सकें तो आश्चर्य की वस्तु-मात्र रह जायेंगे। महान्-से-महान् कलाकार भी हमारे भीतर कौतुक का भाव न जगाकर एक परिचय भरा अपनापन ही जगायेगा क्योंकि वह धूमकेतु-सा आकस्मिक और विचित्र नहीं किन्तु ध्रुव-सा निश्चित और परिचित रहकर ही हमें मार्ग दिखाने में समर्थ है।

आज कलाकार समष्टि का महत्त्व समझता है परन्तु इस ज्ञान के साथ भी उसके सम्पूर्ण जीवन की स्वीकृति नहीं है। बौद्धिक धरातल पर चिर उपेक्षित मानवों की प्रतिष्ठा करते समय उसे अपनी विशालता की जितनी चेतना है उतनी अपने देवताओं की नहीं। ऐसी स्थिति बहुत स्पृहणीय नहीं क्योंकि वह सिद्धान्तों को व्यापार का सहज साधन बन जाने की सुविधा दे देती है। जीवन के स्पन्दन से शून्य होकर सिद्धान्त जब धर्म समाज नीति आदि की संकीर्ण पीठिका पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं तब वे व्यवसाय-वृत्ति को जैसी स्वीकृति देते हैं वैसी जीवन के विकास को नहीं दे पाते। साहित्य काव्य आदि के धरातल पर भी इस नियम का अपवाद नहीं मिलेगा।

नवीन साहित्यकार और कवि के बुद्धि-वैभव और अनुभूति की दरिद्रता ने ऐसी क्रियाशीलता को जन्म दे दिया है जो सिद्धान्तों को मांज-धोकर रात-दिन चमकाती रहती है पर जीवन में जंग लग जाने देती है। वे अपने जीवन से बिना कुछ दिये ही एक पत्र से सब-कुछ ले लेना चाहते हैं और दूसरे को बहुत मूल्य पर देने की इच्छा रखते हैं। इस

बलचारा-भूति में उन दोनों पक्षों को साथ होने की सम्भावना कम रहती है। काव्य में तो जीवन का निरन्तर स्पर्श और उसकी मार्मिक अनुभूति सबसे अधिक अपेक्षित है अतः यह प्रवृत्ति न उसे गहराई देती है न व्यापकता। यह युग यथार्थवादी है अतः जीवन के स्पन्दन के बिना उसका यथार्थ इतना शीतल हो उठता है कि अश्लील उत्तेजनाओं से उसमें कृत्रिम उष्णता भरी जाती है।

काव्य की उत्कृष्टता किसी विशेष विषय पर निर्भर नहीं उसके लिए हमारे हृदय को ऐसा पारस होना चाहिए जो सबको अपने स्पर्श-मात्र से सोना कर दे। एक साधारण-से चित्रकार का जब फटा कागज टूटी तूलिका और थोड़े दाम देने वाला रंग मिल जाता है तब क्षण भर में वह निर्जीव कागज सजीव हो उठता है, रंगों में कल्पना साकार हो उठती है रेखाओं में जीवन प्रतिबिम्बित हो उठता है उस पार्थिव वस्तु के अपार्थिव रूप के साथ हम हँसते हैं रोते हैं और उसे मानवीय सम्बन्धों में बाँध रखना चाहते हैं। एक निरर्थक झनझन से पूर्ण टूटे एकतारे के जर्जर तारों में गायक की कुशल उँगलियाँ उलझ जाने पर, उन्हीं तारों में हमारे सारे दुःख-सुख रो-हँस उठते हैं सारी सीमा के सजीव बन्धन छिन्न-भिन्न होकर बह जाते हैं और हम किसी अज्ञात सौन्दर्य लोक में पहुँचकर चकित-से मुग्ध-से उसे सदा सुनते रहने की इच्छा करने लगते हैं। निरन्तर पैरों से ठुकराए जाने वाले कुरूप पाषाण से शिल्पी के कुशल हाथ का स्पर्श होते ही वही पाषाण मोम के समान अपना आकार बदल डालता है, उसमें हमारे सौन्दर्य के अखिल के आदर्श जाग उठते हैं और तब उसी को हम देवता के समान प्रतिष्ठित करके चन्दन-फूल से पूजकर अपने को धन्य मानते हैं। जल का एक रंग भिन्न-भिन्न रंग वाले पात्रों में जैसे अपना रंग बदल लेता है उसी प्रकार चिरन्तन सुख-दुःख हमारे हृदयों की सीमा और रंग के अनुसार बनकर प्रकट होते हैं। हमें अपने हृदयों की सारी अभिव्यक्तियों को एक ही रूप देने को आकुल न होना चाहिए, क्योंकि यह प्रयत्न हमें किसी भी दिशा में सफल न होने देगा।

मनुष्य स्वयं एक सजीव कविता है। कवि की कृति तो उस सजीव कविता का शब्दचित्र मात्र है जिससे उसका व्यक्तित्व और संसार के साथ उसकी एकता जानी जाती है। वह एक संसार में रहता है और उसने अपने भीतर एक और इस संसार से अधिक सुन्दर, अधिक सुकुमार संसार बसा रखा है। मनुष्य में जड़ और चेतन दोनों एक अगाढ़ आलिंगन में आबद्ध रहते हैं। उसका बाह्याकार पार्थिव और सीमित संसार का भाग है और अन्तस्तल अपार्थिव असीम का—एक उसको विश्व से बाँध रखता है तो दूसरा उसे कल्पना द्वारा उड़ाता ही रहना चाहता है।

जड़ चेतन के बिना विकास-शून्य है और चेतन जड़ के बिना आकार-शून्य। इन दोनों की क्रिया और प्रतिक्रिया ही जीवन है। चाहे कविता किसी भाषा में हो चाहे किसी वाद के अन्तर्गत चाहे उसमें पार्थिव विश्व की अभिव्यक्ति हो चाहे अपार्थिव की और चाहे दोनों के अविच्छिन्न सम्बन्ध की उसके अमूल्य होने का रहस्य यही है कि वह मनुष्य के हृदय से प्रवाहित हुई है। कितनी ही भिन्न परिस्थितियों में होने पर भी हम हृदय से एक ही हैं यही कारण है कि सब मनुष्यों के देश काल समाज आदि में समुद्र के तटों-

जैसा अन्तर होने पर भी वे एक-दूसरे के हृदयगत भावों को समझने में समर्थ हो सकते हैं। जीवन की एकता का यह छिपा हुआ सूत्र ही कविता का प्राण है। जिस प्रकार वीणा के तारों के भिन्न स्वरों में एक प्रकार की एकता होती है जो उन्हें एक साथ मिलकर चलने की ओर अपने साम्य से संगीत की सृष्टि करने की क्षमता देती है उसी प्रकार मानव-हृदयों में एकता छिपी हुई है। यदि ऐसा न होता तो विश्व का संगीत ही बसुरा हो जाता।

फिर भी न जाने क्यों हम लोग अलग-अलग छोटे-छोटे दायरे बनाकर उन्हीं में बैठे-बैठे सोचा करते हैं कि दूसरा हमारी पहुँच से बाहर है। एक कवि विश्व का या मानव का बाह्य-सौन्दर्य देखकर सब-कुछ भूल जाता है सोचता है उसके हृदय से निकला हुआ स्वर अलग एक संगीत की सृष्टि करेगा दूसरा विश्व की आन्तरिक वेदनाकुल-सुषमा पर मतवाला हो उठता है समझता है उसके हृदय से निकला हुआ स्वर सबसे अलग एक निराले संगीत की सृष्टि कर लेगा। परन्तु वे नहीं सोचते कि उन दोनों के स्वर मिलकर ही विश्व-संगीत की सृष्टि कर रहे हैं।

मनुष्य चाहे प्रकृति के जड़ उपादानों का संघात विशेष माना जाय और चाहे किसी व्यापक चेतना का अंशभूत परन्तु किसी भी अवस्था में उसका जीवन इतना सरल नहीं है कि हम उसकी पूर्ण तृप्ति के लिए गणित के अंकों के समान एक निश्चित सिद्धान्त दे सकें। जड़ द्रव्य से अन्य पशु तथा वनस्पति-जगत् के समान ही उसका शरीर नियमित और विकसित होता है अतः प्रत्यक्ष रूप से उसकी स्थिति बाह्य जगत् में ही रहेगी और प्राणिशास्त्र के सामान्य नियमों से संचालित होगी। यह सत्य है कि प्रकृति में जीवन के जितने रूप देखे जाते हैं मनुष्य उनमें इतना विशिष्ट जान पड़ता है कि सृजन की स्थूल समष्टि में भी उसका निश्चित स्थान खोज लेना कठिन हो जाता है परन्तु इस कठिनाई के मूल में तत्त्वतः कोई अन्तर न होकर विकास क्रम में मनुष्य का अन्यतम और अन्तिम होना ही है।

यदि सबके लिए सामान्य यह बाह्य संसार ही उसके जीवन को पूर्ण कर देता तो शेष प्राणिजगत् के समान वह बहुत-सी जटिल समस्याओं से बच जाता। परन्तु ऐसा नहीं हो सका। उसके शरीर में जैसा भौतिक जगत् का चरम विकास है उसकी चेतना भी उसी प्रकार प्राणिजगत् की चेतना का उत्कृष्टतम रूप है।

मनुष्य का निरन्तर परिष्कृत होता चलने वाला यह मानसिक जगत् वस्तु-जगत् के संघर्ष से प्रभावित होता है उसके सकेतों में अपनी अभिव्यक्ति चाहता है परन्तु उसके बन्धनों को पूर्णता में स्वीकार नहीं करना चाहता। अतः जो कुछ प्रत्यक्ष है केवल उतना ही मनुष्य नहीं कहा जा सकता—उसके साथ-साथ उसका जितना विस्तृत और गतिशील अप्रत्यक्ष जीवन है उसे भी समझना होगा प्रत्यक्ष जगत् में उसका भी मूल्यांकन करना होगा अन्यथा मनुष्य के सम्बन्ध में हमारा सारा ज्ञान अपूर्ण और सारे समाधान अधूरे रहेंगे।

मनुष्य के इस दोहरे जीवन के समान ही उसके निकट बाह्य जगत् की सब वस्तुओं का उपयोग भी दोहरा है। ओस की बूँदों से भरे गुलाब के दल जब हमारे हृदय में सुप्त

एक अव्यक्त सौन्दर्य और सुख की भावना को जागृत कर देते हैं। उनकी क्षणिक सुषमा हमारे मस्तिष्क को चिन्तन की सामग्री देती है। तब हमारे निकट उनका जो उपयोग है वह उस समय के उपयोग से सर्वथा भिन्न होगा जब हम उन्हें मिश्री में मिलाकर और गुलकन्द नाम देकर औषधि के रूप में ग्रहण करते हैं। समय, आवश्यकता और वस्तु के अनुसार इस दोहरे उपयोग की मात्रा तथा तज्जनित रूप कभी-कभी इतने भिन्न हो जाते हैं कि हमारा अन्तर्जगत् बहिर्जगत् का पूरक होकर भी उसका विरोधी जान पड़ता है और हमारा बाह्य जीवन मानसिक जीवन से संचालित होकर भी उसके सर्वथा विपरीत।

मनुष्य के अन्तर्जगत् का विकास उसके मस्तिष्क और हृदय का परिष्कृत होते चलना है। परन्तु इस परिष्कार का क्रम इतना जटिल होता है कि वह निश्चित रूप से केवल बुद्धि या भावना का सूत्र पकड़ने में असमर्थ ही रहता है। अभिव्यक्ति के बाह्य रूप में बुद्धि या भावना की प्रधानता ही हमारी धारणा का आधार बन सकती है कि हमारे मस्तिष्क का विशेष परिष्कार चिन्तन में हो सका है और हृदय का जीवन में। एक में हम बाह्य जगत् के संस्कारों को अपने भीतर लाकर उनका निरीक्षण-परीक्षण करते हैं और दूसरे में अपने अन्तर्जगत् की अनुभूतियों को बाहर लाकर उनका मूल्य आँकते हैं।

चिन्तन में हम अपनी बहिर्मुखी वृत्तियों को समेटकर किसी वस्तु के सम्बन्ध में अपना बौद्धिक समाधान करते हैं, अतः कभी-कभी वह इतना ऐकान्तिक होता है कि अपने से बाहर प्रत्यक्ष जगत् के प्रति हमारी चेतना पूर्ण रूप से जागरूक ही नहीं रहती और यदि रहती है तो हमारे चिन्तन में बाधक होकर। दार्शनिक में हम बुद्धि-वृत्ति का ऐसा ही ऐकान्तिक विकास पाते हैं, जो उसे जैसे-जैसे संसार के अव्यक्त सत्य की गहराई तक बढ़ाता चलता है वैसे-वैसे उसके व्यक्त रूप के प्रति वीतराग करता जाता है। वैज्ञानिक के निरन्तर अन्वेषण के मूल में भी यही वृत्ति मिलेगी। अन्तर केवल इतना ही है कि उसके चिन्तनमय मनन का विषय सृष्टि के व्यक्त विविध रूपों की उलझन है, उन रूपों में छिपा अव्यक्त सूक्ष्म नहीं। अपनी अपनी खोज में दोनों ही वीतराग हैं, क्योंकि न दार्शनिक अव्यक्त सत्य से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की प्रेरणा पाता है और न वैज्ञानिक व्यक्त जड़ द्रव्य के विविध रूपों में रागात्मक स्पर्श का अनुभव करता है। एक अव्यक्त के रहस्य की गहराई तक पहुँचना चाहता है, दूसरा उसी के प्रत्यक्ष विस्तार की सीमा तक, परन्तु दोनों ही स्थितियों में बुद्धि से अनुशासित हृदय को मौन रहना पड़ता है, इसी से दार्शनिक और वैज्ञानिक जीवन का वह सम्पूर्ण चित्र जो मनुष्य और शेष सृष्टि के रागात्मक सम्बन्ध से अनुप्राणित है, नहीं दे सकते।

मनुष्य के ज्ञान की कुछ शाखाएँ, धर्म, विज्ञान आदि के समान अपनी दिशा में व्यापक न रहकर जीवन के किसी अंश-विशेष से सम्बन्ध रखती हैं, अतः जहाँ वे आगे बढ़ते हैं वहाँ वे जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों के साथ परिवर्तित होकर अपनी तात्कालिक नवीनता में ही विकसित कहलाती हैं।

मनुष्य एक ओर अपने मानसिक जगत् की दुरूहता को स्पष्ट करता चलता है, दूसरी ओर अपने बाह्य समाज की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करता है। उसके समाजशास्त्र, राजनीति आदि उसकी बाह्य स्थिति की व्याख्या हैं, उसका विज्ञान प्रकृति

व मूल तत्त्वों से उसके संघर्ष का इतिहास है, उसका दर्शन उसके तथा सृष्टि के रहस्यमय जीवन का बौद्धिक निरूपण है और उसका साहित्य उसके उस समग्र जीवन का सजीव चित्र है, जो राजनीति से शासित, समाजशास्त्र से नियमित, विज्ञान से विकसित तथा दर्शन से व्यापक हो चुका है।

साहित्य में मनुष्य की बुद्धि और भावना इस प्रकार मिल जाती है, जैसे धूपछाँही वस्त्र में दो रंगों के तार, जो अपनी-अपनी भिन्नता के कारण ही अपने रंगों से भिन्न एक तीसरे रंग की सृष्टि करते हैं। हमारी मानसिक वृत्तियों की ऐसी सामञ्जस्यपूर्ण एकता साहित्य के अतिरिक्त और कहीं सम्भव नहीं। उसके लिए न हमारा अन्तर्जगत् त्याज्य है और न बाह्य, क्योंकि उसका विषय सम्पूर्ण जीवन है, आंशिक नहीं।

मनुष्य के बाह्य जीवन में जो कुछ ध्वंस और निर्माण हुआ है, उसकी शक्ति और दुर्बलता की जो परीक्षाएँ हुई हैं, जीवन-संघर्ष में उसे जितनी हार-जीत मिली है, केवल उसी का ऐतिहासिक विवरण दे देना साहित्य का लक्ष्य नहीं। उसे यह भी खोजना पड़ता है कि इस ध्वंस के पीछे कितनी विरोधी मनोवृत्तियाँ काम कर रही थीं, निर्माण मनुष्य की किस सृजनात्मक प्रेरणा का परिणाम था, उसकी शक्ति के पीछे कौन-सा आत्मबल सजग था, दुर्बलता उसके किस अभाव से प्रसूत थी, हार उसकी किस निराशा की संज्ञा थी और जीत में उसकी कौन-सी कल्पना साकार हो गयी।

जीवन का वह असीम और चिरन्तन सत्य जो परिवर्तन की लहरों में अपनी क्षणिक अभिव्यक्ति करता रहता है, अपने व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही रूपों की एकता लेकर साहित्य में व्यक्त होता है। साहित्यकार जिस प्रकार यह जानता है कि बाह्य जगत् में मनुष्य जिन घटनाओं को जीवन का नाम देता है, वे जीवन के व्यापक सत्य की गहराई और उसके आकर्षण की परिचायक हैं, जीवन नहीं, उसी प्रकार यह भी उससे छिपा नहीं कि जीवन के जिस अव्यक्त रहस्य की वह भावना कर सकता है, उसी की छाया इन घटनाओं को व्यक्त रूप देती है। इसी से देश और काल की सीमा में बँधा साहित्य रूप में एकदेशीय होकर भी अनेकदेशीय और युग-विशेष से सम्बद्ध रहने पर भी युग-युगान्तर के लिए संवेदनीय बन जाता है।

साहित्य की विस्तृत रंगशाला में हम कविता को कौन-सा स्थान दें, यह प्रश्न भी स्वाभाविक ही है। वास्तव में जीवन में कविता का वही महत्त्व है जो कठोर भित्तियों से घिरे कक्ष के वायुमण्डल को अनायास ही बाहर के उन्मुक्त वायुमण्डल से मिला देने वाले वातायन को मिला है। जिस प्रकार वह आकाश-खण्ड को अपने भीतर बन्दी कर लेने के लिए अपनी परिधि में नहीं बाँधता—प्रत्युत हमें उस सीमा-रेखा पर खड़े होकर क्षितिज तक दृष्टि-प्रसार की सुविधा देने के लिए—उसी प्रकार कविता हमारे व्यष्टि-सीमित जीवन को समष्टि-व्यापक जीवन तक फैलाने के लिए ही व्यापक सत्य को अपनी परिधि में बाँधती है। साहित्य के अन्य अंग भी ऐसा करने का प्रयत्न करते हैं परन्तु न उनमें सामञ्जस्य की ऐसी परिणति होती है, न आयाम-हीनता। जीवन की विविधता में सामञ्जस्य की खोज लेने के कारण ही कविता उन ललित कलाओं में उत्कृष्टतम स्थान पा सकी है, जो गति की विभिन्नता, स्वरों की अनेकरूपता या रेखाओं की विषमता के सामञ्जस्य पर स्थित हैं।

कविता मनुष्य के हृदय के समान ही पुरातन है, परन्तु अब तक उसकी कोई ऐसी परिभाषा न बन सकी, जिसमें तर्क-वितर्क की सम्भावना न रही हो। धुँधले अतीत भूत से लेकर वर्तमान तक और 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' से लेकर आज के शुष्क बुद्धिवाद तक जो कुछ काव्य के रूप और उपयोगिता के सम्बन्ध में कहा जा चुका है, वह परिमाण में कम नहीं, परन्तु अब तक न मनुष्य के हृदय का पूर्ण परितोष हो सका है और न उसकी बुद्धि का समाधान। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि प्रत्येक युग अपनी विशेष समस्याएँ लेकर आता है, जिनके समाधान के लिए नई दिशाएँ खोजती हुई मनोवृत्तियाँ उस युग के काव्य और कलाओं को एक विशिष्ट रूपरेखा देती हैं। मूलतत्त्व न जीवन के कभी बदले हैं और न काव्य के, कारण वे उस शाश्वत चेतना से सम्बद्ध हैं, जिसके अखण्ड एक रहने पर ही जीवन की अनेकरूपता निर्भर है।

अतीत युगों के जितने सञ्चित ज्ञानकोष के हम अधिकारी हैं, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि कविता मानव ज्ञान की अन्य शाखाओं की सदैव अग्रजा रही है। यह क्रम अकारण और आकस्मिक न होकर सकारण और निश्चित है, क्योंकि जीवन में चिन्तन के शैशव में ही भावना तरुण हो जाती है। मनुष्य बाह्य संसार के साथ कोई बौद्धिक समझौता करने के पहले ही उसके साथ एक रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, यह उसके शिशु-जीवन से ही स्पष्ट हो जायगा। यदि हम मनुष्य के मस्तिष्क के विकास की तुलना फल के विकास से करें, जो अपनी सरसता में सदा ही परिमित है, तो उसके हृदय के विकास को फूल का विकास कहना उचित होगा, जो अपने सौरभ में अपरिमित होकर ही खिला हुआ माना जाता है। एक अपनी परिपक्वता में पूर्ण है और दूसरा अपने विस्तार में।

यह सत्य है कि मनुष्य के ज्ञान की समष्टि में कविता को और विशेषतः उसके बाह्य रूप को इतना महत्त्व मनुष्य की भावुकता से ही नहीं, उसके व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी मिला था। जिस युग में मानव-जाति ने समस्त ज्ञान को एक कण्ठ से दूसरे कण्ठ में संक्रमण करते हुए ही रखना पड़ता था, उस युग में उसकी प्रत्येक शाखा को अपने अस्तित्व के लिए छन्दबद्धता के कारण स्मृतिसुलभ पद्य का ही आश्रय लेना पड़ा। इसके अतिरिक्त शुष्क ज्ञान के अधिक ग्राह्य होने के लिए भी पद्य की रूपरेखा ने वह बन्धन स्वीकार किया, जिसमें विषय ध्वनि और प्रवाह से युक्त होकर अधिक प्रभावशाली हो जाते हैं। कहना व्यर्थ होगा कि काव्य के उस धुँधले आदिम-काल से लेकर जब आवश्यकतावश ही मनुष्य प्रायः अपने बौद्धिक निष्कर्षों को भी काव्य-कला में प्रतिष्ठित करने के लिए बाध्य हो जाता था, आज गद्य के विकास-काल तक ऐसी कविता का अभाव नहीं रहा।

साधारणतः हमारे विचार विज्ञापक होते हैं और भाव संक्रामक, इसी से एक की सफलता पहले मननीय होने में है और दूसरे की पहले संवेदनीय होने में। कविता अपनी संवेदनीयता में ही चिरन्तन है, चाहे युग विशेष के स्पर्श से उसकी बाह्य रूपरेखा में कितना ही अन्तर क्यों न आ जाय। और यह संवेदनीयता भाव-पक्ष ही से सम्भव है।

महादेवी : एक सर्वेक्षण

इन्द्रनाथ मदान

छायावादी कवियों में महादेवी का विशिष्ट स्थान है। यह इसलिए नहीं कि वह नारी हैं वरन इसलिए कि उन्होंने छायावादी काव्य के भाव-पक्ष तथा कला-पक्ष को विकसित किया है। महादेवी की अन्य छायावादी कवियों की अपेक्षा इस काव्य को सबसे अधिक देन यह है कि कविता उनके कण्ठ से विशुद्ध अनुभूतिमयी होकर फूटी है। हृदय की सूक्ष्मतम एवं गहनतम भावनाओं को जितनी सफलता के साथ महादेवी ने व्यक्त किया है उतनी सफलता के साथ अन्य छायावादी कवि शायद ही कर सके हों। उनके काव्य में भाव-कला का विकास न होकर हृदय की झंकार भी है। प्रसाद, निराला और पंत वस्तुपरक कविता लिखने की ओर भी उन्मुख रहे हैं—प्रसाद 'कामायनी' लिखकर, निराला 'तुलसीदास' और पंत प्रगतिशील कविताओं का सृजन करके। परन्तु महादेवी ने आरम्भ से लेकर अन्त तक आत्मपरक कविताएँ ही लिखी हैं। उनकी वाणी प्रगीत-काव्य के माध्यम से मुखरित हुई है जिसमें गहन वेदना और सुकुमार कल्पना का मधुर मिलन है। प्रगीत-काव्य के लिए यह आवश्यक है कि एक ही मार्मिक उद्गार रस-भरे शब्दों में स्वाभाविक रूप से फूट पड़े और उसकी वेदना हृदय में घर करती चली जाय। महादेवी के काव्य का यह गुण है कि उनके गीत सीधे हृदय को झंकृत करते हैं। छायावादी काव्य में प्रसाद ने यदि मादकता को निभाया, निराला ने उसे मुक्त छन्द दिया, पंत ने शब्दों को खराद पर चढ़ा कर उसे सुडौल और सरल बनाया तो महादेवी ने उसकी भावात्मकता को समृद्ध किया है। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रसाद, निराला और पंत ने भाव-पक्ष की उपेक्षा की है। उनकी कविता में भी भाव-पक्ष का समृद्ध रूप निखरकर सम्मुख आया है। महादेवी का कला-पक्ष की अपेक्षा भाव-पक्ष के प्रति अधिक आग्रह है। इस बीच में यदि स्वाभाविक भावना स्वतः ही नवीन छन्द में निसृत हो गई है तो वह महादेवी का जान-बूझकर छंद-परिवर्तन करना या नवीन प्रयोग करना नहीं कहा जा सकता जैसे कि प्रसाद, पंत तथा निराला के काव्य में हुआ है। प्रसाद ने अनेक प्रयोग किये हैं जैसाकि उनका 'प्रेम-पथिक' लिया जा सकता है जिसे उन्होंने ब्रजभाषा से खड़ी बोली में और बदले हुए छंदों में लिखा। पंत ने तो स्पष्ट ही 'पल्लव' की भूमिका में शब्दों की योजना में प्रयोग और ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली के अन्तर के साथ नवीन छन्दों की ओर भी इंगित किया है। निराला

छन्द के नाते विख्यात हैं। उनकी कविता 'बंधनमय छंदों की छोटी राह' छोड़कर बही है। परन्तु महादेवी ने ऐसा नहीं किया है। उन्होंने केवल आत्म-प्रकाशन पर दृष्टि रखी है और इस बीच में यदि नवीन छन्द, प्रतीकों और छंदों का प्रयोग हो गया है तो वह संयोग वश ही हुआ है। और वह इतना अधिक हुआ है कि उसका विशेष कारण है। उनकी कविता में वेदना या टीस अधिक है जो उनके काव्य की मूल भावना है। महादेवी की कविता में वेदना और करुणा का साम्राज्य है। वेदना के ताप से गलकर उनके हृदय की द्रवीभूत अनुभूति पारे की भाँति तरल होकर बह निकली है।

महादेवी की कृतियों से अवगत होना अपेक्षित है। अब तक इनके पाँच काव्य संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—'नीहार' 'रश्मि' 'नीरजा' 'सान्ध्यगीत' और 'दीपशिखा'। 'नीहार' 'रश्मि' 'नीरजा' तथा 'सान्ध्यगीत' की १८५ कविताएँ एक ही संग्रह 'यामा' में संकलित की गई हैं। इस प्रकार आज 'यामा' और 'दीपशिखा' उनके काव्य के दो संग्रह उपलब्ध होते हैं। इन काव्य-ग्रन्थों में संग्रहीत गीतों से जहाँ महादेवी के आध्यात्मिक चिन्तन और रहस्यमयी भावना का पता चलता है वहाँ उनकी 'अतीत के चलचित्र' 'स्मृति की रेखाएँ' आदि गद्य-कृतियों में उनके सामाजिक चिन्तन के स्वरूप के दर्शन होते हैं। इन रेखाचित्रों और संस्मरणों में महादेवी की आत्मा छायावाद की सुन्दर भूमि से सामाजिक यथार्थ की कठोर भूमि पर उतर आई है। लेकिन उनकी संवेदना इतनी सरल और पावन है कि जिन व्यक्तियों को लेकर ये रेखाचित्र लिखे गए हैं उनमें महादेवी का रागात्मक सम्बन्ध हो गया है। उनकी दयनीय दशा का चित्र अंकित करते हुए महादेवी ने व्यंग्य का भी आश्रय लिया है जो आज के गद्य की एक प्रमुख विशेषता है। परन्तु गद्य में भी उनकी गहन दृष्टि का आलोक है। उनके विचारक रूप की झाँकी पाने के लिए 'शृंखला की कड़ियाँ' और 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' पठनीय हैं। इनमें उनके व्यक्तित्व का सामाजिक पक्ष झलकता है जिसकी प्रायः उपेक्षा की जाती है। पहली कृति में नारी को लेकर समाज के सम्बन्ध में वस्तु-स्थिति के चित्रण के साथ वैज्ञानिक विवेचन किया गया है और दूसरी में साहित्य की समस्याओं—छायावाद, गीतिकाव्य आदि—पर भूमिकाओं में अपने गम्भीर चिन्तन का परिचय दिया है। आधुनिक साहित्यिक समस्याओं पर लिखे ये निबन्ध महादेवी के विशिष्ट दृष्टिकोण को व्यक्त करते हैं।

उनके काव्य की मूल विशेषताओं का अनुशीलन करने के लिए उनके व्यक्तित्व के दोनों पक्षों का मन्थन आवश्यक है। इसमें सन्देह नहीं है कि महादेवी का व्यक्तित्व अपना निजत्व रखता है। भक्ति-काल में जो स्थान मीरा को प्राप्त था वही छायावाद में महादेवी को उपलब्ध है और इसी को देखकर लोग उन्हें आधुनिक युग की मीरा भी कहते हैं। इस विषय में कुछ मतभेद भी पाया जाता है। महादेवी स्वयं इस प्रकार मीरा से उपमा देना अनुचित एवं असंगत समझती हैं। इस विषय पर सम्मति देने का लोभ संवरण करना भी कठिन है। जहाँ तक दुःख-दर्द और पीड़ा-कराह का सम्बन्ध है वहाँ तक मीरा और महादेवी में विशेष अन्तर नहीं है। मीरा राजकुमारी थीं और उन्होंने 'मेरो दर्द न जाने कोय' की पुकार लगाई थी। महादेवी यद्यपि राजघराने में उत्पन्न नहीं हुईं परन्तु ऐसे सम्पन्न परिवार में उनका जन्म हुआ है जहाँ सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ

प्राप्त थी। उन्होंने अपने छन्दों में कहा है कि "मधुमय कोमल कहाँ तू आ गई परदेशिनी री"। इस प्रकार वेदना और पीड़ा का संसार दोनों के पास है। अन्तर है परिस्थितियों और शिक्षा-दीक्षा का। मीरा रहस्यवादी सन्तों की परम्परा के संस्कार लेकर आई थी और रैदास की कृपा से उन्होंने सहज ज्ञान का प्रकाश प्राप्त किया था। महादेवी बीसवीं सदी के वैज्ञानिक युग में पैदा हुई हैं जहाँ वह भिक्षुणी भी नहीं बन पाईं। उनकी शिक्षा भी बड़े-बड़े ऊँचे भवनों में हुई है। मीरा ने अपने को "गिरधर गोपाल" के प्रति समर्पित कर दिया था और अँसुवन जल सींचि-सींचि प्रेम-बेलि बोई थी। उनका प्रियतम सगुण साकार था। महादेवी ने भी असीम के प्रति अपने को समर्पित किया है और आँसू उन्होंने भी कम नहीं बहाए हैं। उनका प्रियतम निर्गुण निराकार है। मीरा की कविता में *त्रिकुटी अनहद-नाद, सुरत निरत, ज्ञान-दीपक, सुषुम्ना की सेज, सुन्न महल, हंस और अगम देश* की चर्चा होने पर भी रहस्य-भावना गौण है। उनके भावों का प्रेरक ब्रज का छलिया गिरधर नागर था। महादेवी में ऐसे प्रतीक नहीं मिलते क्योंकि आज का युग इन प्रतीकों का नहीं है। इसलिए महादेवी में नवीनता भी है और उनकी वेदना कुछ अस्पष्टता से युक्त होने पर भी तीव्रता में मीरा से कम है। मीरा की सीधी अभिव्यक्ति महादेवी में नहीं है। महादेवी के विचार और कल्पनाएँ भी मीरा में नहीं मिलेंगी। इस प्रकार के अन्तर के रहते हुए भी दोनों में कुछ समानताएँ भी हैं। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में महादेवी और मीरा दार्शनिक दृष्टि से एक ही परम्परा की अनुयायिनी प्रतीत होती हैं।

महादेवी मीरा हैं या नहीं इस विवाद में अधिक पड़ना संगत नहीं जान पड़ता। *उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व इतना प्रखर है कि उनका महत्त्व किसी प्रकार उपेक्षणीय नहीं है।* उनके प्रखर व्यक्तित्व की सबसे बड़ी साधना है—उनकी कविता में दुःखवाद का प्रभाव। यह दुःखवाद, यह पीड़ा का संसार, उनके जीवन में अनजाने ही बस गया है। और जब यह बस गया है तो महादेवी उसे संजोए चली जा रही हैं क्योंकि यह उनके उस प्रियतम की देन है, जो विश्व की प्रति साँस में अपना स्वर मिलाए हुए है। उनका हृदय प्रतिक्षण किसी अभाव का अनुभव करता है उसी की खोज में लीन रहता है। वह सदा शून्यता का अनुभव करती रहती हैं। उस सूनेपन में वह प्राणों का ही दीपक जलाकर दीवाली मनाती रहती हैं।[1] इस सूनेपन में दीवाली मनाने का आयोजन उन्होंने इसलिए किया है कि कभी उस प्रियतम से उनका मूक-मिलन हुआ था। परन्तु आज वह सब सपना हो गया है। आज तो उस मूक-मिलन द्वारा निर्मित पीड़ा के साम्राज्य में ही उन्हें रहना है जो क्षितिज के पार है जहाँ मिटना ही निर्वाण है तथा नीरव रोदन ही जहाँ पहरेदार है।[2]

---

१ अपने इस सूनेपन की मैं हूँ रानी मतवाली
प्राणों का दीप जला कर करती रहती दीवाली।

२ पीड़ा का साम्राज्य बस गया
उस दिन दूर क्षितिज के पार
मिटना था निर्वाण जहाँ,
नीरव रोदन पहरेदार?

पीड़ा का वरण करने के कारण उनके जीवन का लौकिक सुख-स्वप्न नष्ट हो गया है। लौकिक सुख-स्वप्न के नष्ट हो जाने से उल्लास और उत्साह के स्थान हृदय में विषाद और निराशा ने घर कर लिया है। उनकी यह पीड़ा जिसने विषाद और निराशा से हृदय को भर दिया है स्वयं उनके अपने जीवन में आई है और उसका माध्यम वह प्रियतम रहा है। जब उनकी प्यार से ललचाई पलकों पर व्रीड़ा का पहरा था तब उस चितवन ने उन्हें पीड़ा का साम्राज्य दे डाला और परिणाम यह हुआ कि उस सोने के सपने को देखे युग बीत गए तथा उनकी आँखों के कोष रीते हो गए, परन्तु फिर सोने के सपने का दर्शन का अवसर न मिला।[1]

लेकिन यह पीड़ा उन्हें अत्यन्त प्रिय है और वह इसे छोड़ना नहीं चाहतीं। बात यह है कि विरही के लिए पीड़ा का ही एकमात्र सहारा होता है। यदि वह भी न रहे तो फिर उसका जीना दूभर हो जाता है। उर्दू शायरी में एक बार किसी ने पूछा था कि तुम इस पीड़ा को क्यों अपने साथ चिपकाए फिरते हो, छोड़ क्यों नहीं देते ? एक शायर ने उनको उत्तर दिया था कि 'पीड़ा ही मेरा जीवन है, यदि इसे छोड़ दूँगा तो मैं मर जाऊँगा'। महादेवी के काव्य में कुछ इस प्रकार की ही स्थिति है। वह भी पीड़ा को अत्यन्त प्यार से सँभालकर रखना चाहती हैं। दुःख की जिज्ञासा उनको बुद्ध के जीवन से मिली है और वहीं से करुणा का स्रोत भी उनके जीवन में फूटा है। परन्तु यह उनके काव्य में अपना निजीपन बनाए हुए है। वह दुःख को सुख से अधिक महत्त्व देती हैं और उनका विश्वास है कि दुःख ही मानव-मात्र को परस्पर मिलाने का साधन है। उनका कथन है—'दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें किन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाए बिना नहीं गिर सकता। मनुष्य सुख को अकेले भोगना चाहता है परन्तु दुःख सबको बाँटकर—विश्व जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस

कैसे कहती हो सपना है,
अलि ! उस मूक मिलन की बात ?
भरे हुए अब तक फूलों में
मेरे आँसू उनके हास !

[1] इन ललचाई पलकों पर
पहरा था जब व्रीड़ा का
साम्राज्य मुझे दे डाला
उस चितवन ने पीड़ा का !
उस सोने के सपने को
देखे कितने युग बीते !
आँखों के कोष हुए हैं
मोती बरसा कर रीते !

प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है कवि का मोक्ष है। निस्सन्देह उनका यह कथन सत्य है। दुःख से जीवन में जो बल आता है उससे आत्मा उज्ज्वल बनती है। उपास्यदेव की आराधना में जितना ही अधिक कष्ट अनुभव होगा आत्मा उसके उतनी ही निकट पहुँचेगी। 'नीहार' और 'रश्मि' में उनका यही दुःखवाद तीव्र रूप में प्रकट हुआ है।

सम्भवतः महादेवी को पीड़ा इसलिए प्रेम है और करुणा इसीलिए प्रेय है कि इससे जीवन की साधना पूरी होती है। यही आनन्द की चरमावस्था तक ले जाने का साधन है। तभी वह अमरता के लोक को ठुकरा देती हैं और अपने मिटने के अधिकार को बचाए रखना चाहती हैं। जिस लोक में अवसाद नहीं वेदना नहीं जलन नहीं ऐसे लोक को लेकर क्या होगा? उनके लिए ऐसा लोक व्यर्थ है।[1] दूसरी बात यह कि यदि वह न जलेंगी तो उस पीड़ा के साम्राज्य में अन्धकार छा जायगा इसलिए वह नहीं चाहतीं कि अपने अस्तित्व को मिटा दें।[2] महादेवी के काव्य की यह एक बड़ी विशिष्टता है कि प्रत्येक साधक अन्त में मिलन चाहता है और मिलन में उस दुःख का पर्यवसान चाहता है जिस दुःख ने कि उसे मिलन की स्थिति तक पहुँचाया है परन्तु वह दुःख का पर्यवसान नहीं चाहतीं। वह उस मानिनी नायिका की तरह है जो प्रियतम की एक भूल पर रूठ जाती है और सौ-सौ बार मनाने पर भी नहीं मानती तथा जिसके जीवन में वह एक भूल सदा के लिए तीर बनकर चुभती रहती है। इसलिए आज महादेवी ने यह दृढ़ संकल्प कर लिया है कि उनके प्राणों की क्रीड़ा कभी शेष न होगी और वह पीड़ा में प्रियतम को और प्रियतम में पीड़ा को देखेंगी—

पर शेष नहीं होगी यह
मेरे प्राणों की क्रीड़ा।
तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा
तुममें ढूँढ़ूँगी पीड़ा।

पीड़ा और प्रियतम एक-दूसरे में ऐसे घुल-मिल गए हैं कि दोनों में कोई अन्तर ही नहीं रह गया है। इसलिए वह पीड़ा को ही सर्वस्व मानकर अपना और प्रियतम का मिलन नहीं चाहती विरह में ही उन्हें आनन्द आता है—'मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ।' ऐसा वह क्यों चाहती हैं? इसका उत्तर यह है कि विरह में अतृप्ति है और

---

१ अलका आता नहीं नहीं—
जिसमें आता मिटने का स्वाद
क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार
रहने दो हे देव! अरे यह
मेरा मिटने का अधिकार।

२ चिन्ता क्या है, हे निर्मम बुझ जाए दीपक मेरा
हो जायेगा तेरा ही पीड़ा का राज्य अँधेरा।

जब तक अतृप्ति है, अभाव है, तब तक उन्हें उल्लास और आनन्द की प्रेरणा मिलती है। मिलन होने पर जीवन में कोई हलचल न रहेगी। तब जीवन बिलकुल मूक हो जायगा भावनाहीन-सा जड़ और यह महादेवी को स्वीकार नहीं है। उनका विश्वास है कि कामनाओं की चिर-तृप्ति जीवन को निष्फल कर देती है और हमारी प्यास बुझते ही विरक्ति का स्वरूप धारण कर लेती है। बादलों का सफल होना इसी में है कि सारा जल बरसाकर रीते हो जाएँ और सुख की पूर्णता इसी में है कि उसमें मन फिर जाय।[1]

महादेवी के काव्य में दुःखवाद, पीड़ावाद, निराशावाद आदि की अभिव्यक्ति का निरूपण प्रायः सभी आलोचकों तथा स्वयं महादेवी ने भी किया है। इस दुःख के स्वरूप तथा कारणों के सम्बन्ध में मतभेद तो पाया जाता है परन्तु इसके महत्त्व के सम्बन्ध में किसी आलोचक को सन्देह नहीं है। कवयित्री को दुःख के दोनों रूप प्रिय हैं—एक वह जो मनुष्य के संवेदनशील हृदय को समस्त संसार से बाँध देता है और दूसरा वह जो काल और सीमा के बन्धन में पड़ी हुई असीम चेतना का क्रन्दन है। यह आंशिक रूप में सत्य है कि दुःख की अनुभूति मन का परिष्कार और हृदय का विस्तार करती है। महादेवी का यह कथन है कि दुःख की अभिव्यक्ति काल और सीमा में बँधी हुई असीम चेतना का क्रन्दन है। भारतीय समाज में पराधीन नारी के क्रन्दन का भी यह प्रतीक है। इनके काव्य में दुःखवाद अथवा पीड़ावाद का स्वरूप अध्यात्मपरक है अथवा समाजपरक, अलौकिक है अथवा लौकिक—इस सम्बन्ध में भारी अन्तर पाया जाता है। आचार्य वाजपेयी की धारणा है कि इनके काव्य में वेदना पहले व्यक्तिगत भावुकता के रूप में झलकती है जो क्रमशः निखरती गई है। डॉ० नगेन्द्र इनकी वेदना को अध्यात्मपरक नहीं स्वीकार करते परन्तु इसमें व्यक्तिगत वासना का परिष्कार अवश्य मानते हैं। कुछ आलोचक वेदना के अध्यात्मपरक स्वरूप को खोजने के लिए इनके काव्य में रहस्यानुभूति की उन तीनों स्थितियों का उद्घाटन भी करते हैं जिनका निरूपण सन्त-काव्य में उपलब्ध होता है। इन्होंने परमात्मा को प्रियतम के रूप में और महादेवी को उसकी साधना में मग्न आत्मा के रूप में उपस्थित किया है। प्रियतम के वियोग में आत्मा की विकलता का व्यापक चित्रण विरह की अभिव्यक्ति में हुआ है। वेदना की अभिव्यक्ति के लिए महादेवी ने दो विधियों को अपनाया है। एक में उनकी आत्म-वेदना का स्पष्ट कथन है और दूसरी में प्रकृति के प्रतीकों के माध्यम से पीड़ा की अभिव्यक्ति है। इन दोनों शैलियों में दूसरी शैली अधिक

---

१ चिर तृप्ति कामनाओं का
कर जाती निष्फल जीवन
बुझते ही प्यास हमारी,
पल में विरक्ति जाती बन।
पूर्णता यही भरने की
ढुल कर, देना सूने घन
सुख की चिर पूर्ति यही है
उस मधु से फिर जावे मन।

सम्पन्न एवं कलात्मक है। इस प्रकार वेदना-भाव की अभिव्यक्ति का स्वरूप प्रायः प्रतीकात्मक है।

इतना होने पर भी महादेवी का एक स्वप्न अवश्य है जिसकी स्निग्धता में वह परिचित हैं और उनका विश्वास है कि उनका आज का विषाद कभी सुख में बदल जायगा। उनका यह स्वप्न है— "जिस प्रकार जीवन के उषाकाल में मेरे सुख का उपहास-सा करती हुई विश्व के कण-कण से एक करुणा की धारा उमड़ पड़ी है उसी प्रकार संध्याकाल में जब लम्बी यात्रा से थका हुआ जीवन अपने ही भार से दबकर करुण क्रन्दन कर उठेगा तब विश्व के कोने-कोने में एक अज्ञात पूर्ण सुख मुस्करा उठेगा।" 'नीरजा' में महादेवी अपने इस कथन की सार्थकता सिद्ध करती प्रतीत होती हैं। यहाँ वह दुःख के साथ सुख का अनुभव कभी-कभी कर लेती है। अब उनका विषाद मिट-सा गया है। यही भावना 'सान्ध्य गीत' में अधिक परिपक्व रूप में व्यक्त हुई है। अब उन्हें अपने हृदय में उस अज्ञात प्रियतम की झलक स्पष्ट प्रतीत होती है। उन्हें एक करुण अभाव में चिरतृप्ति का संसार संचित दिखाई देता है एक लघु क्षण निर्वाण के सौ-सौ वरदान देने वाला जान पड़ता है और उन्हें आभास होता है कि वेदना के विनिमय में उन्होंने किसी निधि को पा लिया है।[1] आज उनके प्राणों में दूर के संगीत की भाँति कोई गूँजता है और उन्हें अपने को खोकर कुछ खोयी हुई वस्तु मिल गई है। विरह की निशा मिलन के मधु-दिन में स्नात होकर आई है। आज उनके हृदय में कोई आकर बस-सा गया है।[2] यही कारण है कि वह आज अपने हृदय को अथवा आत्मा को दीपक की भाँति मधुर-मधुर जलने का आदेश देती है। 'नीहार' में उनका कथन था— हे नभ की दीपावलियो! तुम पल भर के लिए बुझ जाना क्योंकि करुणामय को तम के परदे में आना भाता है।[3] लेकिन 'नीरजा' में प्रियतम के पथ के आलोक के लिए उनको अपनी आत्मा को दीप की भाँति जलाए रखना है।[4] 'सान्ध्य-गीत'

---

१ एक करुण अभाव में चिर-तृप्ति का संसार संचित
एक लघु क्षण दे रहा निर्वाण के वरदान शत-शत
पा लिया मैंने किसे इस वेदना के मधुर क्रय में
कौन तुम मेरे हृदय में ?

२ गूँजता उर में न जाने दूर के संगीत-सा क्या
आज खो निज को मुझे खोया मिला विपरीत-सा क्या,
क्या नहा आई विरह-निशि मिलन मधु-दिन के उदय में
कौन तुम मेरे हृदय में ?

३ हे नभ की दीपावलियो !
तुम पल भर को बुझ जाना
करुणामय को भाता है
तम के परदे में आना ।

४ मधुर-मधुर मेरे दीपक जल
युग-युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल
प्रियतम का पथ आलोकित कर ।

में भी उन्हें यही भावना आगे ले जाती है और विरह की घड़ियाँ उन्हें मधुर मधु की यामिनी-सी जान पड़ती हैं—'विरह की घड़ियाँ हुईं अलि मधुर मधु की यामिनी-सी।' 'दीपशिखा' में तो साधना के प्रारम्भ से लेकर सिद्धि प्राप्त करने तक की सभी स्थितियों के दर्शन हो जाते हैं। उन्होंने अपनी साधना का दिग्दर्शन कराते हुए लिखा है कि मैं दीप के समान अविराम मिटती हुई स्वजन के समीप-सी आ रही हूँ।[1] सम्भवतः इसीलिए उनका चितेरा तूलिका रखकर सो गया है। ठीक भी है, मिलन का प्रभात आए और कल्पना साकार हो जाए तथा चित्र में प्राणों का संचार हो जाए, तब साधना की पूर्ति के अन्तिम क्षण का आगमन समझ लेना चाहिए।[2] इस प्रकार पीड़ा उनके काव्य में साधना का माध्यम रही है जिसके द्वारा वह मिलन की स्थिति तक पहुँचती है।

महादेवी ने 'नीहार' से लेकर 'दीपशिखा' तक वेदना की विविध स्थितियों तक विभिन्न अनुभूतियों का चित्रण किया है। उनके काव्य में संयोग अथवा मिलन के चित्र सांकेतिक रूप में ही मिलते हैं। विरह की स्थिति में जहाँ मिलन का संकेत मिल जाता है वहाँ *विरह का स्वरूप भी रोमांटिक तथा मधुर है।* महादेवी के काव्य में वेदना को अध्यात्मपरक न मानने वाले आलोचक उनके एकाकी जीवन को ही इसका कारण समझते हैं। किसी अभाव ने उनके जीवन को एकाकिनी बरसात बना दिया है। इस अभाव अथवा अतृप्ति को वे स्थूल एवं शारीरिक नहीं मानते वरन् सूक्ष्म एवं मानसिक रूप में स्वीकार करते हैं। इस तरह महादेवी के दुःखवाद को अतृप्त कामवासना के परिणाम के रूप में निरूपित किया गया है, अतृप्ति को आध्यात्मिक अनुभूति से जोड़ा गया है और इसके अतिरिक्त उनके व्यक्तिगत जीवन को भी आध्यात्मिक स्तर पर प्रतिष्ठित किया गया है। दुःखवाद का कारण सामाजिक सम्बन्धों में देखने की अपेक्षा अन्य सम्बन्धों में खोजने का प्रयास किया है जिसके फलस्वरूप परस्पर-विरोधी मंतव्यों की अभिव्यक्ति हुई है। महादेवी के दुःखवाद का आधार लौकिक अथवा अलौकिक है यह विवादास्पद है, परन्तु इसके मूल में कारण मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक हैं। वास्तविक प्रेम का जीवन क्या विरह तथा वेदना का जीवन बन जाता है—इसका अनुशीलन अभी अपेक्षित है। इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि महादेवी के प्रियतम और उनकी पीड़ा ऐसे घुल-मिल गए हैं कि इनमें अन्तर का अभाव है। उठ हुए जीवन में मीरा और गिरधर नागर, कबीर और साहब और सामान्य जीवन में लैला और मजनूँ के प्रेम में अन्तर नहीं रह जाता। इसी प्रकार का प्रेम महादेवी तथा उनके चिर-सुन्दर में उपलब्ध होता है। उनके काव्य की इस मूल विशेषता के पश्चात् दृष्टि सहसा उनके माधुर्य-भाव की ओर चली जाती है। मीरा की भाँति

---

1 दीप-सी मैं
  आ रही अविराम मिट-मिट स्वजन और समीप-सी मैं॥

2 सजन है कितना सवेरा।
  कल्पना निज देख कर साकार होते
  और उसमें प्राण का संचार होते
  सो गया रख तूलिका दीपक चितेरा।

वह भी माधुर्य भाव की उपासिका है। माधुर्य भाव में प्रिया और प्रियतम का सम्बन्ध माना जाता है। भगवान् को साधकों ने कभी माता कभी पिता कभी स्वामी कभी सखा कभी प्रियतमा और कभी प्रियतम के रूप में आँका है। इन सभी रूपों में प्रियतम-प्रियतमा का रूप सबसे अधिक आनन्दप्रद है क्योंकि इसमें परस्पर के भाव प्रकाशन में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं रहता। गोपियों की कृष्णोपासना भी इसी रूप की थी इसीलिए वे कृष्ण के निकटतम थीं। महादेवी भी माधुर्य भाव से ही अपने प्रियतम को स्मरण करती हैं। वह नारी हैं और नारी के लिए इससे अधिक स्वाभाविक पथ दूसरा नहीं हो सकता। यह भी एक कारण है कि उन्होंने अपने ब्रह्म को प्रियतम का रूप दिया है। वह अपने प्रियतम को बहुधा 'प्रिय' कहकर पुकारती हैं। उसके सौन्दर्य का वर्णन करते समय 'सुन्दर' 'चिर सुन्दर' और उसकी उपेक्षा को बताते हुए 'निठुर' 'निर्मोही' 'निर्मम' आदि कहकर भी सम्बोधित करती हैं। इस प्रकार वह समयानुकूल संबोधनों की कल्पना करती हैं। महादेवी की विशेषता यह है कि वह सर्वत्र गम्भीर रहती हैं। कभी उनको गोपियों की भाँति प्रियतम से छेड़-छाड़ या हास-परिहास करने का विचार नहीं आता। वस्तुतः वह सूक्ष्म ब्रह्म की उपासिका हैं जहाँ उनकी कोई प्रतिद्वन्द्विनी नहीं है और जहाँ असीम पथ पर उन्हें स्वयं आगे बढ़ना है। इसलिए उनकी पूजा भी स्वयं मन के भीतर होती है। किसी मन्दिर में उनका प्रियतम नहीं है जहाँ वह मीरा की भाँति नाच सकें। वह तो बाह्य पूजा के विधान को भी स्वीकार नहीं करतीं। उनकी दृष्टि में बाह्य पूजा या अर्चना व्यर्थ है। जब उनका लघुतम जीवन ही उस असीम का सुन्दर मन्दिर है उनकी श्वासें नित्य प्रिय का अभिनन्दन करती रहती हैं पद रज धोने के लिए लोचनों के जल कण उनके पास हैं पुलकित रोम ही अक्षत हैं, पीड़ा ही चन्दन है स्नेह भरा मन झिलमिलाते दीप की भाँति जलता रहता है दृग-तारक ही कमल-पुष्प का काम देते हैं हृदय की धड़कन ही धूप बन-कर उड़ती रहती है, अधर 'प्रिय-प्रिय' जपते हैं और पलकों का नर्तन ताल देता है, तब बाह्याडम्बर की क्या आवश्यकता है?[1] इसीलिए वह शून्य मन्दिर में स्वयं प्रियतम की प्रतिमा बन जाना चाहती हैं और उनके गीले नयन आरती करना चाहते हैं।[2] यह उन

---

१ क्या पूजा क्या अर्चन रे?
उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे।
मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे।
पद-रज को धोने उमड़े आते लोचन में जल-कण रे।
अक्षत पुलकित रोम मधुर मेरी पीड़ा का चन्दन रे।
स्नेह-भरा जलता है झिलमिल मेरा यह दीपक-मन रे।
मेरे दृग के तारक में नव उत्पल का उन्मीलन रे।
धूप बने उड़ते रहते हैं, प्रतिपल मेरे स्पन्दन रे।
प्रिय प्रिय जपते अधर ताल देता पलकों का नर्तन रे।

२ शून्य मन्दिर में बनूँगी आज मैं प्रतिमा तुम्हारी।
मेरे गीले नयन बनेंगे आरती।

देखकर लगता है कि महादेवी पर भक्तों और सन्तों का गहरा प्रभाव पड़ा है। यहाँ इस प्रकार के निवेदन हैं यहाँ भक्तों और सन्तों से प्रभावित भक्ति भावना का ही प्रकाशन अधिक है रहस्य-भावना का कम। उन्होंने मधुरतम व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा करके उसके प्रति आत्म-निवेदन किया है। इस आत्म-निवेदन में उनकी आत्मा स्वकीया की भाँति अपने प्रियतम के पथ में आँखें बिछाए रहती है और निरन्तर उनकी पूजा अर्चना का विधान करती है।

महादेवी की कविता में तीसरा विशेष तत्त्व है—उनके द्वारा गृहीत प्रकृति का स्वरूप। छायावाद में प्रकृति का कई रूपों में उपयोग हुआ है। कहीं वह सचेतन मानवी बनकर सामने आई है कहीं स्वतन्त्र चित्रण के रूप में और कहीं मानव-मन में उठती सुख दुःखात्मक अनुभूतियों की व्यंजना में सहायता देने के लिए। यह अन्तिम रूप ही प्रमुख है जिसमें मानव ने प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित किया है। प्रकृति मानो एक अंग है जिसके द्वारा भावनाएँ सरलता से व्यक्त हो जाती हैं। आज ही नहीं रीतिकाल में भी जब कि प्रकृति जड़ बनकर रह गई थी उसका यह रूप किसी-न-किसी प्रकार सामने आता रहा। छायावाद में कहीं तो यह हुआ है कि भावनाएँ ही प्रकृति का माध्यम हुई हैं और कहीं प्रकृति-चित्रण से ही भावनाएँ व्यक्त हुई हैं और कहीं दोनों का समानुपात हुआ है। स्वतन्त्र प्रकृति-चित्रण इस काल में कम ही हुए हैं और जो हुए हैं वे भी कला-विन्यास के लिए। महादेवी ने प्रकृति के स्वतन्त्र चित्रण बहुत कम किये हैं। प्रकृति के स्वतन्त्र-चित्रण के लिए 'यामा' में उनकी एक ही कविता है—'हिमालय के ऊपर'। उसमें भी उनकी अन्तर्मुखी वृत्ति उभरकर आई है। प्रकृति के रूपों वृक्षों और भावों को महादेवी ने एक चेतन व्यक्तित्व दिया है। इसे यों कहें कि प्रकृति उनके साथ ही उनके प्रियतम के प्रति आत्म निवेदन में सहायक होकर समर्पित हो गई है तो अधिक संगत होगा। यही रूप उनके काव्य में अधिक प्रमुखता रखता है। वह भी अन्य कवियों की भाँति बाह्य की ओर जाती हुई प्रकृति के सौन्दर्य से आकर्षित होकर उसमें कुछ काल के लिए खो जाती हैं। लेकिन ऐसी कविताओं में भी उनकी अन्तिम पंक्ति से वह अपने जी की लगन भी व्यक्त कर ही देती हैं। मन की तीव्र व्यथा उन्हें इतनी प्रिय है कि उससे वह स्वयं को बचा नहीं सकती और सर्वत्र उसकी छाया छा ही जाती है। 'रश्मि' नामक कविता में ही प्रभात के स्वतन्त्र और सुन्दर चित्र मिलते हैं। लेकिन उसके अन्त में नींद अपने स्वप्न-पंख फैलाकर क्षितिज के पार उड़ गई है और अधखुले दृगों के कंज-कोष पर विस्मृति का खुमार छाया हुआ है। यही नहीं प्रभात-काल की स्वर्ण-बेला में वह हृदय-चितेरा मधु-हास लेकर सुधि-विहाग रँग रहा है। महादेवी के काव्य में प्रकृति के अनेक रूपक मिलते हैं। 'रूपसि तेरा घन केश पाश' में पावस का, 'धीरे धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त रजनी' में वसन्त की रात्रि का 'लय गीत मदिर गति ताल अमर' में प्रकृति का अप्सरा के रूप में चित्रण आदि प्रकृति के ऐसे ही रूपक हैं जिनमें प्रकृति का मानवीकरण किया गया है और उसका स्वरूप नेत्रों के सम्मुख प्रत्यक्ष हो गया है। इससे भी अधिक प्रकृति का महत्त्व वहाँ दूना है जहाँ प्रकृति के साथ कवयित्री ने अपने जीवन को एकाकार कर दिया है। इस दृष्टि से 'प्रिय ! सान्ध्य गगन मेरा जीवन' वाला गीत उत्कृष्ट है। सान्ध्य गगन के सौन्दर्य के साथ अपने जीवन का

वह भी माधुर्य भाव की उपासिका हैं। माधुर्य-भाव में प्रिया और प्रियतम का सम्बन्ध माना जाता है। भगवान् को साधकों ने कभी माता कभी पिता कभी स्वामी कभी सखा कभी प्रियतमा और कभी प्रियतम के रूप में आंका है। इन सभी रूपों में प्रियतम-प्रियतमा का रूप सबसे अधिक आत्मस्पर्श है, क्योंकि इसमें परस्पर के भाव-प्रकाशन में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं रहता। गोपियों की कृष्णोपासना भी इसी रूप की थी इसीलिए वे कृष्ण की निकटतम थीं। महादेवी भी माधुर्य भाव से ही अपने प्रियतम को स्मरण करती हैं। वह नारी हैं और नारी के लिए इससे अधिक स्वाभाविक पथ दूसरा नहीं हो सकता। यह भी एक कारण है कि उन्होंने अपने ब्रह्म को प्रियतम का रूप दिया है। वह अपने प्रियतम को बहुधा 'प्रिय' कहकर पुकारती हैं। उसके सौन्दर्य का वर्णन करते समय 'सुन्दर' 'चिर सुन्दर' और उसकी उपेक्षा को बताते हुए 'निठुर' 'निर्मोही' 'निर्मम' आदि कहकर भी सम्बोधित करती हैं। इस प्रकार वह समयानुकूल संबोधनों की कल्पना करती हैं। महादेवी की विशेषता यह है कि वह सर्वत्र गम्भीर रहती हैं। कभी उनको गोपियों की भाँति प्रियतम से छेड़-छाड़ या हास-परिहास करने का विचार नहीं आता। वस्तुतः वह सूक्ष्म ब्रह्म की उपासिका हैं जहाँ उनकी कोई प्रतिद्वन्द्विनी नहीं है और जहाँ असीम पथ पर उन्हें स्वयं आगे बढ़ना है। इसलिए उनकी पूजा भी स्वयं मन के भीतर होती है। किसी मन्दिर में उनका प्रियतम नहीं है जहाँ वह मीरा की भाँति नाच सकें। वह तो बाह्य पूजा के विधान को भी स्वीकार नहीं करतीं। उनकी दृष्टि में बाह्य पूजा या अर्चना व्यर्थ है। जब उनका लघुतम जीवन ही उस असीम का सुन्दर मन्दिर है उनकी श्वासें नित्य प्रिय का अभिनन्दन करती रहती हैं पद रज धोने के लिए लोचनों के जल कण उनके पास हैं पुलकित रोम ही अक्षत हैं पीड़ा ही चन्दन है स्नेह भरा मन झिलमिलाते दीप की भाँति जलता रहता है दृग-तारक ही कमल-पुष्प का काम देते हैं हृदय की धड़कन ही धूप बन कर उड़ती रहती है अधर 'प्रिय-प्रिय' जपते हैं और पलकों का नर्तन ताल देता है, तब बाह्याडम्बर की क्या आवश्यकता है ?[१] इसीलिए वह शून्य मन्दिर में स्वयं प्रियतम की प्रतिमा बन जाना चाहती हैं और उनके गीले नयन आरती करना चाहते हैं।[२] यह सब

---

१ क्या पूजा क्या अर्चन रे ?
उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे।
मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे।
पद रज को धोने उमड़े आते लोचन में जल-कण रे।
अक्षत पुलकित रोम मधुर मेरी पीड़ा का चन्दन रे।
स्नेह-भरा जलता है झिलमिल मेरा यह दीपक-मन रे।
मेरे दृग के तारक में नव उत्पल का उन्मीलन रे।
धूप बने उड़ते रहते हैं, प्रतिपल मेरे स्पन्दन रे।
प्रिय-प्रिय जपते अधर ताल देता पलकों का नर्तन रे।
२ शून्य मन्दिर में बनूँगी आज मैं प्रतिमा तुम्हारी।
मेरे गीले नयन बनेंगे आरती।

देखकर लगता है कि महादेवी पर भक्तों और सन्तों का गहरा प्रभाव पड़ा है। जहाँ इस प्रकार के निवेदन हैं, वहाँ भक्तों और सन्तों से प्रभावित भक्ति-भावना का ही प्रकाशन अधिक है रहस्य भावना का कम। उन्होंने मधुरतम व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा करके उसके प्रति आत्म-निवेदन किया है। इस आत्म-निवेदन में उनकी आत्मा स्वकीया की भाँति अपने प्रियतम के पथ में आँखें बिछाए रहती है और निरन्तर उनकी पूजा-अर्चना का विधान करती है।

महादेवी की कविता में तीसरा विशेष तत्त्व है—उनके द्वारा गृहीत प्रकृति का स्वरूप। छायावाद में प्रकृति का कई रूपों में उपयोग हुआ है। कहीं वह सचेतन मानवी बनकर सामने आई है कहीं स्वतन्त्र चित्रण के रूप में और कहीं मानव-मन में उठती सुख दुःखात्मक अनुभूतियों की व्यंजना में सहायता देने के लिए। यह अन्तिम रूप ही प्रमुख है जिसमें मानव ने प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित किया है। प्रकृति मानो एक माध्यम है, जिसके द्वारा भावनाएँ सरलता से व्यक्त हो जाती हैं। आज ही नहीं रीतिकाल में भी जब कि प्रकृति जड़ बनकर रह गई थी उसका यह रूप किसी-न-किसी प्रकार सामने आता रहा। छायावाद में कहीं तो यह हुआ है कि भावनाएँ ही प्रकृति का माध्यम हुई हैं और कहीं प्रकृति-चित्रण से ही भावनाएँ व्यक्त हुई हैं और कहीं दोनों का समानुपात हुआ है। स्वतन्त्र प्रकृति-चित्रण इस काल में कम ही हुए हैं और जो हुए हैं वे भी कला-विन्यास के लिए। महादेवी ने प्रकृति के स्वतन्त्र चित्रण बहुत कम किये हैं। प्रकृति के स्वतन्त्र चित्रण के लिए 'यामा' में उनकी एक ही कविता है—'हिमालय के ऊपर'। उसमें भी उनकी अन्तर्मुखी वृत्ति उभरकर आई है। प्रकृति के रूपों दृश्यों और भावों को महादेवी ने एक चेतन व्यक्तित्व दिया है। इसे यों कहें कि प्रकृति उनके साथ ही उनके प्रियतम के प्रति आत्म निवेदन में सहायक होकर समर्पित हो गई है तो अधिक संगत होगा। यही रूप उनके काव्य में अधिक प्रमुखता रखता है। वह भी अन्य कवियों की भाँति ब्रह्म की ओर जाती हुई प्रकृति के सौन्दर्य से आकर्षित होकर उसमें कुछ काल के लिए खो जाती हैं। लेकिन ऐसी कविताओं में भी उनकी अन्तिम पंक्ति से वह अपने जी की व्यथा भी व्यक्त कर ही देती हैं। मन की तीव्र व्यथा उन्हें इतनी प्रिय है कि उससे वह स्वयं को बचा नहीं सकती और सर्वत्र उसकी छाया छा ही जाती है। 'रश्मि' नामक कविता में ही प्रभात के स्वतन्त्र और सुन्दर चित्र मिलते हैं। लेकिन उसके अन्त में नील अपने स्वप्न-पंख फैलाकर क्षितिज के पार उड़ गई है और अधखुले दृगों के कंज-कोष पर विस्मृति का खुमार छाया हुआ है। यही नहीं प्रभात-काल की स्वर्ण-वेला में यह कुसुम-चितेरा मधु-हास लेकर सुधि विहान रँग रहा है। महादेवी के काव्य में प्रकृति के अनेक रूपक मिलते हैं। 'रूपसि तेरा घन केश पाश' में पावस का 'धीरे धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त रजनी' में वसन्त की रात्रि का 'मम गात अमर पद हास अमर' में प्रकृति का अप्सरा के रूप में चित्रण आदि प्रकृति के ऐसे सांग रूपक हैं जिनमें प्रकृति का मानवीकरण किया गया है और उसका स्वरूप आँखों के सम्मुख प्रत्यक्ष हो गया है। इससे भी अधिक प्रकृति का स्वरूप वहाँ आया है जहाँ प्रकृति के साथ कवयित्री ने अपने जीवन को एकाकार कर दिया है। इस दृष्टि से 'प्रिय [illegible] सान्ध्य गगन मेरा जीवन' वाला गीत उत्कृष्ट है। सान्ध्य गगन के सौन्दर्य के साथ अपने जीवन का

सामञ्जस्य स्थापित किया गया है। महादेवी का कथन है कि मेरा जीवन सान्ध्य गगन की भाँति है, गोधूलि वेला के कारण धुँधला क्षितिज मेरे हृदय का विराग है, सान्ध्य नभ की लालिमा का ही मेरा सुहाग है, सन्ध्या की सूक्ष्म छाया के समान ही रागहीन मेरी काया है और रँगीले घन ही मेरे सुधि भरे स्वप्न हैं। इस प्रकार सन्ध्या और मेरे जीवन में कोई अन्तर नहीं है।[1] इन पूर्ण रूपकों के अतिरिक्त ऐसे सांग-रूपकों की भरमार है जहाँ प्रकृति के सूक्ष्म चित्र लेकर अपनी भावनाओं को व्यक्त किया गया है। 'विरह का जलजात जीवन ! विरह का जलजात !' और 'मैं नीर भरी दुख की बदली' आदि गीतों में ऐसे ही रूपक प्रयुक्त हुए हैं।[2] इस प्रकार महादेवी के काव्य में प्रकृति के रंगीन चित्र अवश्य हैं पर वे या तो उनकी भावना से रँगे हुए हैं या उनमें उनकी भावना व्याप्त है। प्रकृति उनके काव्य में एकाकार होकर उनकी विरह-मिलन की अनुभूतियों के चित्रण में सहायक बनकर आती है। उनके काव्य में प्रकृति शृंगार की वस्तु है, प्रियतम की ओर संकेत करने वाली सहचरी है, अपनी आत्मा की छाया है, प्रभु की छाया है। इस प्रकार प्रकृति चित्रण उद्दीपन, अलंकरण, मानवीकरण के रूपों के अतिरिक्त उस विराट् चेतना को अभिव्यक्ति देने के लिये भी हुआ है जिसकी छाया वह प्रकृति में देखती है। उनकी विराट् तक पहुँचने की साधना के पथ पर प्रकृति सदैव उनके साथ रही है। महादेवी ने छायावाद तथा प्रकृति के नये सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए लिखा है— 'छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिए जो प्राचीन काल से बिम्ब प्रतिबिम्ब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुःख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी। इस प्रकार छायावादी कवि के लिए प्रकृति का एक-एक कण एक सजीव व्यक्तित्व लेकर जाग उठा। वह उसकी व्यापक सत्ता की ओर आकृष्ट हुआ। प्रकृति महादेवी के काव्य के भावपक्ष का ही नहीं कलापक्ष का भी शृंगार करती है जिसमें नारी की अलंकार-प्रियता लक्षित होती है। उन्होंने प्रकृति को ससीम तथा असीम में तादात्म्य

---

१ प्रिय ! सान्ध्य गगन मेरा जीवन !
यह क्षितिज बना धुँधला विराग
नव अरुण मेरा सुहाग
छाया-सी काया वीतराग
सुधि-भीने स्वप्न रँगीले घन !

२ (क) विरह का जलजात जीवन विरह का जलजात !
वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास
अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात !

(ख) मैं नीर-भरी दुख की बदली !
विस्तृत नभ का कोई कोना
मेरा न कभी अपना होना
परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली !

स्थापित करने के लिए माध्यम एवं साधन भी बनाया है। उनके काव्य में प्रकृति और पीड़ा दोनों का इष्ट की सिद्धि के लिए समान महत्त्व है। इस सम्बन्ध में वह अपनी गहन तथा व्यापक दृष्टि का परिचय देती हुई लिखती हैं— 'जड़ चेतन के बिना विकास शून्य है और चेतन जड़ के बिना आधार शून्य है। इन दोनों की क्रिया प्रतिक्रिया ही जीवन है। महादेवी के काव्य में प्रकृति-चित्रण तथा प्रकृति-दर्शन का यह मूलाधार है।

इसके अतिरिक्त महादेवी के काव्य में रहस्यवाद की भी अभिव्यक्ति उपलब्ध होती है। रहस्यानुभूति का सम्बन्ध साधकों एवं सन्त कवियों से चला आ रहा है। परन्तु महादेवी साधक नहीं आराधक हैं जैसा उनके माधुर्य भाव के विवेचन से स्पष्ट हो चुका है। इस आराधना के कारण उनका कवि सदैव शिशु की भावुकता से अभिभूत रहा है। इसीलिए उनकी अनुभूति कभी क्षीण नहीं पड़ी। 'दीपशिखा' के गीतों में भी जहाँ चिन्तन अधिक गहरा हो गया है, वह अपने उसी सहज भावुक रूप में विद्यमान है। उन्होंने स्वयं एक स्थान पर लिखा है— 'मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुराग जनित आत्म विसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक मधुरता सीमाहीन नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव दूर नहीं होता। इसी से इस (प्राकृतिक) अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्म-निवेदन कर देना इस काव्य का (रहस्यवादी काव्य का) दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्यवाद का नाम दिया गया। उसके प्रथम रूप के बारे में वह कहती हैं— "छायावाद की प्रकृति घट कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई, अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जल-कण और पृथ्वी के ओस-बिन्दुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है। प्रकृति में मानवीय भावों की छाया या उसके साथ मानव-भावना का तादात्म्य महादेवी की सम्मति में छायावाद है और जब प्रकृति में एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोप कर उसके प्रति आत्म-निवेदन किया जाता है तब रहस्यवाद हो जाता है। इस प्रकार रहस्यवाद छायावाद का दूसरा सोपान है।

महादेवी के काव्य में चिन्तन का पुट गहरा होता गया है और चिन्तन दर्शन की ओर ले जाता है जिसके भावात्मक प्रकाशन को रहस्यवाद कहते हैं। आत्मा और परमात्मा दोनों एक हैं। आत्मा परमात्मा से वियुक्त होकर माया के आवरण में अपने शुद्ध स्वरूप को न देख सकने के कारण परमात्मा का अनुभव नहीं कर सकती। यदि साधना द्वारा माया का आवरण दूर किया जाय तो परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है। यह आत्मा के परमात्मा तक पहुँचने का साधन है। रहस्यवादी कवि भी इसका सहारा लेता है। वह सृष्टि में सर्वत्र उसी की छाया देखकर पूछ उठता है कि न जाने वह कौन है जो तारों में हँसता, बिजली में चमकता और ओस-बिन्दुओं में रोता है। उस 'कौन' के लिए उसकी आत्मा जिज्ञासा भाव से पीड़ित हो उठती है। प्रकृति के परिवर्तन में उसे उसी का भान जान पड़ता है।[1] इसके साथ-साथ वह अपने प्रियतम के पथ की ओर निरन्तर

---

१ जब कपोल-गुलाब पर शिशु-प्रात के
सूखते नक्षत्र-जल के बिन्दु से

है एक ही बार लिखती हैं, उसे 'संशोधन' 'परख' या 'पालिश' की कसौटी पर नहीं कसती। यही कारण है कि उनके काव्य में कृत्रिमता का आभास कम मिलता है। उसमें हृदय से उद्भूत भावों और अनुभूतियों की एकरूपता परिलक्षित होती है। इस अकृत्रिमता के कारण ही उनकी भाषा परिष्कृत, मधुर और कोमल है। स्वाभाविकता के प्रति उनका इतना आग्रह है कि मात्राओं की पूर्ति और तुक के लिए कुछ शब्दों का अंग भंग भी हो गया है। 'आकाश' का 'अकास', 'आधार' का 'अधार', 'ज्योति' का 'ज्योती', 'कणधार' का 'कर्णाधार' लिखने में उन्होंने कभी संकोच नहीं किया। उनकी कविता में कहीं-कहीं अंत्यानुप्रास भी नहीं मिलता है, परन्तु तुक और शब्दों के ऐसे प्रयोग काव्य की गति को मंद नहीं करते वरन् उसमें स्वाभाविकता ला देते हैं।

उनकी अभिव्यक्ति में दूसरी विशेषता यह है कि वह सूक्ष्मतम भावनाओं को वाणी देने के कारण संकेतात्मक है। उसमें शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग, अमूर्त वस्तुओं के लिए मूर्त योजनाएँ, भावों और प्राकृतिक रूपों के मानवीकरण आदि छायावादी शैली की सभी विशेषताएँ पाई जाती हैं। उनके काव्य में शब्द चित्र भी अधिक मिलते हैं। इसका कारण यह है कि वह चित्रकार भी हैं। उनकी अन्तिम कृति 'दीपशिखा' में प्रत्येक कविता की पृष्ठभूमि के लिए एक-एक चित्र दिया गया है। 'यामा' में भी ऐसे ही रेखाचित्र हैं। इन चित्रों में ऐसे रंगों का विधान है जो दृश्य या रूप को ज्यों-का-त्यों उतार दें। चित्रकार की तूलिका और कवि की वाणी दोनों के संयोग से उनकी कविता खिल उठती है। एक आलोचक ने यह ठीक ही लिखा है कि महादेवी के काव्य में एक ओर चित्रकला की गोद में काव्य कला नाचती है और दूसरी ओर काव्य कला की अमूर्तता रेखा और रंग के सहारे चित्रित (मूर्त) हो गई है। उनके चित्रों में दीपक, सावन और कटि तथा बादल आदि का प्रयोग वैसे ही है जैसे उनके गीतों में।

महादेवी ने गीतिकाव्य ही अधिक लिखा है और अन्तर्मुखी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए गीतिकाव्य ही उपयुक्त माध्यम होता है। इन गीतों में उनके हृदय का हर्ष विषाद सहज रूप में व्यक्त हो उठा है। महादेवी ने लिखा है— 'गीत का चिरन्तन विषय रागात्मिका-वृत्ति से सम्बन्ध रखने वाली सुख-दुःखात्मक अनुभूति से ही रहेगा' 'साधारण गीत व्यक्तिगत सीमा में सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द-रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।" वास्तव में उनके गीत निराला की भाँति वाद्य-स्वर के सीमित बंधन में बंधे नहीं हैं वे अपनी ध्वन्यात्मकता में ही गेय हैं जिनमें संगीत काव्य का अनुयायी है और वह वृत्तियों के चित्रों को गति और सौन्दर्य देता है। गीतों की जो परम्परा वैदिक-काल से लेकर उपनिषद्-काल एवं महाकाव्य-काल तक किसी-न-किसी रूप में चलती रही है उसका प्रथम स्वर हिन्दी में विद्यापति द्वारा गूँजा। उसके बाद कबीर की प्रेम भक्ति की वाणी भी पदों द्वारा जनता तक पहुँची। सूर और तुलसी ने भी इस परम्परा को समृद्ध बनाया। इसका चरम विकास मीरा के काव्य में उपलब्ध होता है। मीरा के गीत हृदय की कसक के सहारे स्वरों में ध्वनित हुए हैं। मीरा के बाद इसका स्वाभाविक रूप महादेवी में ही मिलता है। छायावादी युग में प्रसाद, निराला, पंत तथा अन्य कवियों के गीत भी मिलते हैं, परन्तु गीतिकाव्य का इस प्रकार का विकास उनमें नहीं है।

महादेवी के कलापक्ष की विशेषता उनके अलंकार-विधान तथा प्रतीक-पद्धति में भी झलकती है। उनकी दृष्टि में अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं भावों की अभिव्यक्ति के लिए विशेष द्वार बनकर आते हैं। उनके काव्य में अलंकारों का शुष्क प्रयोग नहीं हुआ है। छायावादी काव्य में अलंकारों का प्रयोग रूप-साम्य की दृष्टि से न होकर प्राय प्रभाव-साम्य की दृष्टि से हुआ है। नवीन सौन्दर्य-बोध को अभिव्यक्ति देने के लिए महादेवी ने पुराने अलंकारों की नवीन रूप में उद्भावना की है और नवीन अलंकारों की सृष्टि भी की है। उनके प्रिय अलंकारों में उपमा रूपक अन्योक्ति समासोक्ति मानवीकरण तथा विशेषण-विपर्यय हैं। अन्योक्ति तथा समासोक्ति अलंकार रहस्यानुभूति को व्यक्त करने के लिए विशेष रूप से सहायक होते हैं। 'टूट गया वह दर्पण निर्मम' और 'का प्रिय बाज पिंजर खोल दो' में अन्योक्ति का सुन्दर प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त उनके काव्य में विरोधमूलक अप्रस्तुत की अनुपम छटा भी देखने को मिलती है—

एक करुण अभाव में चिर तृप्ति का संसार संचित।
नाश भी हूँ अनन्त विकास का क्रम भी।
त्याग का दिन भी चरम आसक्ति का तम भी।

इन पंक्तियों में विरोधाभास का अनूठा चमत्कार है जो महादेवी की कला की विशेषता है। उनकी प्रतीक-पद्धति उनके कला-पक्ष की विशेषता है। उनकी कृतियों के नाम भी—'रश्मि' 'नीहार' 'नीरजा' 'सान्ध्यगीत' 'दीपशिखा' आदि प्रतीकात्मक हैं। उनके काव्य में कुछ प्रतीक परिचित होने के कारण बुद्धिगम्य हैं कुछ अपरिचित होने के कारण किंचित बाधा डालते हैं परन्तु कुछ प्रतीक अनेक अर्थों में प्रयुक्त होकर अर्थ में व्याघात उत्पन्न करते हैं। परिचित प्रतीकों में सागर संसार के लिए, तरी जीवन के लिए, पतवार साहस के लिए, तम अज्ञान और आलोक ज्ञान के लिये हैं। अपरिचित प्रतीकों में सलभ की कल्पना आराध्य प्रेमी के रूप में करने के अतिरिक्त मोहमूलक आकर्षण के रूप में भी की गई है। इसके साथ दीपक की कल्पना आत्मा के रूप में की गई है। एक प्रतीक का प्रयोग अनेक भावों को व्यक्त करने के लिए भी हुआ है। सुख के लिए मधु, रश्मि तथा मलय पवन तीनों का प्रयोग हुआ है। सरिता के दो पुलिन कभी विरह-मिलन के लिए तो कभी जीवन-मृत्यु के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इसलिए प्रतीकों के अर्थ-सौष्ठव को प्रसंग के आधार पर ही स्पष्ट किया जा सकता है।

काव्य के कला-पक्ष में शब्द चयन प्रतीक-विधान अलंकार-विधान आदि के अतिरिक्त उनके छन्द विधान का विश्लेषण भी अपेक्षित है। महादेवी ने हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुकूल मात्रिक छन्दों का ही प्रयोग किया है। इनके छन्दों में चरणों तथा पदों का विन्यास भाव-लय के अनुरूप हुआ है। तुकान्त कभी पहले और दूसरे चरण का है कभी दूसरे और चौथे चरण का है और कभी सभी चरण समतुकान्त हैं। अनेक उर्दू छन्दों का हिन्दीकरण भी किया गया है। गीत में पहली पंक्ति संगीत के बोल के रूप में अथवा लोक-गीत की टेक के रूप में भी उपस्थित की गई है—'मुखर पिक हौले हौले बोल' 'बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ' 'अलि मैं कण-कण को जान चली' आदि पंक्तियों को गुनगुनाया जा सकता है। भक्ति-काव्य में सभी पंक्तियाँ प्राय सममात्रिक तथा सम

युक्त होती थीं परन्तु महादेवी ने शास्त्रीय आधार का परित्याग करके छन्द-विधान में अपनी स्वच्छन्दतावादी दृष्टि का परिचय दिया है। इस प्रकार उनके काव्य का कला पक्ष नवीन चेतना तथा सौन्दर्य को अभिव्यक्ति देने के लिए छायावादी काव्य शैली की प्रायः सभी विशेषताओं से युक्त है परन्तु उसकी विशिष्टता महादेवी के व्यक्तित्व का भी आभास देती है।

महादेवी के काव्य की भावगत तथा कलागत विशेषताओं का विश्लेषण करने के उपरान्त उनके काव्य का मूल्यांकन अभी अपेक्षित है। उनके काव्य के भाव पक्ष में निराशा और वेदना करुणा और अवसाद प्रकृति का मानवीकरण जिज्ञासात्मक रहस्य भावना अतृप्त प्रेम और उसका परिष्कार तथा उन्नयन सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति आदि उपलब्ध होते हैं और इस भाव पक्ष को व्यंजित करने के लिए उनके कला-पक्ष में नवीन अलंकार-विधान प्रतीक-विधान लाक्षणिक शब्दावली नवीन छन्द विधान आदि का प्रयोग हुआ है। इन दोनों के मूल में व्यक्तिवाद का स्वर है जिसके परिणामस्वरूप महादेवी अपने नवीन जीवन-बोध तथा नवीन सौन्दर्य-बोध को अभिव्यक्ति देने के लिए प्रयत्नशील हैं। इस नवीन जीवन बोध ने उनके गीतों में व्यक्त प्रेम की पीर को गहन एवं अनुपम रूप दिया है। उनके गीतिकाव्य में वैयक्तिक अनुभूति के तल पर सामाजिक बन्धनों में जकड़ी हुई भारतीय नारी की घनीभूत वेदना मुखरित हुई है। इस वेदना से मुक्ति पाने की आकांक्षा भी कहीं-कहीं व्यक्त हुई है जिसकी आलोचकों ने प्रायः उपेक्षा की है। इसलिए महादेवी के काव्य का मूल्यांकन एकांगी रूप में ही हो सका है। एक नारी होने के कारण उन्होंने अतृप्त प्रेम को खुलकर व्यक्त करने की अपेक्षा प्रतीक-पद्धति का आश्रय लिया है। इसलिए उनकी वेदना तथा पीड़ा का स्वरूप लौकिक न होकर अलौकिक है मानवीय न होकर रहस्यात्मक है। इस वेदना से मुक्ति पाने की कामना को भी महादेवी ने प्रतीकों के माध्यम से ही व्यक्त किया है। वह दीपक के माध्यम से अपनी विरह की स्थिति को व्यंजित करती है। दीपक का काम हर रंग में जलना होता है और उसके जलने की भी एक अवधि है। 'दीपशिखा' में साधना के आरम्भ से लेकर सिद्धि प्राप्ति तक की स्थितियों का चित्रण है। अब वेदना को विदा करने की वेला आ पहुँची है। निशा का अन्त होने पर दीपक का बुझ जाना अवश्यम्भावी है दीपक-चितेरे का तूलिका रखकर सो जाना स्वाभाविक है। परन्तु एक रहस्यवादी के लिए प्रायः विरह-काल की अवधि नहीं होती। महादेवी के लिए 'रात के उर में दिवस की चाह' का जो शर है वह अपने लक्ष्य को बींध चुका है। इस प्रकार वेदनावाद के अन्धकार में जीवन-दिवस की चाह अन्ततः उनके काव्य को दीप्त कर देती है। उनके काव्य का मूल्यांकन करते हुए आलोचकों ने मुक्ति पाने की इस आकांक्षा को प्रायः उपेक्षित ही किया है। इसलिए उन्होंने उनके काव्य को केवल आँसुओं से सिक्त तथा वेदना से युक्त पाया है। यह दृष्टिकोण उनके काव्य के सामाजिक पक्ष की अवहेलना करता है। महादेवी के इस सामाजिक पक्ष की अभिव्यक्ति उनकी पद्य रचनाओं में स्पष्ट उपलब्ध होती है। अतः उनके काव्य का मूल्यांकन करने के लिए उनके रहस्यवाद तथा वेदनावाद के मूल में मुक्ति की आकांक्षा से अवगत होना अपेक्षित है।

महादेवी के काव्य में सामाजिक बन्धन से मुक्ति की आकांक्षा का स्वरूप प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त होने के कारण रहस्यात्मक है। यदि उनके प्रतीक विधान का सूक्ष्म विश्लेषण और इन प्रतीकों का विवेचन तत्कालीन सामाजिक परिवेश में किया जाय तो महादेवी के रहस्यवाद का मौलिक स्वरूप तथा वेदनावाद का सामाजिक पक्ष स्पष्ट हो सकता है जो उनके काव्य के सही मूल्यांकन के लिए वांछित एवं अपेक्षित है।

महादेवी का काव्य व्यक्तित्व

नन्ददुलारे वाजपेयी

'यामा' महादेवी वर्मा का सम्पूर्ण काव्य-संग्रह है। इसके चार यामों में उनकी चारों स्फुट रचना-पुस्तकें संगृहीत हैं। इनके अतिरिक्त महादेवीजी की कोई अन्य रचना शायद प्रकाश में नहीं आई है। अवश्य यहाँ मेरा मतलब केवल उनकी काव्य रचनाओं से ही है। ये सब-की-सब मुक्तक पद्य और गीत रूप में हैं जिनकी संख्या दो सौ से कुछ कम है। साथ ही 'यामा' में महादेवीजी की लिखी भूमिकाएँ और उनके बनाये कितने ही चित्र हैं, जिनसे उनके काव्य पर आवश्यक प्रकाश पड़ता है।

अच्छा होता यदि हम बिना कोई भूमिका बाँधे ही 'यामा' का अध्ययन (यहाँ अध्ययन से मेरा मतलब उसकी विशेषताओं के पर्यवेक्षण से है) आरम्भ कर सकते किन्तु ऐसा करने में एक कठिनाई दीखती है। 'यामा' केवल एक संग्रह-पुस्तक ही नहीं है उसमें महादेवीजी का पूरा काव्य-व्यक्तित्व ही है। इस व्यक्तित्व को हम नवीन काव्यधारा से एकदम अलग करके नहीं देख सकते। साम्य और वैषम्य के वे सूत्र हम संक्षेप में देखने होंगे जिनके द्वारा महादेवीजी सामयिक काव्य-जगत् से बँधी हुई हैं। उनके लिए एक छोटी सी उपयुक्त 'सेटिंग' हमें तैयार करनी होगी।

हिन्दी में महादेवीजी का प्रवेश छायावाद के पूर्ण ऐश्वर्य-काल में हुआ था किन्तु आरम्भ से ही उनकी रचनाएँ छायावाद की मुख्य विशेषताओं से प्रायः एकदम रिक्त थीं। मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है। इस व्याख्या में आये 'सूक्ष्म' और 'व्यक्त' इन अर्थगर्भ शब्दों को हम अच्छी तरह समझ लें। यदि वह सौन्दर्य सूक्ष्म नहीं है, साकार होकर स्वतन्त्र क्रियाशील है और किसी कथा या आख्यायिका का विषय बन गया है तो [redacted] उसे छायावाद के अन्तर्गत नहीं ले सकेंगे। छायावाद के इस सीमान्त पर हम स्कॉट और बायरन-जैसे अँग्रेजी के कवियों को पाते हैं, जिन्होंने विमोहक और तल्लीनताकारी नारी-सौन्दर्य को लम्बी कथाओं के सूत्र में बाँधा है, और प्रकृति की अनिर्वचनीय सुषमा को पृष्ठभूमि बनाकर चित्रित किया है। वे शुद्ध छायावादी नहीं कहे जा सकते। और छायावाद के दूसरे सीमान्त पर वर्ड्सवर्थ को देखते हैं जिसकी प्रकृति के प्रति इतनी साधनिक प्रीति है कि वह व्यक्त सौन्दर्य के प्रति निस्पन्द बेपहचान निगूढ़-सी मालूम देती

है सब-कुछ तो सुन्दर ही है, ऐसी भावमयता में मग्न-सी हो गई है। वह भी प्रकृत छायावादी नहीं है। प्रकृत छायावादी तो अँग्रेजी में प्राकृतिक सूक्ष्म सौन्दर्य-भावना का एक मात्र अधिष्ठाता शेली ही हुआ है जो एक ओर कुछ समीक्षकों द्वारा (जो सूक्ष्म के विरोधी हैं) हवाई और आसमानी बताया गया है किन्तु दूसरी ओर जिसे नास्तिक (अव्यक्त सत्ता का विरोधी) कह जाने का श्रेय भी प्राप्त है। आशा है छायावाद की इस मध्यवर्तिनी भूमि पर पाठकों की दृष्टि गई होगी।

मुझे आशा नहीं है कि छायावाद की मेरी यह व्याख्या निकट भविष्य में सर्वमान्य हो सकेगी किन्तु इसकी दार्शनिक और काव्यात्मक शैली इतना सुस्पष्ट व्यक्तित्व रखती है और यह अन्य निकटवर्ती वादों से इतना पृथक अस्तित्व बनाये हुए है कि कोई कारण नहीं कि यह आखिरकार एक अलग वाद के रूप में स्वीकार न कर लिया जाय। सम्प्रति हिन्दी के अधिकांश समीक्षक छायावाद और रहस्यवाद के बीच कोई स्पष्ट विभाजन नहीं कर रहे। नवीन काव्य-युग के निर्माता स्वर्गीय प्रसादजी का इस विषय का विवरण विशेष ध्यान देने योग्य है। वर्तमान रहस्यवाद के सम्बन्ध में वह लिखते हैं—"विश्वसुन्दरी प्रकृति में चेतनता का आरोप संस्कृत वाङ्मय में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। यह प्रकृति अथवा शक्ति का रहस्यवाद सौन्दर्य-लहरी के 'शरीरं त्वं शम्भोः' का अनुकरण-मात्र है। वर्तमान हिन्दी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यंजना होने लगी है वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा 'अहं' का 'इदम्' से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है।"

अब विश्वसुन्दरी प्रकृति में चेतनता की भावना सार्वत्रिक भी हो सकती है और एक-एक सुन्दर वस्तुगत भी हो सकती है। शम्भु अथवा आत्मा का शरीर सारा सृष्टि प्रसार ही है, इस दृष्टि से प्रत्येक वस्तु-मात्र में सौन्दर्य की एक ही धारा प्रवाहित है। प्रकृति में कुछ भी असुन्दर नहीं, यहाँ व्यष्टि भेद नहीं है। पुन प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं (आत्मा) का इदम् (प्रकृति) से समन्वय करने का प्रयास व्यष्टि-सौन्दर्य को स्वीकार करता है। इस प्रकार प्रसादजी ने व्यष्टि सौन्दर्य-दृष्टि (छायावाद) और समष्टि सौन्दर्य दृष्टि (रहस्यवाद) में कोई स्पष्ट अन्तर नहीं किया। किन्तु मैं इस अन्तर का विशेष रूप से आग्रह करता हूँ क्योंकि इनने दो विभिन्न पृथक्-पृथक् काव्यशैलियों की सृष्टि की है। व्यष्टि सौन्दर्य-बोध एक सार्वजनीन अनुभूति है। यह सहज ही हृदयस्पर्शी है, यह सक्रिय और स्वावलम्बिनी काव्य-चेतना की जन्मदात्री है। इसे मैं प्राकृतिक अध्यात्म कह सकता हूँ। समष्टि सौन्दर्य-बोध उच्चतर अनुभूति है। फिर भी यह प्रत्येक दशा में रूढ़ि होने की सम्भावना रखती है। इसमें इन्द्रियानुभूति की सहज प्रवृत्ति या विकास के लिए स्थान नहीं है। यह कदम-कदम पर धर्म के कठघरे में बन्द होने की अभिरुचि रखती है।

काव्य में यह रहस्यवाद बड़े-बड़े दुर्दिन देख चुका है। अपने अतिप्राकृत स्वरूप के कारण पहले तो इसकी अभिव्यक्ति ही अतिशय दुर्गम और दुरूह है किन्तु कुछ सन्त रहस्यवादियों ने कुछ अनाम रास्ते निकाले भी तो उन पर चलने वाले बहुत-से भूरे रहस्यवादी नकलनवीस निकल आये। उन्होंने काव्य की पूरी-पूरी अधोगति कर डाली। सारी प्रकृति को समाहित करने वाली निर्गुण प्रेम की विशुद्ध व्यंजना विषय-वासना का अंग

नन्ददुलारे वाजपेयी | महादेवी का काव्य व्यक्तित्व

'यामा' महादेवी वर्मा का सम्पूर्ण काव्य-संग्रह है। इसके चार भागों में उनकी चारों स्फुट रचना-पुस्तकें संगृहीत हैं। इनके अतिरिक्त महादेवीजी की कोई अन्य रचना सामने प्रकाश में नहीं आई है। अवश्य यहाँ मेरा मतलब केवल उनकी काव्य रचनाओं से ही है। ये सब-की-सब मुक्तक पद्य और गीत रूप में हैं जिनकी संख्या दो सौ से कुछ कम है। साथ ही 'यामा' में महादेवीजी की लिखी भूमिकाएँ और उनके बनाये कितने ही चित्र हैं जिनसे उनके काव्य पर आवश्यक प्रकाश पड़ता है।

अच्छा होता यदि हम बिना कोई भूमिका बाँधे ही 'यामा' का अध्ययन (यहाँ अध्ययन से मेरा मतलब उसकी विशेषताओं के पर्यवेक्षण से है) आरम्भ कर सकते किन्तु ऐसा करने में एक कठिनाई दीखती है। 'यामा' केवल एक संग्रह-पुस्तक ही नहीं है उसमें महादेवीजी का पूरा काव्य-व्यक्तित्व ही है। इस व्यक्तित्व को हम नवीन काव्यधारा से एकदम अलग करके नहीं देख सकते। साम्य और वैषम्य के वे सूत्र हमें संक्षेप में देखने होंगे जिनके द्वारा महादेवीजी सामयिक काव्य-जगत् से बँधी हुई हैं। उनके लिए एक छोटी सी उपयुक्त 'सेटिंग' हमें तैयार करनी होगी।

हिन्दी में महादेवीजी का प्रवेश छायावाद के पूर्ण ऐश्वर्य-काल में हुआ था किन्तु आरम्भ से ही उनकी रचनाएँ छायावाद की मुख्य विशेषताओं से प्रायः एकदम रिक्त थीं। मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है। इस व्याख्या में आये 'सूक्ष्म' और 'व्यक्त' इन अर्थगर्भ शब्दों को हम अच्छी तरह समझ लें। यदि वह सौन्दर्य सूक्ष्म नहीं है, साकार होकर स्वतन्त्र क्रियाशील है और किसी कथा या आख्यायिका का विषय बन गया है तो हम उसे छायावाद के अन्तर्गत नहीं ले सकेंगे। छायावाद के इस सीमान्त पर हम स्कॉट और बायरन-जैसे अँग्रेजी के कवियों को पाते हैं जिन्होंने विमोहक और लालसामयी नारी-सौन्दर्य को लम्बी कथाओं के सूत्र में थामा है और प्रकृति की अनिर्वचनीय सुषमा को पृष्ठभूमि बनाकर चित्रित किया है। वे प्रकृत छायावादी नहीं कहे जा सकते। और छायावाद के दूसरे सीमान्त पर वर्ड्सवर्थ को देखते हैं जिसकी प्रकृति के प्रति इतनी सार्वभौम प्रीति है कि वह व्यक्त सौन्दर्य के प्रति निस्पन्द बेपहचान निमूढ़-सी मालूम देती

है। सब-कुछ तो सुन्दर ही है, ऐसी भावमयता में मग्न-सी हो गई है। वह भी प्रकृत छायावादी नहीं है। प्रकृत छायावादी तो अंग्रेजी में प्राकृतिक सूक्ष्म सौन्दर्य भावना का एक मात्र अधिष्ठाता शेली ही हुआ है जो एक ओर कुछ समीक्षकों द्वारा (जो सूक्ष्म के विरोधी हैं) हवाई और आसमानी बताया गया है किन्तु दूसरी ओर जिसे नास्तिक (अव्यक्त सत्ता का विरोधी) कहे जाने का श्रेय भी प्राप्त है। आशा है, छायावाद की इस मध्यवर्तिनी भूमि पर पाठकों की दृष्टि गई होगी।

मुझे आशा नहीं है कि छायावाद की मेरी यह व्याख्या निकट भविष्य में सर्वमान्य हो सकेगी, किन्तु इसकी दार्शनिक और काव्यात्मक शैली इतना सुस्पष्ट व्यक्तित्व रखती है और यह अन्य निकटवर्ती वादों से इतना पृथक अस्तित्व बनाए हुए है कि कोई कारण नहीं कि यह आविष्कार एक अलग वाद के रूप में स्वीकार न कर लिया जाय। संप्रति हिन्दी के अधिकांश समीक्षक छायावाद और रहस्यवाद के बीच कोई स्पष्ट विभाजन नहीं कर रहे। नवीन काव्य-युग के निर्माता स्वर्गीय प्रसादजी का इस विषय का विवरण विशेष ध्यान देने योग्य है। वर्तमान रहस्यवाद के सम्बन्ध में वह लिखते हैं—"विश्वसुन्दरी प्रकृति में चेतनता का आरोप संस्कृत वाङ्मय में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। यह प्रकृति अथवा शक्ति का रहस्यवाद सौन्दर्य-लहरी के 'शरीरं त्वं शम्भो' का अनुकरण-मात्र है। वर्तमान हिन्दी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यंजना होने लगी है वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा 'अहं' का 'इदम्' से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है।"

जब विश्वसुन्दरी प्रकृति में चेतनता की भावना सार्वभौम भी हो सकती है और एक-एक सुन्दर वस्तुगत भी हो सकती है। शम्भु अथवा आत्मा का शरीर मात्र व्यष्टि प्रसार ही है, इस दृष्टि से व्यक्त वस्तु-मात्र में सौन्दर्य की एक ही धारा प्रवाहित है। प्रकृति में कुछ भी असुन्दर नहीं यहाँ व्यष्टि भेद नहीं है। पुनः प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं (आत्मा) का इदम् (प्रकृति) से समन्वय करने का प्रयत्न व्यष्टि-सौन्दर्य का [illegible] करता है। इस प्रकार प्रसादजी ने व्यष्टि सौन्दर्य-दृष्टि (छायावाद) और [illegible] दृष्टि (रहस्यवाद) में कोई स्पष्ट अन्तर नहीं किया। किन्तु मैं इस अन्तर [illegible] से आग्रह करता हूँ क्योंकि इनमें दो विभिन्न पृथक्-पृथक [illegible] की [illegible] है। व्यष्टि सौन्दर्य-बोध एक भावनाशील अनुभूति है। यह [illegible] है [illegible] और स्वाभिमानिनी काव्य-चेतना की अधिकारी है। [illegible] हूँ। समष्टि सौन्दर्य-बोध उच्चतर अनुभूति है। [illegible] सम्भावना रखती है। इसमें इन्द्रियानुभूति की [illegible] है। यह पदम-पदम पर धर्म के क्षेत्र में [illegible]।

काव्य में यह रहस्यवाद बार-बार दुहराया गया है। [illegible] कारण पहले तो इसकी अभिव्यक्ति [illegible] रहस्यवादियों ने कुछ अज्ञात रम्य [illegible] वाली अस्पष्ट [illegible] विषय बात। [illegible] प्रवृत्ति को प्रभावित करने वाली [illegible]

नाम बनकर रह गई। उपनिषदों का ऊर्जस्वित आत्मवाद सम्पूर्ण कर्तव्यों से हाथ समेटने का बहाना सिद्ध हुआ। योग और तन्त्र-शास्त्रों की प्रकृति को आत्मा में लय करने की सारी प्रक्रिया जो पूर्ण मनुष्यत्व का साधन थी, अनहोनी सिद्धियों और तामसिक उपचारों का दूसरा नाम बन गई। शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आत्मिक सबलता का प्रचारक रहस्यवाद 'ना घर मेरा ना घर तेरा चिड़िया रैन बसेरा' गाकर भीख माँगने वालों का बहाना बन गया। एक ओर तो यह नकली रहस्यवाद की प्रगति हुई और दूसरी ओर रूढ़िबद्ध होकर रहस्य-काव्य विनय के पदों, भक्तिगीतों, धार्मिक आख्यानों आदि में परिमित हो गया। अवश्य ही ईरान और फारस के कुछ सूफी कवियों और भारत के कुछ निर्गुणियों ने रहस्य-काव्य की वास्तविक मर्यादा स्थिर रखी, किन्तु उनकी संख्या अंगुलियों पर गिने जाने के योग्य है। यह कमी भी है, यह कम गौरव की बात नहीं, क्योंकि हम कह चुके हैं कि रहस्यानुभूति एक अति विरल वस्तु है और उसकी काव्य प्रक्रिया भी उतनी ही दुरूह और दुःसाध्य है।

रहस्य-काव्य की मुख्य परम्पराओं में हम नीचे लिखे भेदों की परिकल्पना कर सकते हैं। यदि हम प्रकृति की ओर से आत्मसत्ता की ओर आवें तब तो इस यात्रा का क्रम इस प्रकार होगा—विश्व-सुन्दरी प्रकृति में चेतना का आरोप यह पहली सीढ़ी है। इसी के अन्तर्गत सुख और दुःख का सामंजस्य, जिसे प्रसादजी ने समरसता कहा है, आ जाता है। यही प्रसादजी की 'अपरोक्ष अनुभूति' भी है। महादेवीजी ने इसे छायावाद की सीमा में मानकर एक-दूसरे ढंग से कहा है—'छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई, अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओस बिन्दुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है।' वास्तव में यह रहस्यवाद का पहला और व्यापक उपक्रम है जिसमें भावना-बल से 'एकोऽहं बहुस्याम' को 'एकोऽहं' की ओर प्रतिफलित करते हैं। सांसारिक सुख-दुःख, राग-विराग आदि जितने भी द्वन्द्व हैं सबको एक ही चेतन से सम्बद्ध करने की यह प्रणाली रहस्यवाद के प्रथम सोपान पर मिलती है। इस सोपान पर हम महादेवीजी को नहीं पाते। यद्यपि अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों के विकास के सिलसिले में उन्होंने लिखा है कि "पहले बाहर खिलने वाले फूल को देखकर मेरे रोम रोम में ऐसा पुलक दौड़ जाता था मानो वह मेरे हृदय में ही खिला हो, परन्तु उसके अपने से भिन्न प्रत्यक्ष अनुभव में एक अव्यक्त वेदना भी थी, फिर वह सुख दुःख-मिश्रित अनुभूति ही चिन्तन का विषय बनने लगी और अन्त में अब मेरे मन ने न जाने कैसे उस भीतर-बाहर में एक सामंजस्य ढूँढ लिया है, जिसने सुख-दुःख को इस प्रकार बुन दिया कि एक के प्रत्यक्ष अनुभव के साथ दूसरे का अप्रत्यक्ष आभास मिलता रहता है।" किन्तु महादेवीजी के काव्य में प्राकृतिक सुख-दुःख का अथवा उसके सामंजस्य का कोई उल्लेख नहीं मिलता। प्रकृति के किसी भी दृश्य या मानव-मनोभाव का आकलन उनकी रचनाओं में नहीं के बराबर है। दृश्य प्रकृति में हिमालय पर ही उनकी एक रचना 'यामा' में देखने को मिली, किन्तु वहाँ भी अन्तर्मुखी भावना ही उभर पाई है। प्रकृति के रूपों, दृश्यों और भावों को महादेवीजी ने चेतना का प्रेरक न रखकर उन सबको एक-एक चेतन व्यक्तित्व-सा दे दिया है। उनकी पहली ही रचना—

निशा को धो देता राकेश
चाँदनी में जब अलकें खोल
कली से कहता था मधुमास,
बता दो मधुमदिरा का मोल

यद्यपि व्यक्त सौन्दर्य की भी झलक लिये हुए है किन्तु यहाँ वह गौण है और महादेवीजी की रचनाओं में उत्तरोत्तर गौण होता गया है। आगे चलकर सारी प्रकृति और उसके समस्त उपकरण एक निश्चित वेदना की अनेक-रूप अभिव्यक्ति के लिए भाँति-भाँति की दौड़ लगाते हैं, जिसे हम इसी निबन्ध में देखेंगे। प्रकृति की परिपूर्ण छवि की आत्मरूप प्रतिष्ठा हमें वर्ड्सवर्थ में ही मिलती है। कुछ लोग हिन्दी में गुरुभक्तसिंह को वर्ड्सवर्थ का स्थानापन्न मानते हैं। किन्तु प्रकृति की आध्यात्मिकता की अनुभूति गुरुभक्तसिंह में हमें विशेष नहीं मिलती। एक-एक डाली एक-एक लता, एक-एक पत्ती अथवा उद्भिज्ज को चेतन क्रियाशील उल्लेख कर देने से ही उनकी आध्यात्मिकता प्रकाश में नहीं आती। यह चेतन व्यक्तित्व देने की प्रकृति ही ह्रासोन्मुख होकर 'चिड़िया का विवाह' नामक ग्रामीण गीत में परिणत हो गई है जिसमें सब चिड़ियों को विवाह-सम्बन्धी एक-एक काम सुपुर्द किया गया है। समरसता (सुख-दुख का आध्यात्मीकरण) और अपरोक्ष आध्यात्मिक अनुभूति का हिन्दी में सबसे सुन्दर उदाहरण प्रसादजी का आँसू काव्य है।

रहस्यवाद के इस सोपान से ऊपर उठने पर हम प्रत्यक्ष अनुभूति को छोड़कर परोक्ष अनुभूति के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। महादेवीजी के काव्य की यही भूमि है। परोक्ष अनुभूति के भी कितने ही भेदोपभेद हैं, जिन्हें दार्शनिक दृष्टि से तीन मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है—सगुण साकार, सगुण निराकार और निर्गुण निराकार। एक दिव्य व्यक्तित्व पर, वह प्रेममय हो करुणामय हो अथवा शक्तिमय या आनन्दमय, आस्था रखने वाले सगुण साकार के अनुयायी होते हैं। महादेवीजी की अधिकांश रचना का यही दार्शनिक आधार दीखता है। वह लिखती भी हैं—"आत्मीय सम्बन्धों में जब तक अनुरागजनित आत्मविसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव दूर नहीं होता। इसी से इस (प्राकृतिक) अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण करके उसके निकट आत्मनिवेदन कर देना इस काव्य का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय रूप के कारण रहस्यवाद का नाम दिया गया। मधुरतम व्यक्तित्व की यह नियोजना महादेवीजी के काव्य में मौजूद है किन्तु उसके निकट आत्मनिवेदन करने वाले बहुत-से भक्त कवि हो गए हैं जिनका धार्मिक दृष्टि से पर्याप्त आदर है किन्तु जिन्हें रहस्य-काव्य का स्रष्टा नहीं कहा जा सकता। स्पष्ट है कि महादेवीजी ने अपने इस वक्तव्य में आवश्यक सतर्कता से काम नहीं लिया। यही नहीं उन्होंने रूढ़िबद्ध धार्मिक काव्य और वास्तविक रहस्यकाव्य का स्पष्ट अन्तर सदैव अपने सामने नहीं रखा जिससे उनकी रचनाओं में स्थान स्थान पर पारदर्शी अध्यात्म की जगह रूढ़ि के चिह्न मिलते हैं।

सगुण साकार दार्शनिकता का सबसे बड़ा खतरा यही है कि वह निःसीम सौन्दर्य सत्ता का रहस्य खोकर सीमा-रेखाओं में आ जाता और वास्तविक परोक्ष अनुभूति-गम्य

काव्य का विषय न रहकर धर्म और उपासना का आधार बन जाता है। सगुणदार्शनिकों और कवियों ने इस कठिनाई को खूब अच्छी तरह समझा था। इसीलिए उन्होंने बचाव के उपाय कई निकाले थे। प्रथम उन्होंने उस मधुरतम व्यक्तित्व को अलौकिक सत्ता-सम्पन्न मंडित करने की चेष्टा की। इसके लिए दार्शनिकों को दिव्य सत्ता सम्बन्धी एक नई दार्शनिक प्रक्रिया ही चलानी पड़ी जिसमें उस दिव्य व्यक्तित्व के सभी उपकरणों उसके नाम रूप लीला और धाम को तथा उससे संपृक्त वस्तु-व्यापार को बार बार अप्राकृत घोषित करना पड़ा। किन्तु काव्य अथवा कलाओं का काम केवल घोषणा से नहीं चलता। उन्हें ऐसी प्रतीक-योजना का सहारा लेना पड़ा जिससे वस्तुतः अलौकिक का आभास मिल सके। कवियों को उस मधुरतम चरित्र के निर्माण में दिव्य सौन्दर्य-सृष्टि की अशेष कला समाप्त कर देने पर भी सीमा के अन्दर सन्तोष नहीं हुआ। उन्हें पद-पद पर उस व्यक्तित्व की महिमा का अलग से निर्देश करते रहना पड़ा जिस पद्धति को हम 'श्रीमद्भागवत' और 'श्रीराम चरितमानस' में भी देखते हैं। फिर भी ससीमता और असीमता साकारता और रहस्य में जो मौलिक अन्तर है उसकी पूर्ति नहीं हुई। फलतः सीता राम और राधा-कृष्ण की पूर्ण परोक्ष अनुभूति काव्य के अन्दर नहीं हो सकी। तब रामायत कवियों ने रहस्य का रास्ता छोड़कर चरित्र की व्यक्त महत्ता के आग्रह द्वारा महाकाव्य की सृष्टि कर डाली और कृष्णायत कवियों ने प्रेम और सौन्दर्य की अशेष तरंगिणी बहाकर राधाकृष्ण की जो चरित-लीला निर्मित की वह रोमांचक भावों से भर गई। किन्तु रहस्यवाद के निकट होते हुए भी वह रहस्य-काव्य नहीं कहा जा सकता। अवश्य इस चरित्र के दो प्रधान प्रसंगों—रास और भ्रमरगीत में हम रहस्य-काव्य के सारे लक्षण पाते हैं। रहस्य के क्षेत्र में वैष्णव कवियों की वास्तविक सफलता इन्हीं दो प्रसंगों को लेकर है।

जब उस मधुरतम व्यक्तित्व के प्रति आत्मनिवेदन का क्रम आरम्भ हुआ तब तो काव्य स्पष्टतः धार्मिक घेरे में आ गया। यहाँ मेरा मतलब उन विनय-गीतों से है जिनका कृष्णकाव्य में भी प्राचुर्य है और जिनसे तुलसीदासजी की 'विनय-पत्रिका' भरी हुई है। इस प्रकार के काव्य में प्रकृत रहस्यात्मक अनुभूतियों की टोह लगाना व्यर्थ श्रम है। मूर्त प्रतीकों में अलौकिक अमूर्त तत्त्व का साक्षात्कार कराने वाली समुन्नत रहस्य-कला उसमें हम नहीं पाते। यदि हममें पर्याप्त काव्य भावना का विकास होता तो उन्हें उन्नत रहस्य काव्य कहना हमने कभी का छोड़ दिया होता। धार्मिक काव्य की दृष्टि से उनका आदर सदैव रहेगा किन्तु प्रकृत रहस्य-काव्य की दृष्टि से नहीं।

मेरा यह आशय नहीं है कि महादेवीजी ने 'मधुरतम व्यक्तित्व' की सृष्टि करके रहस्य की इतिश्री कर दी है, और न मैं यही कह रहा हूँ कि उसके प्रति उनका आत्मनिवेदन भी धार्मिक कवियों के ही ढंग का है। प्रचुर कल्पनागुण के कारण महादेवीजी ने रहस्यात्मकता कभी छोड़ी नहीं किन्तु उनकी रचनाओं में भक्तों और निर्गुणियों की रूढ़ि भी कम नहीं मिलती। इसे हम आगे चलकर देखेंगे। इसका मुख्य कारण मधुरतम व्यक्तित्व की नियोजना और आत्मनिवेदन की परम्परागत प्रेरणा ही है। किन्तु महादेवीजी के पास फिर से लौटने के पहले हम रहस्यवाद की शेष दोनों श्रेणियों को भी थोड़े में देख लें।

सगुण निराकारवादी सूफियों की है। सच पूछिये तो रहस्य-काव्य का सच्चा

स्वरूप हमें इन्हीं में मिलता है। प्राकृतिक प्रेम प्रतीकों के भीतर परोक्ष प्रेम-सत्ता का इतना प्रगाढ़ बारम्बार प्रवेश और पुनः-पुनः उस अव्यक्त का नैसर्गिक आवाहन और आमंत्रण हम अन्यत्र कहाँ पाते हैं? अवश्य जहाँ यह प्रेम कथानक का रूप धारण करता है वहाँ वही कठिनाई सूफियों के सामने भी आती है जो वैष्णव साकारोपासकों के सामने आई है। यहाँ सूफियों ने कथा को सैद्धान्तिक दृष्टि से रूपक मात्र घोषित किया है किन्तु इससे समस्या सुलझ नहीं पाई। फलतः सूफी आख्यानक काव्यों में रूपक की चिन्ता न करके सारी वर्णना के भीतर अति मोहक प्राकृतिक सौन्दर्य-तल्लीनता प्रेम के प्रति परिपूर्ण आत्मविसर्जन और फिर भी उसकी दुष्प्राप्ति का संकट दिखाकर अव्यक्त प्रेम रहस्य को इंगित किया गया है। इन कथानकों को रहस्य-काव्य कहने में फिर भी संकोच रह ही जाता है। यह स्पष्ट है इसलिए कि कथा के मूल साद्यन्त रहस्य की रक्षा नहीं कर सकते और यदि उन्हें रूपक मान लें तो सहज काव्य-सौन्दर्य की हानि हो जाती है। इसीलिए कथानकों वाले जायसी आदि कवियों को रूपक के स्वरूप की चिन्ता न करके सारे काव्य को चाहे वह मायारूपिणी नागमती अथवा विद्यारूपिणी पद्मावती का प्रसंग हो आत्मविसर्जन कारी अलौकिक प्रेम-पीर से आप्लावित कर देना पड़ा है। फिर भी कथा का बन्ध स्थान-स्थान पर बाधक बन ही गया है।

कुछ समीक्षक इसी निराकार प्रेम-व्यंजना के भीतर, ब्रज में विहरण करने वाली गिरिधर-मूर्ति की उपासिका, चिरन्तन प्रेम और चिर-विरहमयी मीरा के काव्य को भी शुमार करते हैं किन्तु ऐसा करने का हमें कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं दीखता। जिन्होंने सूरदासजी के 'गोपीविलाप' और 'भ्रमरगीत' का अध्ययन किया है उन्हें मीरा को किसी निराकार कृष्ण की उपासिका बना देने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होगी। अवश्य मीरा एक नारी थीं और गिरिधर के प्रति उनका प्रियतम भाव था किन्तु ऐसा ही भाव गोपियों का भी था जो निराकार की उपासिका नहीं थीं। स्वप्न में प्रियतम के दर्शन आदि के उल्लेख गोपियों के विरह-वर्णन में भी मिलते हैं और मीरा में भी। महादेवीजी और मीरा दार्शनिक दृष्टि से एक ही परम्परा की अनुयायिनी प्रतीत होती हैं।

निर्गुण निराकार ही आध्यात्मिक दार्शनिकता की चरम कोटि है। एक अनन्य सम्भव चरम तत्त्व जिसमें विकास में भी कोई भेद किसी प्रकार सम्भव नहीं जिस चिर स्थिर आत्मतत्त्व के अविकल गौरव में संसार की उच्चतम अनुभूतियाँ भी मरीचिका-सी प्रतीत होती हैं यह परिपूर्ण आह्लाद जिसमें स्मित-तरंगों के लिए कोई अवकाश नहीं रहस्यवाद का सर्वोच्च निकष है। इसके ओजस्वी निरूपण उपनिषदों के बीच और कहीं नहीं मिलते। आगे चल कर इसकी महामहिमा का क्षय होने लगा इसमें विरह के कमजोर अंग जुड़ने लगे और क्रमशः यह वैराग्यमूलक करुण भावनाओं का अधिष्ठान बना दिया गया। काव्य में जब तक इसका केवल सांकेतिक स्वरूप रहा तब तक यह अधिक विकृत नहीं हुआ था (उदाहरणार्थ आरम्भिक बौद्ध-साहित्य में) किन्तु जब इसमें साम्प्रदायिक धारणाएँ प्रवेश करने लगीं और इड़ा-पिंगला आदि की चर्चा बढ़ गई तब काव्यदृष्टि से इसका ह्रास होने लगा। कबीर की चमत्कारपूर्ण प्रतिभा और अन्तर्दृष्टि के फलस्वरूप एक बार फिर यह अक्षर तत्त्व प्रकाश में आया किन्तु इस बार था उतना ओजस्वी और

महिमामय नहीं था। कारण इस बार प्रतिस्पर्द्धिनी माया भी सम्बल-सहित उपस्थित थी। कबीर से आगे बढ़ने पर मायावादी की छाया भी काव्य में जोर पकड़ने लगी और क्रमशः प्रसार की सत्ता असंख्य रूपों की अन्तिम सीमा पर जा पहुँची। जहाँ आरम्भ में भेदों की अस्वीकृति इष्ट थी वहाँ अन्त में भेदों का प्राधान्य ही प्रमुख बन गया। ऐसी अवस्था में निर्द्वन्द्व अध्यात्म-सत्ता अपने पूर्ण गौरव से कैसे स्थिर रहती?

ऊपर मैं प्रसंगवश कह चुका हूँ कि महादेवीजी के काव्य में छायावाद-युग की विशेषताएँ नहीं मिलतीं। प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति 'पल्लव' वाले पंतजी का-सा विमोहक आकर्षण उनमें नहीं इसके बदले वह प्रकृति के एक-एक रूप या उसकी एक-एक वृत्ति को साकार व्यक्तित्व देकर उनके व्यापारों की कल्पना करती हैं जिसमें उनकी समृद्ध कल्पनाशीलता प्रकट हुई है। अवश्य यह कल्पना-बाहुल्य ही छायावाद-युग की एक विशेषता उनके काव्य में दीखती है। किन्तु ये कल्पनाएँ सब जगह सीधी और चोट करने वाली नहीं हैं उनका प्रत्यक्ष रूप सहज आँखों के सामने नहीं आता। कहीं-कहीं तो उन प्रतीकों का वह कल्पित व्यापार हमारे सौन्दर्य-संस्कारों के प्रतिकूल पड़ जाता है और कहीं-कहीं वह इतना क्लिष्ट होता है कि हम ईप्सित सौन्दर्य की झाँकी नहीं पा सकते। इन दोनों का एक-एक उदाहरण मैं देना चाहता हूँ—

रजनी ओढ़ जाती थी झिलमिल तारों की जाली।
उसके बिखरे वैभव पर जब रोती थी उजियाली॥

यह प्रभात का दृश्य है। रजनी का झिलमिल तारों की जाली ओढ़कर जाना बड़ी ही सरस और मार्मिक कल्पना है। किन्तु उजियाली का रोना हम साधारणतः कहीं नहीं देखते। वह प्रायः हँसती ही आती है। यहाँ हमें अपनी अभ्यस्त अनुभूतियों को दबा कर यह कल्पना करनी पड़ती है कि प्रभातकाल की नमी अथवा ओस—आँसू के रूप में उजियाली रो रही है।

क्लिष्ट कल्पना का एक उदाहरण मैंने यह चुना है—

निश्वासों का नीड़ निशा का बन जाता जब शयनागार।
लुट जाते अभिराम छिन्न मुक्तावलियों के बंदनवार॥
तब बुझते तारों के नीरव नयनों का यह हाहाकार।
आँसू से लिख-लिख जाता है कितना अस्थिर है संसार॥

आकाश में रात्रि के समय अचानक बादल छा गये हैं और पानी बरसने लगा है। इसी अवस्था की कल्पना यह जान पड़ती है अथवा यह रात्र्यन्त की कल्पना है। रात्रि की मुक्तावलियों के अभिराम बंदनवार (तारिका-पंक्ति) छिन्न होकर लुट गए हैं। निश्वासों का नीड़ उसका शयनागार बन गया है। तारे बुझ रहे हैं बूँदें गिरने लगी हैं वही मानो बुझते तारों के नीरव नयनों का हाहाकार और उसके आँसू हैं जिनके द्वारा यह लिखा जा रहा है 'संसार कितना अस्थिर है!' कितनी कल्पना हमें ऊपर से करनी पड़ती है स्वयं विचार कीजिए। और अब भी मुझे निश्चय नहीं कि मेरा अर्थ ठीक ही है।

जिस क्षण को महादेवीजी की कल्पना ने पकड़ा है—तारों से हँसते हुए आकाश में सहसा मलिन बादलों का छा जाना अथवा निशान्त में तारों का बुझना वह काव्योपयुक्त

और अति सुन्दर है किन्तु क्या यही बात उनके इस चित्रण के सम्बन्ध में कही जा सकती है ?

इसके दो कारण मुझे दीखते हैं। एक तो यह कि महादेवीजी की कविताएँ इतनी अन्तर्मुख हैं कि वे प्रकृति के प्रत्यक्ष स्पर्शों उसकी ध्वनियों और संकेतों से सुपरिचित नहीं और दूसरा यह कि वे काव्य के एक-एक अन्य को एक-एक चित्र के रूप में सजाना चाहती हैं जिसमें वस्तुओं और व्यापारों की योजना संश्लिष्ट हुआ करती है। और क्यों कि वह मानसिक वृत्तियों और वातावरणों को भी उन्हीं वस्तु-व्यापारों के द्वारा व्यंजित करना चाहती हैं, इसलिए यह कार्य उनके लिए दुःसाध्य हो जाता है। उनके इन दीर्घ चित्रणों की तुलना अन्य प्रमुख छायावादियों से कीजिए तो अन्तर आप देखेंगे—

देख वसुधा का यौवन भार, गूँज उठता है जब मधुमास।
विधुर उर के-से मृदु उद्गार, कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास।
न जाने सौरभ के मिस कौन संदेशा मुझे भेजता मौन।

—सुमित्रानंदन पंत ('मौन निमंत्रण)

अथवा—

पवन में छिपकर तुम प्रतिपल, पल्लवों में भर मृदुल हिलोर।
चूम कलियों के मुद्रित दल पत्र-छिद्रों में गा निशि भोर॥
विश्व के अन्तस्तल में व्याप्त, बना देती हो तड़ित-प्रवाह॥

—निराला ('स्मृति)

अवश्य ये चित्र अधिक हल्के और अलंकृत हैं इनमें सूक्ष्मतर रूप-योजना और भाव-व्यंजना की वह महत्त्वाकांक्षा भी नहीं है यह हम स्वीकार करेंगे किन्तु तब हम महादेवीजी से कहेंगे कि वह अपनी उच्चतर कला आकांक्षा के उपयुक्त सामग्री का भी संचय करें। यह कहना भी उचित न होगा कि जिस सूक्ष्मतर भावभूमि के चित्र महादेवीजी देती हैं उनमें अस्पष्टता अनिवार्य है। अस्पष्टता काव्य का कोई गुण नहीं है यह चित्रण की दुर्बलता ही है। अस्पष्ट छाया भावों का चित्रण भी सुस्पष्ट मोती के पानी जैसा भीतर से दमकता और मर्मस्पर्शी होना चाहिए। कवि की विशेषता तो इसी में है।

महादेवीजी ने भी जहाँ अलंकृत चित्रांकन छोड़कर सीधा रास्ता पकड़ा है, वहाँ भी सजीव कविता का स्रोत बह चला है।

स्वप्न का था नीरव उच्छ्वास वेद वीणा का टूटा तार।
मृत्यु का क्षणभंगुर उपहार, रत्न वह प्राणों का शृंगार॥
नई आशाओं का उपवन मधुर वह था मेरा जीवन।

और जहाँ वह कल्पना के अर्द्धस्फुट या दुरूह उपमानों को छोड़कर इसी सरलता के साथ चित्रांकन भी करने लगी हैं वहाँ उनके चित्र खूब साफ आए हैं जैसे—

जाग जाग सुकेशिनी री
अनिल ने आ मृदुल हौले शिथिल वेणी बंध खोले
पर न तेरे पलक डोले। बिखरती अलकें झरे जाते
सुमन वर वेषिनी री।

छाँह में अस्तित्व खोये अश्रु से सब रंग धोये।
मन्दप्रभ दीपक सजोये पंथ किसका देखती तु
अलस स्वप्न निमेषिनी री !

पाठक देखेंगे कि यह सौन्दर्य-चित्रण आध्यात्मिक रहस्य-सुषमा से परिपूर्ण है इसे छायावाद की परम्परा में हम नहीं ले सकते। इसमें एक विलक्षण उदासीनता सात्विकता शान्ति और निश्चलता झलकती है। छायावाद की चंचलता चापल्य और चटक इसमें नहीं। महादेवीजी के काव्य की यह एक सार्वभौम विशेषता है।

किन्तु महादेवीजी की अधिकांश रचनाओं में ऊपर के-से भाव-संकेतक रूप-चित्र नहीं मिलते भावों का चित्रण ही प्रधानतः मिलता है। मेरी अपनी दृष्टि से रूप-चित्रण की सहायता के बिना रहस्यवाद भी काव्य-कला का पूर्ण प्रस्फुटन नहीं हो सकता। जो स्वयं अव्यक्त वस्तु है उसे अस्फुट उपमानों से व्यक्त करना पाठकों को काव्य रस से अंशतः वंचित ही रखना है। जैसे 'मधुर पीड़ा' के सम्बन्ध में ये पंक्तियाँ—

इसमें अतीत सुलझाता अपने आँसू की लड़ियाँ
इसमें असीम गिनता है वे मधुमासों की घड़ियाँ

किन्तु इनकी गणना कहाँ तक की जाय यह महादेवीजी की प्रधान काव्य शैली ही है। तो भी इसके अन्दर कुछ उच्चकोटि की रचनाएँ भी उन्होंने की हैं। जहाँ व्यक्त रूप किसी-न किसी प्रकार आ गए हैं वहाँ रचना प्रायः सुन्दर हुई है—

किसी नक्षत्र लोक से टूट
विश्व के शतदल पर अज्ञात।
ढुलक जो पड़ी ओस की बूँद,
तरल मोती-सा ले मृदु गात—
नाम से जीवन से अनजान,
कहो क्या परिचय दे नादान !

अथवा—

स्मित तुम्हारी से छलक यह ज्योत्स्ना अम्लान
जान कब पाई हुआ उसका कहाँ निर्माण !
अचल पलकों में जड़ी-सी तारिकाएँ दीन
ढूँढती अपना पता विस्मित निमेष विहीन।

×

कौन तुम मेरे हृदय में ?
कौन मेरी कसक में नित मधुरता भरता अलक्षित ?
कौन प्यासे लोचनों में घुमड़ घिर झरता अपरिचित ?
अनुसरण निश्वास मेरे कर रहे किसका निरन्तर ?
चूमने पदचिह्न किसके लौटते यह श्वास फिर-फिर ?

यह पिछला पद प्रसादजी के 'कौन हो तुम इसी भूले हृदय की चिर खोज ?' का स्मरण दिलाता है यद्यपि महादेवीजी और प्रसादजी की रहस्य भावना में यह सुस्पष्ट

न्तर है कि महादेवीजी का झुकाव सदैव करुणा और भक्ति की ओर रहता है जब कि सान्ध्यगीत प्राय: तादात्म्य का संकेत करते हैं।

'मत अरुण घूँघट खोल री' और 'शृंगार कर ले री सजनि' रहस्यात्मक रूप-विन्यास के सुन्दर उदाहरण हैं।

'सान्ध्यगीत' में दार्शनिक एकाग्रता उच्चतर हो उठी है किन्तु काव्य-उपादान उतनी ही मात्रा में समृद्ध नहीं हो पाया। इसीलिए सम्भवतः इन गीतों की रहस्य भावना ही प्रधान स्थान पा गई है उपयुक्त रूप-योजना उन्हें नहीं मिल सकी। भावना का वैसा ही विकास होते हुए भी 'सान्ध्यगीत' में और महाकवि रवीन्द्र की 'गीतांजलि' में दो मुख्य अन्तर हैं। उनकी अजेय काव्य-शक्ति कभी उनकी भावना का साथ नहीं छोड़ती। भावना की दौड़ में पिछड़ जाने पर ही काव्य को—

पंकज कली पंकज कली
क्या तिमिर कह जाता करुण,
क्या मधुर दे जाती किरण!

जैसी अन्योक्ति-पद्धति पकड़नी पड़ती है। यद्यपि यह अन्योक्ति ऊँचे दर्जे की है किन्तु अन्योक्ति कितने ही ऊँचे दर्जे की हो उसकी काव्य से भिन्न बौद्धिकता बिना खटके नहीं रह सकती। दूसरी बात यह है कि रवि बाबू की रचनाओं में कल्पना की जो एकतानता जो प्रसार, जो अटूट शृंखला मिलती है वह इन गीतों में उतनी नहीं। तो भी छोटे-छोटे टुकड़ों में अपने ढंग की सफ़ाई और काफी काम महादेवीजी के बहुत-से गीतों में मिलता है।

प्रसाद के 'आँसू' निराला की 'स्मृति' जैसी उदात्त और उच्छ्वान कल्पना तथा पद-पद कल्पना सौन्दर्योन्मेष महादेवीजी में नहीं है किन्तु वेदना का विन्यास उसकी परवशता ('आब्सेसिवनेस') का बहुरूप और विवरणपूर्ण चित्रण जितना महादेवीजी ने किया है, उतना ये तीनों कवि नहीं दे सके हैं।

'सान्ध्यगीत' की पहली ही कविता में सान्ध्य-गगन और जीवन का बिम्ब-प्रतिबिम्ब स्तम्भ महादेवीजी के काव्य में चित्रांकन-कला का एक सफल उदाहरण है भले ही सहज भावोच्छ्वास का प्रवाह उसमें न हो।

मैंने पहले कहा है कि छायावादी काव्य के व्यक्त प्रकृति के सौन्दर्य-प्रतीकों को न लेकर महादेवीजी ने उन प्रतीकों की अव्यक्त गतियों और छायाओं का संग्रह किया है। इससे उनकी रचनाओं में वेदना की निभृति और रहस्यात्मकता बढ़ गई है किन्तु वे रचनाएँ कहीं-कहीं अधिक दुरूह हो गए हैं। उदाहरण के लिए यह रचना लीजिए—

उच्छ्वासों की छाया में पीड़ा के आलिंगन में
निःश्वासों के रोदन में इच्छाओं के चुम्बन में
उन बसी हुई सोती-सी उजियाली की पलकों में
बिखरी उलझी हिलती-सी मलयानिल की अलकों में
सूने मानस-मन्दिर में सपनों की मुग्ध हँसी में
आशा के आवाहन में बीते की चितवन में

देव, अब वरदान कैसा ?
भेद दो मेरा हृदय माला बनूँ प्रतिकूल क्या है।
मैं तुम्हें पहचान लूँ इस कूल तो उस कूल क्या है!
छीन सब मीठे क्षणों को इन अथक अन्वेषणों का।
आज लघुता ले मुझे दोगे निठुर प्रतिदान कैसा ?
जन्म से यह साथ है मैंने इन्हीं का प्यार जाना।
स्वजन ही समझा दृगों के अश्रु को पानी न माना!
इन्द्र-धनु से नित सजी-सी विद्यु-हीरक से जड़ी-सी।
मैं भरी बदली रहूँ चिर मुक्ति का सम्मान कैसा ?

इस अवस्था की अनुभूतियों का वैविध्य और काव्य की मनोहारिता महादेवीजी में ऊँची श्रेणी की है। कोई भी छायावादी इतने अटल भाव से इस भूमि में नहीं रह सका। इस भूमि की प्रदीप्त अनुभूतियों का ऐसा संकलन नवीन युग का कोई हिन्दी कवि नहीं कर सका है। तो भी हम कहेंगे कि महादेवीजी का काव्य व्यक्तिगत दुःख को सब जगह आध्यात्मिक ऊँचाई तक नहीं ले जा सका है।

महादेवीजी जिस नये क्षेत्र में जिस नवीन ढंग से काम कर रही हैं उससे उनकी कठिनाइयों का अनुमान हम कर सकते हैं। एक तो परोक्ष स्तर की निगूढ़ अनुभूतियों का संग्रह फिर उनका परिष्करण और उन्हें उपयुक्त व्यंजना देना तीनों ही आयास-साध्य हैं। फिर महादेवीजी अपनी व्यंजना-शैली में भी एक नवीनता रखती हैं। ऐसी अवस्था में हमें आश्चर्य नहीं होता कि भाषा तुकों और छन्दों के विन्यास की ओर वह पर्याप्त सतर्क न हो सकीं। महादेवीजी की भाषा में हमें समृद्ध छायावादी चमत्कृति नहीं मिलती। तुकों के सम्बन्ध में भी काफी शिथिलता दीखती है। छन्दों और गीतों में भी एकरूपता अधिक है। भावों को काव्याभिव्यंजना देने के सिलसिले में कहीं-कहीं सुन्दर कल्पनाओं के साथ ढीले प्रयोग एक पंक्ति के बाद दूसरी ही पंक्ति में आते मिल हैं—

जिन नयनों की विपुल नीलिमा में मिलता नभ का आभास।
जिन मानस में डूब गये कितनी करुणा कितने तूफान।
जिन अधरों की मन्द हँसी थी नव अरुणोदय का उपमान।
किया दैव ने जिन प्राणों का केवल सुषमा से निर्माण।
ओठों की हँसती पीड़ा में आहों के बिखरे त्यागों में।
जो तुम आ जाते एक बार
कितनी करुणा कितने संदेश पथ में बिछ जाते बन पराग।

इन उद्धरणों की पहली पंक्तियाँ जितनी सुन्दर और काव्योपयुक्त हुई हैं उतने ही प्रत्येक दूसरी पंक्ति के शिथिल प्रयोग चिन्त्य हो गए हैं। कई पंक्तियाँ शुष्क पद्य-सी प्रतीत होती हैं—

मैं सरिता तू उसका कुमार।
मैं छाया तू उसका आधार।

जब चितवन के मृदु खुला उनके पट में रहस्य की बात।
मेरे निर्निमेष पलकों में मचा गये क्या-क्या उत्पात।
गये तब से कितने युग बीत हुए कितने दीपक निर्वाण।
नहीं पर मैंने पाया सीख, तुम्हारा-सा मनमोहन गान॥

नीचे लिखी पंक्ति ध्वनि-वैचित्र्य का एक उदाहरण है—

शिथिल मधु-पवन गिन-गिन मधुकण
हरसिंगार झरते हैं झर-झर।

'तुम बिन' 'उन बिन'-जैसे प्रयोग अधिक नहीं खटकते और 'पथ बिन अन्त' भी चल जाता है। 'मैं न जानी' 'मैं प्रिय पहचानी नहीं' जैसे व्याकरण-असम्मत प्रयोग भी अप्रिय नहीं लगते। तो भी कहना पड़ता है कि महादेवीजी की रहस्यानुभूति जितनी समृद्ध है, उनकी काव्य-प्रतिभा उतनी ही उत्कृष्ट नहीं और भाषा-शक्ति भी सीमित है। किन्तु अभी महादेवीजी निरन्तर विकास के मार्ग पर बढ़ रही हैं, वह किस दिशा में कितना बढ़ेंगी यह अब तक अज्ञात है। इसलिए उनकी किसी भी विशेषता पर अन्तिम मुहर अभी नहीं लगाई जा सकती।

अब यहाँ मुझे उन मतदाताओं के समाधान में कुछ अन्तिम शब्द कहने होंगे जो महादेवीजी की अनुभूतियों पर काल्पनिकता का आरोप करते हैं। उनकी समझ में नहीं आता कि किस जगत् की बातें वह कर रही हैं और उनसे हमारा क्या सम्बन्ध हो सकता है। इन्हीं में से वे कुछ लोग भी हैं जो आधुनिक कोलाहल में व्यस्त होने के कारण या तो महादेवीजी के काव्य-जगत् में पहुँच ही नहीं पाते अथवा दो-चार चीजों की बानगी लेकर शेष सब एकरूप ही हैं कहने की जल्दबाजी करते हैं। इन सबको मेरा उत्तर यह है कि महादेवीजी के काव्य का आधार उसी अर्थ में काल्पनिक कहा जा सकता है जिस अर्थ में कबीर और मीरा का काव्याधार काल्पनिक है जिस अर्थ में 'गीतांजलि' और 'आँसू' काल्पनिक हैं। जो महादेवी का अध्ययन नहीं कर सकते वे इन कवियों का भी अध्ययन कैसे कर सकते हैं अथवा इनको भी एकरूप क्यों नहीं ठहरा सकते। यहाँ मैं उन महानुभावों का शुमार नहीं कर रहा जिनकी राय में रहस्यवाद किसी प्राचीन बर्बर युग की स्मृति है, मनुष्य की अविकसित भाव्य भावना की सृष्टि है और जो वैज्ञानिक विकास सिद्धान्त में बहुत दूर की चीज हो गई है। ऐसे लोग तो काव्याध्ययन के अधिकारी भी हैं मैं नहीं मानता।

ऊपर मैंने प्रसंगवश मीरा का नाम ले लिया है। साथ ही कुछ अन्य कवियों के नाम भी आये हैं जिनसे महादेवीजी की तुलना करने का मेरा मन्तव्य नहीं रहा केवल काव्य की आधारभूमि मिलती-जुलती दिखानी थी। फिर भी अक्सर लोगों का आग्रह रहा है कि मैं मीरा और महादेवी के काव्य की तुलना के सम्बन्ध में कुछ कहूँ। मेरा कहना यह है कि मीरा और महादेवी के काव्य का आधार बहुत अंशों में एक-सा है किन्तु ये दोनों दो युगों की सृष्टियाँ हैं। अपने अपने युगों के अनुरूप ही इन दोनों का काव्य-परिष्कार है। मीरा का काव्य नैसर्गिक भावोद्रेक का नमूना है। वह अलौकिक प्रेम और विरह में भीगे हुए हृदय का उद्गार है। उसमें काव्य-कला की बारीकियाँ हमें नहीं मिलतीं मूर्तिमान

विरह की तड़प और मिलन के उन्माद भूल पड़ते हैं। प्रकृति और कल्पना की सहायता से भावों का चित्रण वह नहीं करने बैठीं। मध्ययुग के सभी समुन्नत कवियों की यह सम्प्रतिम नैसर्गिकता उनकी अपनी चीज है। उस तरह की चीज आज इस बौद्धिक विकास के युग में ढूंढ़ना दोनों युगों का अपमान करना है। महादेवीजी में भी अनुभूति की सचाई है और गहराई है किन्तु वे काव्य-कला में सजकर आई हैं। मीरा अपने प्रियतम की खोज में राज महल छोड़कर निकल आई थी और उन्हें वृक्ष-वन पुकारती फिरती थी। उनकी काव्य पुकार साकार है। महादेवीजी की ध्वनि अधिक धीमी और अधिक रम्य होनी समुचित ही है।

विशुद्ध काव्य-दृष्टि से महादेवी मीरा की ऊँचाई पर कम ही पहुँचती हैं। काव्य कला से सज्जित होने पर भी उनकी कविता में तीव्र नैसर्गिक उन्मेष नहीं साथ ही उनमें एकांगिता भी है। उक्त भावना-शिशु के लिए मुक्त आकाश में पक्षी की भाँति उड़कर चराचर जगत् की जो सौन्दर्य सामग्री को सहज आस्वाद्य कर कवित्व प्रस्तुत किया करता है महादेवीजी में उसकी कमी है। भावना-शिशु का प्यार उन्हें अपना नीड़ छोड़ने नहीं देता। फलतः उनके काव्य में प्राकृतिक उपमानों का वैविध्य नहीं है। उनकी कविता कुछ अर्थों में कोरी भावना-निष्ठा से जो व्यक्तिगत है, विजड़ित है। अपनी बात स्पष्ट करने के लिए मैं प्रसाद जी की दो पंक्तियाँ लेता हूँ। ये उनके चन्द्रगुप्त नाटक में आई हैं, विषय है देशप्रेम का—

अरुण यह मधुमय देश हमारा
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।

लघु सुरधनु से पंख पसारे शीतल मलय समीर सहारे।
उड़ते खग जिस ओर मुँह किये समझ नीड़ निज प्यारा।

कवि अपने मूल विषय को लेकर कितनी दूर चला गया है व्यक्तिगत भाव के भार से कितना छूटा हुआ! पक्षियों का अनुकूल पवन के सहारे छोटे-छोटे इन्द्रधनुषों के-से पंख पसारे, अपनी ईप्सित दिशा में नीड़ों की ओर उड़ना और मेरा देश (सुख सौन्दर्य और अपनेपन की व्यंजना)। अनजान क्षितिज को कूल-किनारा मिलना—सहारा मिलना और मेरा देश (आश्रय आतिथ्य और औदार्य का भाव)। और साथ ही क्षितिज को किनारा मिलने और पक्षियों के नीड़ की ओर उड़ने की मूर्तिमत्ता कितनी सहज मधुर और हृदयग्राहिणी है। यह भावना तो है ही किन्तु समुन्नत काव्य के वेश में। महादेवीजी की शक्ति भावना के विश्लेषण में है प्राकृतिक रूपों और उपमानों द्वारा उसे व्यंजित करने में नहीं। बाह्य निरपेक्षता और अंतर्मुखता जो महादेवीजी में एक सीमा तक बढ़ी हुई है, उनकी काव्य-शक्ति को परिपूर्ण विकास नहीं दे रही है।

सभी उच्चकोटि के रहस्यवादी कवियों और स्वयं मीरा में भी भावना का प्राचुर्य उपयुक्त प्राकृतिक उपमानों और कल्पनाओं के सहारे काव्यात्मक परिच्छेद में व्यक्त हुआ है। वस्तुतः हृदय के सूक्ष्म भावों की व्यंजना के लिए अन्य कवियों की अपेक्षा रहस्यवादी कवि को प्रकृति की—उसकी एक-एक भावमयी रूप रेखा गति-अनुवर्तन की और भी

गम्भीर परख रखनी पड़ती है, अन्यथा उसका काम नहीं चल सकता।

मीरा का काव्य दिव्य प्रेम और विरह पर आश्रित है जो एक ओर उसे सहज हृदयग्राही बनाता है और दूसरी ओर काव्य के विषय को विस्तीर्ण कर देता है। महादेवी के काव्य में वैराग्य-भावना का प्राधान्य है। महात्मा बुद्ध की भाँति नहीं (बुद्ध की मूर्तियों में दुख की मुद्रा नहीं मिलती) किन्तु बौद्ध-सन्यासियों और सन्यासिनियों-सरीखी एक चिन्ता-मुद्रा, एक विरक्ति, एक करुण शान्ति के प्रति एक यथाशक्ति महादेवीजी की कविता में सब जगह देखी जा सकती है। किन्तु इस कारण उनकी कविता में एकरूपता (मोनोटनी) नहीं आई है, जैसा कुछ लोग आरोप करते हैं। उनके रूप-चित्रों में प्रचुर वैभिन्न्य है।

आशा है मैंने दोनों का अन्तर यथासम्भव थोड़े में स्पष्ट कर दिया है।

अब मैं अन्त में यह कहूँगा कि आधुनिक कवियों में महादेवीजी का क्या स्थान है इसका निर्णय करना अभी हमारे लिए असामयिक होगा। इस युग के अग्रगण्य कवियों में संभवतः उनका स्थान सुरक्षित रहेगा (केवल इसलिए नहीं कि भारत अध्यात्म-प्रधान देश है, बल्कि उनके काव्य-गुणों के कारण) किन्तु उनमें उन्हें कौन-सा विशेष पद प्राप्त होगा यह तो समय ही बता सकता है। मैं कह चुका हूँ कि उनका विकास अभी बन्द नहीं हुआ है।

कला पक्ष

विश्वम्भर मानव

किसी कृति के कलात्मक होने के लिए अनिवार्य गुण तो यही है कि कोई सुकवि हो। पर सुकवि हम किसे कहें यह विवादास्पद हो सकता है। भावुक व्यक्ति सुकवि हो सकता है, शिक्षित व्यक्ति सुकवि हो सकता है, अभ्यास से सामान्य व्यक्ति सुकवि हो सकता है और केवल वाणी के अनुग्रह या प्रतिभा के बल पर कोई व्यक्ति अमर हो सकता है। केवल भावुकता के बल पर, केवल शिक्षा के बल पर, केवल अभ्यास के बल पर और केवल प्रतिभा के बल पर, साहित्य के इतिहासों में अपने नाम छोड़ जाने वाले कवि किसी भी देश और किसी भी समुन्नत साहित्य में मिल सकते हैं। प्रकृति ऐसा अन्याय तो नहीं करती कि जिसे प्रतिभा दे उसे हृदय न दे, जिसे हृदय दे उसे शिक्षा प्राप्त करने का संयोग न दे और जिसने पुस्तकों का ढेर लगा दिया हो उसमें कहीं भी प्रतिभा की झलक न हो। पर प्रतिभा, भावुकता और विद्वत्ता के संयोग का वरदान शताब्दियों में किसी तुलसी, किसी रवीन्द्रनाथ, किसी जयशंकर प्रसाद और किसी महादेवी को मिल पाता है।

कला-पक्ष अभिव्यक्ति-पक्ष है। पर अभिव्यक्ति की पंखुरियाँ खोलने के लिए उस वस्तु-सुमन के स्वरूप पर भी विचार करना आवश्यक होता है जिसकी वे पंखुरियाँ हैं। महादेवी के हृदय से निकले गीतों का आलम्बन वह है जो स्वयं निर्विकार रहने पर भी सभी परिवर्तनों की आश्रय भूमि है, जो इस विराट् विश्व के मुकुर भवन में अलक्ष्य रूप से बन्दी होकर समस्त प्रतिबिम्बों का आधार है, जिसमें 'भाव' 'रूप' की प्राप्ति हो रही है, जो अखिल सौन्दर्य का अक्षय स्रोत है। प्रणय निवेदन के लिए इससे ऊँचे, इससे स्थायी इससे सुन्दर, इससे आकर्षक आलम्बन की कल्पना नहीं की जा सकती। जब प्रेम करना ही है, तो ऐसे स्नेही का सहारा क्यों न लिया जाय जो आत्मा को ऊँचा उठाये? जलना ही है, तो ऐसे क्यों न जला जाय जिससे निर्मल कोमल आलोक फैले? रोना ही है, तो ऐसे क्यों न रोया जाय जो मन की मलिनता को धो दे? सौन्दर्योपासना करनी है, तो ऐसे सुन्दर से अनुराग क्यों न किया जाय जिसका रूप अक्षय हो? महादेवीजी की कला का जन्म अक्षय सौन्दर्य के मन से दिव्य प्रेम के भीतर से अलौकिक प्रकाश की सुहा और पावन उन्माद रते हुआ है।

गीतों की परम्परा यों सीधी वेदों से स्थापित की जा सकती है, पर हमारी भाषा की अमराई में सबसे पहला स्वर-सन्धान मैथिल-कोकिल विद्यापति ने किया। विद्यापति के पद मिथिला-नरेश के अंतःपुर को एक दिन मधायमान करते थे और आज भी उस भूमि में अपनी रसात्मकता के कारण सहस्र-सहस्र कोकिल-कंठी वनिताओं द्वारा हाट-बाट, उत्सव और एकान्त में गाए जाते हैं। इस माधुर्य ने ही बंगालियों के हृदय में यह लोभ उत्पन्न किया कि किसी प्रकार भी [illegible] विद्यापति को बँगला-कवि सिद्ध किया जाय। बंगाल के अनेक पश्चाद्वर्ती वैष्णव कवियों पर विद्यापति का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। विद्यापति के पदों को गुनगुनाते ही मधुर कम्पन की असंख्य विद्युत् लहरियाँ समस्त शिरा उपशिराओं में तीव्र गति से प्रवाहित होने लगती हैं। पर विद्यापति की भक्ति भावना ने माधुर्य-भाव का आश्रय लेकर राधा-कृष्ण के एकान्त जीवन के जिस लीला-रस को इन पदों से भरा, उसका आस्वादन स्थूल दृष्टि वालों को कठिन पड़ता है। यही कारण है कि विद्यापति को बहुतों ने घोर शृंगारी की संज्ञा दी। विद्यापति के उपरान्त कबीर ने अपनी खंजरी सँभाली और एकाग्रता की मस्ती में सैकड़ों पद उनके ज्ञान-निर्झर से निःसृत हुए। उनका अधिकांश काव्य व्याकरण की अव्यवस्था से पंगु और हठयोग के ताने बाने से उलझा हुआ है। तब एक बावरा गायक उठा जिसने अपने इकतारे पर एक लाख पद टेर दिए और अपनी बन्द आँखों से नवनीत-चोर के प्रेम की असंख्य रसीलियों को चित्रित किया। सूर के जन्म होते ही न जाने कितनी राग-रागिनियाँ सजग हो उठीं। उस गायक की तानें आज भी भारतीय संगीतज्ञों की साधना की वस्तु हैं। पर सूर में भाव और भाव-विस्तार में कोई अनुपात नहीं है अर्थात् उन्होंने एक-एक बात को अनेक पदों में गा-गाकर एकरस कर दिया है। यह बात उनके चार-पाँच हजार उपलब्ध पदों को एक ओर से पढ़ने पर अनुभव की जा सकती है। सूर के पदों का चयन जितना प्रभावशाली प्रतीत होता है उतना उन का संग्रह नहीं। उनके समकालीन महात्मा तुलसीदास की 'गीतावली' और 'विनय-पत्रिका' भी इस क्षेत्र में महत्त्व रखती हैं। तुलसी भी सूर की भाँति राग रागिनियों की प्रथा के सम्राट् थे। 'गीतावली' की पृष्ठभूमि में कथानक की धारा बहती है, अतः वे पद उतने संगीतात्मक नहीं हैं जितने कथनात्मक। 'गीतावली' के कुछ प्रारम्भिक पद जिनमें कोई-कोई पचास पंक्तियों तक का है और विशेष रूप से उत्तरकाण्ड के पद इसी प्रकार के हैं। 'विनय-पत्रिका' के कुछ पद आज गाए जाते हैं पर कुछ चुने हुए पद ही। उनमें से पचास से ऊपर तो संस्कृत की दीर्घ समास-पद्धति के अनुकरण के कारण बुद्धि के लिए यहाँ तक बोझिल हैं कि संगीत प्रेमी तो क्या साहित्य के विद्यार्थी के प्राण भी उनसे घबराते हैं और उनकी सबसे बड़ी उपयोगिता पुस्तक में प्रकाशित होना ही है। गेय पर उपदेश का रंग बहुत गहरा है जिसे अधिक मात्रा में पचाना सहज नहीं है। परवर्ती में गुणों की बहुलता और वाणी की अत्यधिक न्यूनता को लेकर चलने वाला काव्य केवल एक ही 'दरद दिवानी' का है और वह है—मीरा। मीरा में स्वर-लहरियाँ ही जैसे साकार हो गई हैं। मीरा ने जो रोकर गाया है अतः उसके शब्द-शब्द में क्रन्दन बसी है जिससे उन्माद-भाव से हृदय भर भर उठता है। पर यह इतनी बावली भी थी कि भावावेश में कहने-न-कहने की सब बातें बिना हिचक के कह देती थी।

अर्वाचीन गीति काव्य प्राचीन पदावली-साहित्य से भिन्न कोटि का है। पदावली साहित्य के साँचे भारतीय संगीत की राग रागिनियाँ हैं और तुलसी को छोड़कर मात्राओं की पूर्ति का ध्यान सभी स्थलों पर विद्यापति, कबीर, सूर, मीरा आदि किसी ने नहीं रखा। वहाँ लय से सब पूरा हो जाता है। आधुनिक काल में उन साँचों की ओर थोड़ा बहुत आग्रह केवल निरालाजी का ही है। आज का गीति-काव्य अंग्रेजी और बँगला गीति-काव्य की प्रतिस्पर्धा में खड़ा किया गया है। पर उसमें सब-कुछ अपना है—अपने चिन्तन का अनुकरण है, अपनी भाव भंगिमा है, अपना स्वर-संयोजन है। प्रसाद ने अपने नाटकों और 'लहर' पुस्तिका में, पन्त ने 'गुञ्जन' में और निराला ने 'गीतिका' में कुछ बहुत ही मधुर गीत हिन्दी-जगत् को भेंट किए हैं। गीति-काव्य के क्षेत्र में भी हरिवंशराय 'बच्चन' को विद्युत्-गति से सफलता और ख्याति प्राप्त हुई। उनकी रचनाओं में संक्षिप्तता, स्वर माधुर्य, भाव-विभूति और आत्माभिव्यंजन के सभी अनिवार्य गुण एकत्र हैं। वे स्वाभाविक जीवन के सफल गायक हैं। सुख-दुःख दोनों से उनका गहरा परिचय है। अनुभूति की कृत्रिमता उनमें कहीं नहीं पाई जाती। फिर वियोग के क्षेत्र में जैसे 'निशा निमन्त्रण' अन्तर को कसक से भर देता है, वैसे ही मिलन के क्षेत्र में 'सतरंगिनी', 'मिलन यामिनी' और 'प्रणय पत्रिका' के गीत पाठक के मानस में सुख के अनमोल उत्पल खिला जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस युग के कवियों में 'बच्चन' भी अपने ढंग के अकेले गीतकार हैं। प्रसाद, निराला और पन्त को अपने-अपने क्षेत्र में अद्भुत सफलता मिली। ये तीनों ही कवि हिन्दी के प्रथम श्रेणी के कवियों में हैं। पर फिर भी तीनों में कुछ ऐसा है जो उनके गीति-काव्य को पूर्णता प्राप्त नहीं होने देता। प्रसाद के नाटकों में अधिकांश गीतों का भाव के भीतर भाव और उस भाव के भीतर भी भावों का गुम्फन होने से आकर्षण एकदम कुंठित हो गया है। 'लहर' में दो-एक गीतों को छोड़कर भाव का सूक्ष्म चिन्तन की इतनी गहराई में मिलता है जहाँ पहुँचने का कष्ट पाठक सामान्य रूप से नहीं उठाता। निराला ने 'गीतिका' में सहज भाव से नहीं लिखा। पहले उन्होंने साँचे तैयार कर लिए हैं और फिर उनमें शब्दों की स्थापना की है। लय और विशेष रूप से अनुप्रास का प्रयोग बहुत सचेष्ट होकर उन्होंने किया है। जड़ाव की तराश उन रचनाओं में बहुत है। उनमें स्वरों का उतार चढ़ाव तो है पर भावों की गहराई नहीं, अलाप की मधुरता तो है, पर दर्द या आह्लाद की अतिशयता नहीं। पन्त का 'गुञ्जन' आकर्षण का गुञ्जन है। उनकी रचनाओं में बाह्य सौन्दर्य की इन्द्रधनुषी रेखाएँ तो हैं पर किसी गहरी चोट का निदर्शन उनमें नहीं है। इसमें वे अन्तर में पैठती नहीं। संयोग-काल की आज रहने दो यह गृहकाज जैसी विलक्षण माधुर्य-सम्पन्न रचना दूसरी दिशा में है ही नहीं।

'नीरजा' की सृष्टि के साथ गीति-काव्य की परम्परा महादेवी में जैसे अपनी पूर्णता को पहुँच गई। उनका मानस भी तरंगायित है, पर वह तट को नहीं डुबाता। दर्शन की वह भी पंडिता हैं पर माया और मन के विकारों पर ही दृष्टि गड़ाये रखना उनका काम नहीं। भाव-गाम्भीर्य उनमें भी है, पर दुरूहता बचाकर। भारतीय संगीत से उनका भी परिचय है पर कलाबाजियों को नमस्कार करके। अलंकारों का प्रयोग वह भी करती हैं पर अनायास ही, अकृत्रिमता से। उनके गीतों को अनेक बार गुनगुनाने पर भी मन जैसे तृप्त

नहीं होता—

गूँजती क्यों प्राण-वंशी ?
शून्यता तेरे हृदय की
आज किसकी साँस भरती ?
प्यास को वरदान करती
स्वर-लहरियों में बिखरती
आज मूक अभाव किसने कर दिया लयवान वंशी ?
अमिट मसि के अंक से
सूने कभी थे छिद्र तेरे,
पुलक के अब हैं बसेरे,
मुखर रंगों के चितेरे,
आज तो इनकी व्यथा किन अँगुलियों ने जान वंशी ?
गूँजती क्यों प्राण वंशी ?[1]

मैं पलकों में पाल रही हूँ यह सपना सुकुमार किसी का !
जाने क्यों कहता है कोई
मैं तम की उलझन में खोई
धूममयी वीथी-वीथी में
लुक-छिपकर विद्युत्-सी रोई
मैं कण-कण में ढाल रही अलि आँसू के मिस प्यार किसी का !
पुतली ने आकाश चुराया
उर ने विद्युत्-लोक छिपाया
अंगराग-सी है अंगों में
सीमाहीन उसी की छाया
अपने तन पर भाता है अलि जाने क्यों शृंगार किसी का !
मैं कैसे उलझूँ इति-अथ में
गति मेरी संसृति है पथ में
बनता है इतिहास मिलन का
प्यास भरे अभिसार अकथ में
मेरे प्रति पग पर बसता जाता सूना संसार किसी का ![2]

घिरती रहे रात ?
न पथ रूँधतीं ये
गहनतम शिलायें

---

१ दीपशिखा २ दीपशिखा।

न गति रोक पातीं
पिघल मिल बिछायें
चली मुक्त मैं क्यों प्रलय की मधुर बात!
न आँसू गिने औ'
न काँटे सँजोये,
न पगचाप दिग्भ्रान्त
उच्छ्वास खोये
मुझे भेंटता हर पलक-पात में प्रात!
स्वजन! स्वर्ण कैसा
न जो ज्वाल धोया?
हँसा कब तड़ित् में
न जो मेघ रोया!
लिया साथ मैं तोल अंगार-संघात!
फिरती रहे रात?[1]

छन्द सभी मात्रिक हैं, और वे पूरे उतरते हैं। 'रश्मि' की दो रचनायें—कवि और पपीहे पर—दुर्मिल सवैया होने के कारण वर्णवृत्त में सम्मिलित हो सकती हैं, पर उनमें भी 'सगण' (।।ऽ) का निर्वाह ठीक से नहीं हुआ यद्यपि वह प्रत्येक पंक्ति में वर्णानुसार २४ ही हैं।

मात्रिक छन्दों के अतिरिक्त अनेक लोक-गीतों में महादेवीजी ने नवीन प्राण प्रतिष्ठा की है। गीतों में टेक की विविधता से एक प्रकार की नूतनता मौलिकता और मुग्धता भरी हुई है। इनमें जो कोमलता जो गूँज है उसकी प्रशंसा सामर्थ्य के बाहर है। केवल स्वर-साधन से उनके प्रभाव का परिज्ञान हो सकता है। उनमें संगीत का वह मोहन मन्त्र है जो मन को चोरी लेकर स्वप्नाविष्ट करने की शक्ति रखता है। 'नीरजा' से बढ़कर 'सान्ध्य-गीत' और 'सान्ध्य-गीत' से बढ़कर 'दीपशिखा' में उनकी स्वर-लहरी कोमल से कोमलतर और कोमलतर से कोमलतम हो गई है। जीवन के अगाध अकूल क्षार-सिन्धु से कितनी एकान्त रातों में व्यथित प्राणों की रई के संचालन से यह अमृत-मंथन हुआ है कहा नहीं जा सकता।

आधुनिक हिन्दी-कविता के सम्बन्ध में यह शिकायत अभी तक बनी हुई है कि वह स्पष्टता से समझ में नहीं आती। शिकायत करने वालों में कुछ तो प्राचीन संस्कारों से पूर्ण व्यक्ति हैं, जिनका काम केवल नवीनता का विरोध करना है पर अधिकतर व्यक्ति ऐसे हैं, जो वास्तव में काव्य के प्रेमी हैं पर आधुनिक कविता की भाव प्रणाली तथा वर्णन-पद्धति से परिचित न होने के कारण उसके रस को ग्रहण करने में असमर्थ रहते हैं।

आधुनिक कविता में शब्दों का सामान्य अर्थ सर्वत्र नहीं है। जब कवि समुद्र निर्झर, मणि अथवा दीप का नाम लेता है तब उसका तात्पर्य आत्मा से होता है जब

---

१ दीपशिखा।

तम कहता है तब निराशा अथवा अज्ञान की चर्चा करता है, जब हास्य अथवा रश्मि पर कविता लिखता है तब उसके दृष्टि-पथ में आशा और ज्ञान होते हैं। इसी प्रकार जब पथिक या पक्षी को सम्बोधन करता है तब वास्तव में साधक उसकी कल्पना में घूमता है। इस प्रकार आज की कविता प्रतीकों, समासोक्तियों, रूपकों और लाक्षणिक प्रयोगों की चहार दीवारी के भीतर भावों के उस भवन में जिसके द्वार तक विभिन्न भावों की सीढ़ियाँ गई हैं, जहाँ विचार और कल्पना पहरेदार हैं, बैठी है। उस तक पहुँचने के लिए कोई मानसिक श्रम और श्रद्धा के सम्बल की आवश्यकता है।

महादेवीजी का काव्य अत्यधिक सांकेतिक है, इससे कहीं-कहीं दुरूह-सा लगता है। वह भी अपनी बातों को प्रतीकों के माध्यम से कहती हैं। इनमें कुछ प्रतीक तो परिचित होने के कारण बुद्धिगम्य रहते हैं—जैसे सागर संसार के लिए, तरी जीवन के लिए, जल चर-वृन्द कुवासनाओं के लिए, अथवा तम अज्ञान के लिए, प्रकाश ज्ञान के लिए, इसी प्रकार वीणा के तार हृदय के भावों के लिए, गायक साधक के लिए।

कुछ प्रतीक, जिनका व्यवहार प्रचुरता से नहीं होता या भिन्न अर्थ में होता है, तात्पर्य ग्रहण कराने में थोड़ी बाधा उपस्थित करते हैं। शलभ की गणना चातक और मीन के साथ आदर्श प्रेमियों में होती रही है। पर महादेवीजी ने जहाँ आत्मा की दीपक रूप में कल्पना की है वहाँ शलभ को मोहमूलक सांसारिक आकर्षण मानकर उसकी अवज्ञा की है या फिर उसके प्रति दया दिखलाई है—

शलभ मैं शापमय वर हूँ!
किसी का दीप निष्ठुर हूँ!
शून्य मेरा जन्म था
अवसान है मुझको सवेरा,
प्राण आकुल के लिए
संगी मिला केवल अँधेरा
मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ।
नयन में रह किन्तु जलती
पुतलियाँ आगार होंगी,
प्राण में कैसे बसाऊँ ?
कठिन अग्नि-समाधि होगी!
फिर कहाँ पालूँ तुझे मैं मृत्यु-मन्दिर हूँ![1]

सौंप यामा यामिनि मेरा निकट निर्वाण!
पागल रे शलभ अनजान!
कर मुझे इंगित बता किसने तुझे यह पथ दिखा— ?
तिमिर में अज्ञातवेशी क्यों मुझे तू खोज ।

---

१ सान्ध्यगीत।

मणिपत्नी मैं तुझे दूँ
कौन-सा प्रतिदान ?[1]

'इन हीरक के तारों को कर चूर बनाया प्याला' की उड़ानकी कल्पना की उत्कटता दिखाने के लिए कई लेखों में हुई है। तारे महादेवीजी के काव्य में लौकिक भावों के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। 'नीहार' की निम्नलिखित पंक्तियों को 'दीपशिखा' के अनेक उद्धरणों की संगति में मिलाकर पढ़िये। आश्चर्य है कि वे एक स्थान पर भी नहीं भटकी हैं।

इन हीरक-से तारों को
कर चूर बनाया प्याला
पीड़ा का सार मिलाकर
प्राणों का आसव ढाला!

नील तारक मूँदते दृग।

झर गए खद्योत सारे
तिमिर-वात्या-चक्र में सब
पिस गए अनमोल तारे!

भर चुके तारक कुसुम जब!

राख-से अंगार तारे झर चले हैं!

किसी भी एक निश्चित अर्थ से प्रतीक का प्रयोग होने पर कभी अर्थ में व्याघात नहीं उत्पन्न होगा। महादेवीजी के ऋतु-सम्बन्धी प्रतीक लीजिए। वे ग्रीष्म का प्रयोग रोष के लिए, वर्षा का करुणा के लिए, शिशिर का जड़ता के लिए, पतझर का दुःख के लिए और वसन्त का आनन्द के लिए करती हैं। यहाँ तक तो ठीक है। पर एक प्रतीक का प्रयोग एक ही भाव के लिए हो उनके यहाँ ऐसा नियम नहीं है। जहाँ शिशिर से उनका तात्पर्य जड़ता से है वहाँ मधुऋतु का अर्थ कहीं-कहीं चेतना से भी है। भावों के लिए ही उन्होंने कहीं 'वीणा के तार' लिखा है कहीं 'कलियों के उच्छ्वास' और कहीं उज्ज्वल तारे। मुक्ति के लिए कहीं उन्होंने 'सुमन' लिखा है कहीं 'नक्षत्र प्रकाश'। सुख के लिए जहाँ 'मधु' का प्रयोग करती हैं, वहाँ 'रश्मि' और 'मलय-पवन' का भी। आँसुओं का भाव उन्होंने 'नक्षत्रों' से भी ग्रहण किया है 'मकरन्द' से भी 'मोती' से भी और 'तुहिन-कण' से भी। जीवन का अर्थ वह 'तरी' से ही नहीं बाँधती 'वसन्त' 'प्याली' और 'लहर' से भी। जड़ता को 'शिशिर' में ही निहित नहीं कर दिया 'रज' को भी उसके लिए अपनाया है। इच्छाओं के लिए किसी स्थान पर 'मकरन्द' किसी पर 'सौरभ' किसी पर 'इन्द्रधनुष के रंगों' से काम निकाला है। कहने का तात्पर्य यह कि आकार अथवा वर्ण-साम्य पर प्रतीकों का अर्थ लगाते हुए भी प्रसंग पर बहुत-कुछ निर्भर रहना पड़ता है। प्रसंग का ध्यान न

१ दीपशिखा।

वेदना और करुणा

कुमार विमल

महादेवी के भाव-पक्ष का विवेचन भी आवश्यक है। भाव की दृष्टि से इनकी कविताओं में विरह और विप्रलम्भ की प्रधानता है अतः ईषत् एकरसता भी। किन्तु शैली और शिल्प के अभिराम वैष्टव्य के कारण काव्य की यह भावगत एकरसता बहुत खलती नहीं है। शास्त्रीय दृष्टि से इनकी कविता में रति विस्मय शोक और शम—इन्हीं स्थायी भावों की प्रधानता है। इसी प्रकार सात्त्विक भावों के बीच रोमांच कम्प वैवर्ण्य और अश्रु तथा व्यभिचारियों के बीच ग्लानि निद्रा स्वप्न उन्माद भय मोह चपलता स्मृति वितर्क आवेग विषाद निर्वेद चिन्ता शंका त्रास गर्व और व्रीड़ा का इनकी रचनाओं में पुष्कल विनियोग मिलता है। इनके भाव दो हैं—रति और करुणा। किन्तु इन्हीं दो भावों को रस भूमि पर जयकारी स्वरूप देने से कवयित्री को काव्य का 'सर्वोत्तम' सुलभ हो गया है।

यह कहा जा सकता है कि महादेवी में मीरा अथवा आलवार भक्तिन अण्डाल की सर्वात्मना प्रपत्ति—आत्मसमर्पण—नहीं है। इनके पास एक झूठा अभिमान सर्वत्र बीच की दीवार बना रहता है। इस कारण इनकी रचनाओं में मानशून्यता आत्मदान्य और समुत्कंठा का अभाव मिलता है। फलस्वरूप विरह की विरजा नदी को ये कभी पार नहीं कर पाती हैं। और, ऐसा भासित होता है कि इन्हें प्रिय की 'भावना' भले ही स्वीकार्य हो किन्तु उनका आनुगत्य नहीं। इसलिए माधुर्य भाव को तरजीह देनेवाले विचारक यहाँ तक कह सकते हैं कि महादेवी के काव्य में प्रेम स्नेह नहीं बन सका है क्योंकि स्नेह तो प्रेम का परिणत रूप है। सम्भवतः मान और अभिमान की अधिकता के कारण इनका मनोद्रव पिघल नहीं सका है। इसलिए इनका प्रेम न घृत-स्नेह बन सका है और न मधु स्नेह। फलस्वरूप इनकी रचनाओं में प्रपन्नता का अभाव है। इनमें न दृप्त प्रपन्नता है और न आर्त प्रपन्नता ही।

यह धारणा आवश्यकता से अधिक कठोर है। वास्तविकता यह है कि महादेवी का मान—उदात्त एवं ललित—विप्रलम्भ की अवस्था में प्रणय बन जाता है जिसके चलते प्रेमास्पद के साथ अभेद की भावना जाग्रत हो जाती है—

आकुलता ही आज हो गई तन्मय राधा
विरह बना आराध्य द्वैत क्या कैसी बाधा।

महादेवी भी मूलतः अक्षय मिलन की आकांक्षिणी हैं। यह दूसरी बात है कि इन्हें सुखमिलन महारास प्राप्त न हुआ हो। इस धारणा की पुष्टि इस बात से होती है कि इनकी कविता में भक्ति की तन्मयता का तत्त्व यत्र-तत्र मिलता है। उदाहरण के लिए निम्नांकित कविता में—

क्या पूजन क्या अर्चन रे ?
उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे!
मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे!
पद-रज को धोने उमड़े आते लोचन में जल-कण रे!
अक्षत पुलकित रोम मधुर मेरी पीड़ा का चन्दन रे!
स्नेह भरा जलता है झिलमिल मेरा यह दीपक-मन रे!
मेरे दृग के तारक में नव उत्पल का उन्मीलन रे!
धूप बने उड़ते रहते हैं, प्रतिपल मेरे स्पन्दन रे!
प्रिय-प्रिय जपते अधर ताल देता पलकों का नर्तन रे!

उस प्रेमा भक्ति का संकेत मिलता है जो रागानुगा भक्ति की प्रथम अवस्था है। यहाँ प्रेमा भक्ति को ही नये सांचे में ढालकर उसके सभी उपकरणों—अर्चन अभिनन्दन कीर्तन धूप दीप नैवेद्य अक्षत और अर्घ्य—का अधिकरण आराधिका अथवा साधिका के शरीर को ही बतलाया गया है। अतः यहाँ विधि भक्ति के बाह्य उपकरणों का भले ही वर्जन हो किन्तु इनका भाव तो व्यक्त हो ही जाता है।

माधुर्य भाव की दृष्टि से यह भी विचारणीय है कि महादेवी को मिलन से अधिक विरह ही प्रिय है। इसका कारण खोजते हुए हल्के ढंग से यह कहकर सन्तोष किया जा सकता है कि जब मिलन 'कड़वा अंगूर' बन जाय तब विरह का काम्य बन जाना स्वाभाविक ही है। किन्तु गहराई में जाने पर स्थिति कुछ भिन्न मालूम पड़ती है। कारण महादेवी की विरह-भावना रसिक सम्प्रदाय की लगन-भावना से मिलती जुलती मालूम पड़ती है। रसिक सम्प्रदाय में लगन एक प्रकार की भाव-भावना है। उक्त सम्प्रदाय में लगन का स्वरूप कुछ इस प्रकार है—आराध्य के नाम जप रूप ध्यान और गुण-स्मरण से 'भाव' की उत्पत्ति होती है। इसका प्राथमिक उद्रेक विरह के रूप में ही होता है। इस विरह-दाह में ही प्रिय के मिलन की संभावनाएँ सन्निहित रहती हैं। और विरह की यह दुःखाग्नि तब तक उपशमित नहीं होती जब तक प्रणयी आराध्य का साक्षात्कार नहीं होता। इस तरह लगन एक प्रकार की उत्कण्ठायुक्त विरहानुभूति है जिसे हम अनुराग की पूर्वदशा कह सकते हैं। इस लगन की परिणति 'प्रीति' में होती है। प्रीति लगन को मिटा देती है और इसी प्रीति की दृढ़ता से महाभाव का उदय होता है। निश्चय ही महादेवी में लगन का यह चरम विकास नहीं मिलता किन्तु लगन की विद्यमानता निश्चित है। इसलिए लगन की विकसित अवस्था 'प्रीति' की जितनी भी स्थितियाँ हैं—जैसे प्रणय प्रेम आसक्ति लगन राग अनुराग नेह और प्रीति—उनमें से अधिकांश महादेवी की रचनाओं में विद्यमान हैं। लगन की भावना इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

सो रहा है विश्व पर प्रिय तारकों में जागता है।

अथवा

सखि मैं हूँ अमर सुहाग भरी
प्रिय के अनन्त अनुरागभरी।

अथवा

क्यों वह प्रिय आता पार नहीं?

स्पन्दन मिस प्रतिपल भेज रही
क्या युग-युग से मनुहार नहीं?

अथवा

मुस्काता संकेत भरा नभ
अलि क्या प्रिय आनेवाले हैं?

अथवा

तुम्हें बाँध पाती सपने में
तो चिर जीवन-प्यास बुझा
लेती उस छोटे क्षण अपने में।

महादेवी की रचनाओं में विश्लेष के असाध्य एवं असह्य तड़पन और किसी 'छलिया' से मिलने की लालसाभरी ललक के कारण मोहग्रसित की अवस्थाएँ भी प्रचुर हैं। मोहग्रसित की दशा में स्वप्नों की 'इच्छा' का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। जैसे—

ठहरो बेसुध पीड़ा को
मेरी न कहीं छू लेना।
जब तक वे आ न जगावें
बस सोती रहने देना।

अथवा

प्रतीक्षा में मतवाले नयन
उड़े जब सौरभ के साथ
हृदय होगा नीरव आह्वान
मिलोगे तब क्या हे अज्ञात।

अथवा

तुम्हें बाँध पाती सपने में
तो चिर जीवन-प्यास बुझा
लेती उस छोटे क्षण अपने में।

अथवा

करुणामय को भाता है
तम के परदों में आना
हे नभ की दीपावलियो!
तुम पल-भर को बुझ जाना।

इस प्रकार महादेवी की कविताओं में विप्रलम्भ शृंगार, विरहानुभूति और मादकता की प्रधानता है। 'सान्ध्यगीत' में विरहोक्ति की मात्रा अधिकतम है। सामान्यतः मिलन का उदाहरण नहीं के बराबर मिलता है। मिलन की कमी का कारण मिलन के चित्रों अथवा मिलन की अनुभूतियों का अभाव है तथा विरहोक्ति की अधिकता का कारण कवयित्री के हृदय में अपनी ससीमता, क्षुद्रता, विवशता एवं नश्वरता का अभिमान है।

संयोग के नाम पर महादेवी की रचनाओं में केवल स्वप्न-संयोग मिलता है। जैसे—

अम्‌ मेरे आँगने अब नींद में वह पास आया!
स्वप्न-सा हँस पास आया।
हो गया विधु की हँसी से शून्य में सुरचाप अंकित
रश्मि-रोमों में हुआ निस्पन्द तम भी सिहर पुलकित,
अनुसरण करता अमा का चाँदनी का हास आया!
नींद में वह पास आया!

अंक में तब नाश को लेने अनन्त विकास आया!
नींद में वह पास आया![1]

यहाँ हमें स्वप्न-संयोग में ही प्रिय प्रियतम के चिद्-विलास और परात्पर मिलन की झाँकी मिलती है। स्वप्न-संयोग के ऐसे अनेक उदाहरण महादेवी के काव्य में सुलभ हैं। किन्तु इन उदाहरणों में एकरसता या एकस्वरता नहीं है, कारण इनका स्वप्न-संयोग कहीं आत्ममूलक है, कहीं प्रेम-वैचित्र्यमूलक और कहीं विप्रलम्भमूलक।

स्वप्न-संयोग की अधिकता से ही यह स्थापना समर्थित होती है कि महादेवी के काव्य में मूलतः कुण्ठित और अवदमित वासनाओं की उन्मेषपूर्ण अभिव्यक्ति है। हिन्दी के एकाधिक विद्वान् आलोचकों की ऐसी ही धारणा है।

निश्चय ही महादेवी की कविताओं में सपनों की अधिकता है। जब कभी इनका प्रिय मनुहार से दमित होता है वह सपनों में आ जाता है—

सिहराती की सपनों के जाल
तुम्हारी वह करुणा की कोर।

अतः 'नीहार' से 'दीपशिखा' तक स्वप्न-मिलन या स्वप्न-संकेत की भरमार है। केवल 'रश्मि' कुछ अंशों में इसका अपवाद है। इसी कारण फ्रायड के स्वप्न-सिद्धान्तों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि महादेवी ने प्रिय-स्वप्न को जागरण की अपेक्षा बहुत अधिक वरदान बना लिया है। इसलिए इनमें दमित वासना की कुण्ठाएँ अधिक हैं। प्राय: स्वप्न के सहज अधीक्षण के कारण इनके सपने भी अधिक पद्मवेणी बन गए हैं। ये आध्यात्मिक संकेतों का सहारा पाकर उद्दीप्त होते हैं। फ्रायड का कहना है कि प्राय: चेतन के भय से वासनाएँ दमित होती [illegible] वही वासनाएँ जब स्वप्न में उन्मिष

[1] सान्ध्यगीत।

होती हैं तब भी उन्हें प्राक् चेतन के अभीक्षण का भय बना रहता है। इसलिए ये वासनाएँ सपनों में भी सुअभिज्ञेय नहीं रहती क्योंकि अचेतन से निकलते समय वे अभीक्षण के भय से छद्मवेश धारण कर लेती हैं। यही कारण है कि सपनों की व्याख्या सरल नहीं होती। अतः महादेवी के सपने भी खुली पुस्तक के पन्ने नहीं हैं उन्हें समझने के लिए मानसिक व्यायाम और पारदर्शी सूझ की आवश्यकता है।

महादेवी की विरहजन्य अथवा करुणाजन्य वेदना के सम्बन्ध में मुख्यतः इतनी बातें कही जा सकती हैं—

१—वेदना महादेवी के काव्य की भाव-सीमा है।

२—वेदनानुभूति की तीव्रता के कारण महादेवी की कविताओं में उस आध्यात्मिक वेदना की प्रचुरता है, जिसमें रोमानी अवसाद और रहस्यवादी पीड़ा (रोमांटिक मेलांकली एण्ड मिस्टिक पेन) विद्यमान है।

३—महादेवी के विरह-गीत जहाँ वेदना प्रवण अनुभूति के कारण अत्यन्त रिरिसात्मक हो सके हैं वहाँ इनकी दार्शनिक मान्यताएँ अनुभूत विचार-सत्य नहीं बन सकी हैं।

४—किन्तु, इतना स्वीकार करना पड़ता है कि इनके वेदना-समन्वित विरह गीतों में सौंदर्य से मिलती-जुलती करुणा अवश्य है।

५—विरह ही महादेवी का आराध्य है और कवयित्री स्वयं उस विरह की माधुलता है। इसलिए इनकी वेदनानुभूति वेदना से भरी हुई है—

आकुलता ही आज हो गई तन्मय राधा।
विरह बना आराध्य द्वैत क्या कैसी बाधा?

६—इस तरह विरह और वेदना की बहुलता के कारण हम महादेवी की रचनाओं में एक प्रकार की 'एकान्त-निष्ठा' (कल्ट ऑफ सालिच्यूड) पाते हैं—

अपने इस सूनेपन की
मैं हूँ रानी मतवाली
प्राणों का दीप जलाकर
करती रहती दीवाली!

७—और अन्तिम विशेषता यह है कि महादेवी की वेदना कल्पना रंक नहीं है। इनकी वेदनानुभूति में कल्पना का वह माधुर्य है जिसमें नारी भावनाओं का हृदय लावण्य भरा रहता है जैसे—

कौन आया था न जाने
स्वप्न में मुझको जगाने
याद में उन अंगुलियों के
हैं मुझे पर युग बिताने!

स्वप्न में स्पर्श-सुख देने वाली उन अंगुलियों की याद में जीवन व्यतीत करने की कल्पना अथवा साध कितनी मधुर है! सचमुच ऐसी याद बड़ी मर्मस्पर्शी होती है।

महादेवी की वेदना का भी स्मृति से निविड़ सम्बन्ध है। इन्होंने स्वयं ही मन को

वेदना को मधुरी बनाने का श्रेय पूर्व-स्मृतियों को दिया है—

जब क्षितिज के दूत सुना
उनके पास में रहस्य की बात,
मेरे निर्निमेष पलकों में
मचा गये क्या-क्या उत्पात !

जीवन है उन्माद तभी से
निधियाँ प्राणों के छाले
माँग रहा है विपुल वेदना
के मन प्याले पर प्याले।

यहाँ यह स्मरणीय है कि वेदना महादेवी के काव्य का अर्थ है और करुणा उनकी इति। अतः करुणा ही इनके दुःखवाद का मेरुदण्ड है तथा इनकी वेदना का चरम रूप भी।

किन्तु महादेवी की यह करुणा छायावादी कवियों के वेदनावाद से बहुत भिन्न नहीं है। इनकी करुणा और उनके वेदनावाद में मूलतः दो अन्तर हैं। एक यह है कि छायावादियों की वेदनानुभूति के पीछे काम करने वाला 'पराजय का भाव' इनकी करुणा के मूल में नहीं है। इनकी करुणा अनुभूति से अधिक प्रवीण है और दार्शनिक दृष्टियों से अवश्य प्रेरित है। अतः इसमें छायावाद की अमाधित वास्तविकता का कुछ अभाव है। दूसरे महादेवी की करुणा में उन्नयन का अंश अधिक है। कुछ आलोचकों का कहना है कि कवयित्री ने 'अतिरिक्त काम' की अनुभूतियों का करुणा के माध्यम से प्रतीकात्मक प्रयोग किया है। इसलिए इनकी करुणा की अभिव्यक्ति में हम पारम्परीण बिम्बों का प्रचुर प्रयोग पाते हैं जबकि अन्य छायावादियों की वेदनाभिव्यक्ति में हम उन व्यक्तिवादी बिम्बों की प्रधानता पाते हैं जो प्रायः व्यक्तिगत अवचेतन से छनकर आते हैं पारम्परीण बिम्बों की तरह सामूहिक अवचेतन से नहीं।

महादेवी के काव्य में करुणा की प्रधानता के मुख्यतः निम्नलिखित कारण हैं—

१—छायावाद की सामान्य वेदनावादी धारा

२—करुण रस का परम्परा-स्वीकृत महत्त्व अथवा करुणा का रस-पक्ष

३—बौद्ध दर्शन की महाकरुणा का प्रभाव

४—अवरुद्ध दाम्पत्य

और ५—वैयक्तिक रुचि तथा परिवेश।

इन कारणों में से प्रथम तीन को हम किंचित विस्तार से समझने की चेष्टा करेंगे।

छायावादी काव्य मुख्यतः संवेदनाओं पर निर्भर रहा है और संवेदनाओं पर आधृत जीवन-दर्शन निश्चय ही असन्तोषपूर्ण हुआ करता है। पुनः भावप्रवीण और भावुक होने के कारण छायावादी कवि अपनी वयःसन्धि के हुआ करते हैं जिसमें परिवेशगत प्रतिक्रिया और राग-विराग का हल्का स्पर्श भी उन पर गहरा अंकित हो जाता है। भावुकता की इस अतिरेकता और भारी हृदय-भुक्त भावु इकपनीसता के शिखर में ही छायावादियों

की वेदना का क्षीर पलता रहा है। अतः सामान्यतः छायावादी काव्य वेदनाभिषिक्त हुआ करता है।

इस वेदनावाद के दो प्रमुख पक्ष हैं—दुःख और आँसू। दुःख वेदना का अनुभूति पक्ष है और आँसू उसका उद्गारात्मक परिणाम। आँसू भी अन्तर्वेदना-व्यंजक होने पर अनुभूति प्रवण हो सकता है। जिसके पास संवेदना है, जीवन का कटु-मधु है, उसके पास अवश्य ही आँसू रहेगा। संभवतः इसीलिए रवि बाबू ने लिखा है कि प्रत्येक व्यक्ति एक ऐसा द्वीप है जो अश्रुलवणाक्त सिन्धु से चतुर्दिक घिरा हुआ है। किन्तु, छायावाद के आँसू अधिकतर अन्तर्वेदना-व्यंजक न होकर उद्गारात्मक हैं। यही कारण है कि छायावादियों को प्रारम्भ में ही यह आक्षेप सुनना पड़ा कि उनके आँसुओं में से निकलने वाले शोर में ग्लिसरीन की सहायता से गाल भिगोने वाले सिने सितारों के 'नयन-जल' से अधिक वास्तविकता नहीं है।

इस प्रसंग में प्रसाद का क्या कहना! उन्होंने तो आँसू पर एक ग्रन्थ लिखकर छायावादियों के अश्रुओं का 'पेटेन्ट' ही कोस लिया। इनकी ये पंक्तियाँ द्विवेदी-युग के उपरान्त चलने वाले वेदनावाद के लिए वक्तव्य का महत्त्व रखती है—

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति-सी छायी
दुर्दिन में आँसू बनकर
वह आज बरसने आई।[1]

इसका प्रभाव महादेवी पर भी पड़ा। फलस्वरूप वे मधुचक्र में लिपटे भ्रमर की तरह वेदना, करुणा और आँसू में आमूल-चूल डूब गईं—

जीवन विरह का जलजात!
वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास
अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात।
जीवन विरह का जलजात।
आँसुओं का कोष उर, दृग अश्रु की टकसाल
तरल जलकण से बने घन-सा क्षणिक मृदु गात।
जीवन विरह का जलजात!
अश्रु से मधुकण लुटाता आ यहाँ मधुमास
अश्रु ही की हाट बन आती करुण बरसात!
जीवन विरह का जलजात।
काल इसको दे गया पल-आँसुओं का हार
पूछता इसकी कथा निश्वास ही में वात!
जीवन विरह का जलजात!

लगता है यह काव्य-खण्ड आँसुओं का नायक हो। इस छोटे-से गीत में संभवतः

---

१ आँसू।

सात बार 'अश्रु' अथवा 'आँसू' का व्यवहार हुआ है। फलस्वरूप यह अनुभूति-प्रवण कविता उर्दू के शायरों की ऊहात्मकता के पास पहुँचती प्रतीत होती है—

एक दिन रोने जो बैठा मैं सनम की याद में
सात नाले सौ समुन्दर, चार दरिया बह चले।

अथवा

सिरहाने मीर के आहिस्ता बोलो
अभी टुक रोते-रोते सो गया है।

अथवा

रोऊँगा आके तेरी गली में यार!
पानी ही पानी होगा हरेक घर के पास।

अथवा

किसी को किसी तरह इत्मिनान है बाग में
भले अपने रोने से हो आबाद है।

किन्तु, इन उदाहरणों का यह आशय नहीं है कि महादेवी और अन्य छायावादियों के आँसू हिन्दी से अधिक उर्दू के समीप हैं। हिन्दी साहित्य में भी अश्रुमय भावुकता की लम्बी परम्परा रही है। सूर की गोपियों के आँसू सूरज की तपिश को मात बताकर कंचुकी नहीं सूखने देते थे—

निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस ऋतु हम पै जब तें स्याम सिधारे।
दृग अंजन लागत नहि कबहूँ उर कपोल भये कारे।
कंचुकि नहि सूखत सुनु सजनी उर बिच बहत पनारे।

केवल कंचुकी नहीं सूखती और कपोल-गुलाब काजर-मल से काले हो जाते तो एक बात थी।

आँसुओं का यह माहात्म्य भक्तिकाल और रीतिकाल तक ही सीमित न रहा, वह द्विवेदी-काल के शुष्क कगारों को भी छू गया। हरिऔधजी की इतिवृत्तात्मक प्रतिभा और शब्द-शिल्प तक सायास सीमित रहने वाली उनकी काव्य-कला भी आँसुओं पर रीझ गई—

ओस का आँसू टपकता देखकर जी तड़प करके हमारा रह गया।
क्या गया मोती किसी का है बिखर या हुआ पैदा रतन कोई नया।
ओस की बूँदें कमल से हैं कढ़ी, या उगलती बूँद हैं दो मछलियाँ।
या अनूठी गोलियाँ चाँदी मढ़ी खेलती हैं खंजनों की लड़कियाँ॥

आँख के परदों से जो छनकर बहा मैल थोड़ा भी रहा जिसमें नहीं।
बूँद जिसकी आँख टपकाती रहे दिलजलों को चाहिये पानी वही।

छायावादियों का अश्रु-मोह इतना उद्दाम नहीं है कि उस पर ऐसी व्यंग्य टिप्पणी का शर-सन्धान उचित माना जाय—

यदि असली हो तो रो रो कर इतना आँसू रोज बहाये
पत्नी जिसमें कपड़े धो ले खुब बैठकर खूब नहाये।
आँसू जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है उसकी मात्रा भले ही विवादास्पद हो।
पूरोत्पीड़े तड़ागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।
शोके क्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते॥

महादेवी के अश्रु-भीगे गीत भले ही कहात्मक हों किन्तु उनके आँसू सर्वथा अविश्वसनीय नहीं हैं। इन आँसुओं ने महादेवी को छायावादी वेदना की सम्राज्ञी का पद दिया है। 'नीहार' की 'वरदान' शीर्षक कविता इस पद को न्याय्य घोषित करती है। 'कागा सब तन खाइयो चुनि-चुनि खैयो मास दो नैना मत खाइयो पिया-मिलन की आस' में व्यंजित नेत्रमोह से भी अधिक मोह कवयित्री ने अपनी खंजरी-सी दो पुरनम आँखों के लिए आराध्य के समक्ष लालसापूर्ण ढंग से निवेदित किया है—

तरल आँसू की लड़ियाँ गूँथ
इन्हीं ने काटी काली रात
निराशा का सूना निर्माल्य
चढ़ाकर देखा फीका प्रात।

अतल जल का जल ही परिधान
रचा था बूँदों में संसार
इन्हीं गीले तारों में मुग्ध
साधना सोती थी साकार
आज आये हो हे करुणेश!
इन्हीं को तुम देने वरदान
गलाकर सारे बंधन
करो दो आँखों का निर्माण।

सचमुच कवयित्री को आँखों से अत्यन्त मोह है। कारण उसे आँसू प्रिय हैं और उन आँसुओं का अधिकरण उसकी आँखें ही तो हैं। अतः प्रियतम के विरह में बादर बरसे बन जाने वाले नयनों को वह वरदान मानती है। 'नीरजा' की उनचासवीं कविता में उसने वरदान-स्वरूप प्राप्त नयनों को अनेक सुन्दर विशेषणों—दुख-भव का चषक तममय विरह का दीपक जीवन-सरित का सरसिज इत्यादि से विभूषित किया है—

अलि वरदान मेरे नयन!

पी उजाला तिमिर पट में
देखता रवि पात्र जल में
सब पिलाते स्नेह अणु-अणु
को जलाते नयन!

अधर के चपल यह नयन!

धू अरुण का किरण-चामर
बुझ गये नभ-दीप निर्झर
चल रहे अविराम पथ में
किन्तु निश्चल नयन!
तममय विरह दीपक नयन!

झलमले नित बुदबुदे सात
घेरते आवर्त का कूल
पर न रुकता लेश प्रिय की
स्मित रंगे यह नयन!
जीवन-सरित-सरसिज नयन!

इस प्रकार महादेवी की वेदना और अश्रु कुछ विश्वसनीय हैं अनुभूतिपरक भी केवल कल्पित नहीं। संवेदनीय वेदना का विश्लेषण करते हुए उन्होंने स्वयं ही इसके अनुभूति-पक्ष पर बल दिया है— वेदना को दूसरे के निकट संवेदनीय बनाने के लिए अपने हृदय की अतल गहराई की अनुभूति आवश्यक है और उसे व्यापकता देने के लिए जीवन की एकता का भावन। अतः महादेवी को छायावादी वेदना की उपासिका का पद देना अनुचित नहीं है।

छायावादी वेदनावाद के प्रभाव के अलावा महादेवी के काव्य में करुणा की प्रधानता का कारण करुणा का परम्परा-स्वीकृत महत्त्व और करुण रस की सुखात्मकता है। करुण रस की सुखात्मकता तो दुखान्त नाटकों के प्रचलन उसके काव्यशास्त्रीय महत्त्व और रेचन-सिद्धान्त से ही प्रमाणित है। सोफोक्लिज, यूरिपाइडीज आदि के काल से अद्यावधि करुण रस का उद्रेक करने वाले दुखान्त नाटक कला-जगत में रेखांकित महत्त्व रखते हैं। कारण यह है कि कारुणिक दृश्यों में जीवन का गाम्भीर्य अधिक होने के कारण उसमें सहानुभूति की मात्रा अधिक होती है। इस सहानुभूति से हमारी आत्मा का विस्तार होता है और आत्मा का विस्तार ही सुख है। वस्तुतः करुणा की अतल गहराई में डूबने पर व्यक्ति का सीमाधारीण विशेषत्व और संकुचित व्यक्तित्व निमज्जित हो जाता है फलस्वरूप उसमें मन का परिष्कार हो जाता है।

भारतीय और पाश्चात्य साहित्य में करुणा का परम्परा-स्वीकृत महत्त्व है। महादेवी की करुणा पर भारतीय साहित्य की परम्परा-स्वीकृत करुणा का पुष्कल प्रभाव है। कवयित्री के उल्लेखों से ही यह सिद्ध होता है कि इनकी करुणा पर पाश्चात्य साहित्य का कोई प्रभाव नहीं है और न इनकी करुणा का सम्बन्ध उस पराजय अथवा निराशावाद से है, जिसने साम्राज्य की स्थापना से भारत और भारत के बाहर भी बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में एक व्यापक क्षितिज को घेर कर कुहर-म्लान कर दिया था। इसे सिद्ध करने के लिए महादेवी का एक ही लम्बा उद्धरण पर्याप्त होगा। वैदिककाल से लेकर छायावाद तक के काव्य में करुणा की स्थिति निर्धारित करते हुए उन्होंने लिखा है—"करुणा हमारे जीवन और काव्य से बहुत गहरा सम्बन्ध रखती है। वैदिक काल ही में एक भार

आनन्द-उल्लास की उपासना होती थी और दूसरी ओर इस प्रवृत्ति के विरुद्ध एक करुण भाव भी विकास पा रहा था। एक ओर यज्ञ-सम्बन्धी पशु-बलि प्रचलित थी और दूसरी ओर 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' का प्रचार हो रहा था। इस प्रवृत्ति ने आगे विकास पाकर जैन-धर्म के मूल सिद्धान्तों को प्रेरणा दी। बुद्ध द्वारा स्थापित संसार का सबसे बड़ा करुणा का धर्म भी इसी प्रवृत्ति का परिष्कृत फल कहा जाएगा।

'काव्य ने भी करुणा को महत्त्व दिया। हमारे दो महान् काव्यों में से एक को करुण भाव से ही प्रेरणा मिली है और दूसरा अपने संघर्ष के अन्त में करुण भाव ही में चरम परिणति पा लेता है। संस्कृत के उत्कृष्ट काव्यों में भी कवि अपने इस संस्कार को नहीं छोड़ता। भवभूति तो करुणा के अतिरिक्त कोई रस ही नहीं मानता और कालिदास के काव्यों में करुणा श्वासोच्छ्वास के समान मिली हुई है। अभिवर्णों के दुःखद अन्त में समाप्त होनेवाला 'रघुवंश' जीवन के सब उल्लास उमर्गों की राख पर दुष्यन्त से साक्षात् करने वाली शकुन्तला यदि करुण भाव न जगा सके तो आश्चर्य है। इस करुण भाव के भी कारण हैं। जहाँ भी चिन्तन-प्रणाली इतनी विकसित और जीवन की एकता का भावन इतना सामान्य होगा, वहाँ इस प्रकार का करुण भाव स्वाभाविक और स्वाभाविक स्थिति पा लेता है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की धारणा जब जीवन पर व्यापक प्रभाव डाल चुकी तब उसका बाह्य अन्तर पग-पग पर एक असन्तोष को जन्म देता रहेगा। परम तत्त्व की व्यापकता और इष्ट की पूर्णता के साथ अपनी सीमा और अपूर्णता की अनुभूति ही निर्गुण सगुणवादियों के विरह की तीव्रता का कारण है। यह प्रवृत्ति भी मूलतः करुणा से सम्बद्ध रहेगी। करुणा का रंग ऐसा है जो जीवन की बाह्य रेखाओं को एक कोमल दीप्ति दे देता है, सम्भवतः इसी कारण लौकिक काव्य भी विप्रलम्भ शृंगार को बहुत महत्त्व और विस्तार देते रहे हैं। जब यह करुण भावना व्यक्तिगत सुख-दुःख के साथ मिल जाती है तब उन दोनों के बीच में विभाजन के लिए बहुत सूक्ष्म रेखा रहती है। भारतेन्दु-युग में भी हम एक व्यापक करुणा की छाया के नीचे देश की दुर्दशा के चित्र बनते-बिगड़ते देखते हैं। पौराणिक चरित्रों की खोज करुण-भावना की सामान्यता लिए होती है और देश समाज आदि का यथार्थ चित्रण व्यक्तिगत विषाद का विस्तार देता है। खड़ी बोली के कवि संस्कृत काव्य-साहित्य के और अधिक निकट पहुँच जाते हैं। 'प्रिय प्रवास' की राधा और 'साकेत' की उर्मिला का नये वातावरण में पुनर्जन्म उसी सनातन करुणा की प्रेरणा है और राष्ट्रगीता और सामाजिक चित्रण में व्यक्तिगत विषाद को समष्टिगत अभिव्यक्ति मिली है। छायायुग का काव्य स्वानुभूतिमयी रचनाओं पर आश्रित है, अतः व्यापक करुण भाव और व्यक्तिगत विषाद के बीच की रेखा और भी अस्पष्ट हो जाती है। गीत में पाया हुआ पराया दुःख भी अपना हो जाता है और अपना सब का, इसी से व्यक्तिगत हार से उत्पन्न व्यथा एक समष्टिगत करुण भाव में एकरस जान पड़ती है।

'इस व्यक्ति-प्रधान युग में व्यक्तिगत सुख-दुःख अपनी अभिव्यक्ति के लिए आकुल थे, अतः छायायुग का काव्य स्वानुभूति प्रधान होने के कारण वैयक्तिक उल्लास-विषाद की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम बन सका। समष्टिगत जीवन की बाह्य विकृति और आन्तरिक विषमता की अनुभूति से उत्पन्न करुण भाव जो रूप पा सकता था, वह भी भावक

से भिन्न कोई स्थिति नहीं रखता था। भावनात्मक काव्यों में जो प्रवृत्ति कवि की सूक्ष्म दृष्टि और उसके हृदय की संवेदनशीलता को व्यक्त करती वह स्वानुभूतिमयी रचनाओं में उसका वैयक्तिक विषाद बनकर उपस्थित हो सकी। अतः इस विषाद के विस्तार में दूसरे केवल उसी का हाहाकार और उस प्रेरणा देने वाली मानसिक स्थिति खोज-खोजकर पढ़ने लगे। करुण भाव के प्रति कवियों का झुकाव भारतीय संस्कार के कारण है पर उसे और अधिक बल सामयिक परिस्थितियों से मिल सका। (छायावादी काव्य में व्यक्त) इस विषाद में व्यक्तिगत दुःखों का प्रकटीकरण न हो पर उस शाश्वत करुणा की ओर संकेत है जो जीवन का सब ओर से स्पर्श कर एक स्निग्ध उज्ज्वलता देती है।

व्यापक चेतना से व्यष्टिगत चेतना की एकता के भावन ने पुरानी रहस्य प्रवृत्ति को नया रूप दिया। धर्म और समाज के क्षेत्र में विधि विधान इतने कृत्रिम हो चुके थे कि जीवन उनसे विरक्त होने लगा। अपने व्यक्तिगत जीवन और सामयिक प्रभाव के कारण कवि के लिए रहस्य सम्बन्धी साधना-पद्धति को अपनाना सहज नहीं था पर सामंजस्य की भावना और जीवनगत अपूर्णता की अनुभूति ने उनके काव्य पर करुणा का सौम्य आवरण बुन दिया जिसकी छाया में दुःख ही नहीं सुख के भी सब रंग बनते-मिटते रहे।

राष्ट्र की विषम परिस्थितियों ने भी छायावाद की करुणा में एक रहस्यमयी स्थिति पाई। जैसे परम तत्त्व में तादात्म्य के लिए विकल आत्मा का क्रन्दन व्याप्त है वैसे ही राष्ट्र की मुक्ति में अपनी मुक्ति चाहने वाली राष्ट्रात्मा का विषाद भी विस्तृत है। "छायावाद करुणा की छाया में सौन्दर्य के माध्यम से व्यक्त होने वाला भावात्मक सर्ववाद ही रहा है और उसी रूप में उसकी उपयोगिता है।"[1] इस प्रकार महादेवी की करुणा पर भारतीय साहित्य की परम्परा-स्वीकृत करुणा का प्रभाव सर्वथा स्पष्ट है।

पर न अब तक व्यथा का छन्द अन्तिम गा चुकी हूँ

महादेवी के काव्य में करुणा की प्रमुखता का एक कारण व्यक्तिगत रुचि और परिवेश के साथ उनका असफल तादात्म्य भी है। परिवेश की प्रतिक्रियाओं और भावेन्द्रिय के प्रभावों से महादेवी के गद्य साहित्य में अधिक अभिव्यक्ति पाई है तथा असफल तादात्म्य की अनुभूतियाँ एवं कुंठाएँ हैं उनके काव्य में। असफल तादात्म्य ने उनके व्यक्तित्व और अन्तश्चेतना को एक निश्चयात्मक आधार बना दिया है जिसे कवयित्री ने बौद्धिक आयाम से अधिक अभिव्यक्ति और प्रकाश नहीं होने दिया है। किन्तु यह एक निर्विवाद सत्य है कि व्यक्तिगत जीवन की स्थितियों और परिस्थितियों का कवि की कृतियों पर निश्चित रूप से पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। महादेवी ने भी इसे स्पष्टतः स्वीकार किया है—"देश काल की सीमा में आबद्ध जीवन में इतना अवकाश होता है कि अपने परिवेश और परिस्थितियों से उसका कोई संबंध न हो और न यह संघर्ष इतना चरम होता है कि उनका आघातों के चिह्न शेष न रहें।"[2] पुनः रवि ठाकुर के सम्पर्क से चमत्कार के व्यक्तित्व

१ महादेवी का विवेचनात्मक गद्य पृ० ६६ १००।
२ पथ के साथी : दो शब्द पृ० १।

जीवन और उसकी कृति के सम्बन्धों पर अपनी धारणा व्यक्त करते हुए इन्होंने लिखा है—महान् साहित्यकार अपनी कृति में इस प्रकार व्याप्त रहता है कि उसे कृति से पृथक रखकर देखना और उसके व्यक्तिगत जीवन की सब रेखाएँ जोड़ लेना कष्टसाध्य ही होता है। एक को तोलने में दूसरा तुल जाता है और दूसरे को नापने में पहला नप जाता है। वैसे ही जैसे घट के जल का नाप-तोल घट के साथ है और उसे बाहर निकाल लेने पर घट के अस्तित्व-अनस्तित्व का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।"[१] महादेवी ने इस कथन में एक स्पष्ट सत्य को कुछ अस्पष्ट और रहस्यमय अवश्य बना दिया है किन्तु यह रहस्यमय अस्पष्टता इस सत्य से उनके साक्षात् परिचय को प्रमाणित करने में कोई भ्रम पैदा नहीं कर सकी है। इनके गद्य और कविता की भावधारा में जो महान अन्तर है उसका एकमात्र कारण यह है कि गद्य-लेखन के क्षणों में बौद्धिक सजगता की वजह से कवयित्री अपने व्यक्तित्व की ममतामूलक करुणा को छिपाने में समर्थ हो गई है। किन्तु कविता रचने के समय मुक्त रागात्मक क्षणों की मनवबानमापूर्ण अकृत्रिम दशा में बौद्धिक आवरण के बीच छिपी हुई उनकी अनुभूतियाँ एवं कुण्ठाएँ राख के अन्दर अनायास छिपाए गये स्फुलिंगों की तरह अपने अस्तित्व का संकेत देने से न चूकी हैं।

महादेवी की करुणा और दुःखवाद पर बौद्ध दर्शन की करुणा और दुःखवाद का पुष्कल प्रभाव है। बौद्ध दर्शन के कर्मवाद का मूल और बोधि-प्राप्ति की उत्तरदायी करुणा ही है। यह बोधि चित्त का अनिवार्य गुण है। बोधिसत्व की प्राप्ति के बाद बुद्ध-हृदय में करुणा का संचार होता है। इस प्रकार बौद्ध-दर्शन करुणा को एक प्रकार का शील-विकास मानता है।

महादेवी ने बौद्ध-दर्शन की इस बहु-विचारित करुणा के सामान्य स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है, 'बुद्ध होने का प्रयत्न करनेवाला बोधिसत्व है और बोधिसत्व के लिए दो गुण आवश्यक होते हैं—महामैत्री और महाकरुणा। महामैत्री उसे अन्य प्राणियों के लाभ के लिए अपना सर्वस्व त्यागने की शक्ति देती है और महाकरुणा के कारण वह सबको दुःख से विमुक्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है।[२]

बौद्ध-दर्शन की करुणा के इस 'सर्वभूतहित भाव' ने महादेवी को बहुत प्रभावित किया है। 'रहस्यवाद' शीर्षक निबन्ध में इन्होंने महामैत्री और महाकरुणा के प्रसार एवं महत्त्व को दिखलाते हुए लिखा है 'सर्वभूतहित और 'मा हिंस्यात्' की भावना बुद्ध-मत की महामैत्री और महाकरुणा में इतना विस्तार पा गई कि यह चरम विकास तक पहुँचानेवाला साधन ही नहीं उसका लक्षण भी बन गई। अन्य मतों में करुणा परम तत्त्व के तादात्म्य का माध्यम मात्र है पर बुद्ध की विचारधारा में वह परम तत्त्व का स्थान ही ले लेती है। करुणा किसी परम तत्त्व से तादात्म्य के लिए स्थिति नहीं रखती वरन् वह बोधिसत्व की स्थिति के अभाव का साधन और उसके चरम विकास का परिचय है। सबके प्रति महामैत्री और महाकरुणा से युक्त होकर ही बोधिसत्व बुद्ध होता है और

---

१ पथ के साथी पृ ४।
२ क्षणदा पृ० १६।

निर्वाण तक पहुँचाता है।"[1] अतः करुणा में छिपे सर्व-कल्याण के कारण ही महादेवी का कथन है कि 'बुद्ध का मनुष्य समष्टि का मनुष्य है और उसका निर्वाण सबकी दुःख-मुक्ति में अपनी दुःख-मुक्ति है।' 'सान्ध्यगीत' में इन्होंने लिखा है—

आज करुणा-स्नात उजला
दुःख हो मेरा पुजारी।

पुनः 'यामा' के 'सान्ध्यगीत' वाले खण्ड में ही कवयित्री ने जो 'मृदु महान' दीपक चित्र बनाया है उसमें भी मृणाल-विग्रह और हस्त-मुद्रा से करुणा की वेदना का प्रत्यक्षण है। उस चित्र की पीठ पर ये पंक्तियाँ अंकित हैं—

मेरे जीवन का आज मूक
तेरी छाया से हो मिलाप
तन तेरी साधकता छू ले
मन ले करुणा की थाह नाप।

इसी प्रकार कवयित्री ने 'दीपशिखा' की चित्रमय कविता में अपने को करुणा का वाहक घोषित किया है—

मैं पथि विह्वल
पाथेय रहे तेरा दृग-जल
आवास मिले भू का अंचल
मैं करुणा की वाहक अविचल!

इन पंक्तियों से संश्लिष्ट चित्र में भी कवयित्री ने करुणा का भार वहन करने वाली मुद्रा प्रस्तुत की है। 'दीपशिखा' के अनेक स्थलों में करुणा के प्रति लालसा भरी झलक मिलती है। जैसे—

तारों से जाते जो विषाद से श्यामल,
अपनी चितवन में छाया इन्हें कर मधुमय
फिर इनसे रचकर एक घटा करुणा की
कोई यह [illegible] आज धर जाता!

अथवा

जिन आँखों तुमने है ढाला
करुणा का पारावार मुझे!
फिर दुख-सुख के दो तार मुझे।

अथवा

देते हो तुम फेर हास मेरा निज करुणा जल-कण भर
लौटाते हो मधु मुझे तुम अपनी स्मित के रंगों से भर।

अथवा

---

१ महादेवी का विवेचनात्मक गद्य पृ० १२८।

नभ अपरिमित में भले हो पथ का साथी सवेरा
ओस का घर अगत है यह तृण-कणों का लघु बसेरा।
तुम पढ़ो लो भूलि का
करुणा-सजल वरदान !

इसी प्रकार 'रश्मि' में कवयित्री ने करुणा को ही जीवन का सच्चा मर्म
ना है—

रजत रश्मियों की छाया में धूमिल घन-सा छा जाता
इस निदाघ से मानस में करुणा का स्रोत बहा जाता
उसमें मर्म छिपा जीवन का
एक तार अगणित कम्पन का
एक सूत्र सबके बन्धन का
संसृति के सूने पृष्ठों में करुण काव्य वह लिख जाता !

करुणा की तरह महादेवी का दुःखवाद भी बौद्ध-दर्शन के दुःखवाद से प्रभावित
। यह दुःखवाद बुद्ध के धर्मचक्र-प्रवर्तन का मूलाधार है। इसके अनुसार सारा सृष्टि
पंच ही दुःख है। यह दुःख राग या तृष्णा से पैदा होता है।

बौद्ध-दर्शन के दुःखवाद का प्रभाव महादेवी पर है लेकिन अंशतः। महादेवी की
चनाओं में इस दुःखवादी दृष्टिकोण के अनात्मवाद का कोई प्रभाव नहीं मिलता है
योंकि इन्हें आत्मवाद प्रिय है। दूसरी बात यह है कि इस दुःखवाद के निर्वाण सिद्धान्त से
हादेवी ने कोई सीधा प्रभाव नहीं ग्रहण किया है। महादेवी की विचारधारा पर केवल
ौद्ध-दर्शन के दुःखवाद और तद्गत महाकरुणा का प्रभाव है। इस प्रकार यह प्रभाव पूर्ण
ीं आंशिक सिद्ध होता है।

महादेवी की रचनाओं में बौद्ध-दर्शन के दुःखवाद का यह आंशिक प्रभाव विविध
ूपों में व्यक्त हुआ है। इस दुःखपूर्ण जगत एवं जीवन की क्षणिकता ने कवयित्री के संवेदन
ील हृदय को अनन्त वेदना और करुणा से परिप्लावित कर दिया है। किन्तु, संवेदन
ीलता की अधिकता के कारण ये दुःख के प्रति द्वेष-दृष्टि अर्जित नहीं कर सकी हैं। दुःख
नके समक्ष कभी आराध्य के समागम का सुन्दर साधन बनकर आता है और कभी दुःख
ी इनका आराध्य बन जाता है। कुछ गीतों में इनका दुःखवाद व्यावहारिक दृष्टि से इतना
ामान्य हो जाता है कि ये सुख दुःख के समन्वय-सिद्धान्त में विश्वास करने लगती हैं।
उदाहरण के लिए—

सब आँखों के आँसू उजले सबके सपनों में सत्य पला।
जिसने उसको ज्वाला सौंपी
उसने इसमें मकरन्द भरा,
आलोक लुटाता वह घुल-घुल
देता झर यह सौरभ बिखरा
दोनों संगी पथ एक, किन्तु कब दीप खिला कब फूल जला ?

इन पंक्तियों में कवयित्री ने सुख-दुःख को एक ही शाश्वत सत्य के दो पहलुओं के

रूप में स्वीकार किया है। इसलिए दुःख इनके समक्ष पशुओं को भड़काने वाला काष्ठ-कौशिक बनकर नहीं आ पाता। वह इनके लिए प्रेम बन जाता है और उस दुःख का एकान्त पथ इन्हें सुख की भीड़भरकम वाली 'राजनगर' से अधिक आनन्दप्रद प्रतीत होने लगती है—

पंथ होने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला!

दुःखव्रती निर्माण उन्मद
यह अमरता नापते पद
बाँध देंगे अंक-संसृति से तिमिर में स्वर्ण बेला!
दूसरी होगी कहानी
शून्य में जिसके मिटे स्वर, धूलि में खोई निशानी
आज जिस पर प्रलय विस्मित
मैं लगाती चल रही नित
मोतियों की हाट औ चिनगारियों का एक मेला!

इस प्रकार कवयित्री में दुःख के प्रति इतनी आसक्ति बढ़ जाती है कि वे आराध्य को ही दुःख का प्रतिरूप मान लेती है—

तुम दुःख बन इस पथ से आना!
शूलों में नित मृदु पाटल-सा
खिलने देना मेरा जीवन
क्या हार बनेगा वह जिसने
सीखा न हृदय को बिंधवाना!

इस महान और उत्कट दुःखवाद के कारण कवयित्री में ऐसी अनन्त करुणा समाहित हो जाती है कि वह अपने जीवन की कृतार्थता किसी दुखिया के दुःख पर दो बूँद आँसू बहा देने में ही मान लेती है—

प्रिय जिसने दुःख पाला हो
जिन प्राणों से लिपटी हो पीड़ा सुरभित चन्दन-सी
तूफानों की छाया हो जिसको प्रिय-आलिंगन सी
जिसको जीवन की हारें हों जय के अभिनन्दन सी
वर दो, मेरा यह आँसू
उसके उर की माला हो।

फलस्वरूप दुःख महादेवी को बहुत प्रिय है क्योंकि इनके लिए दुःख जीवन का सबसे सुन्दर काव्य है। 'ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें किन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर अधिक उर्वर बनाए बिना नहीं गिर सकता।[1]

१ 'रश्मि' की भूमिका।

दुःखवाद से सम्बन्धित महादेवी की कविताओं में 'नीरभरी दुख की बदली' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसकी अन्तिम पंक्तियाँ और भी मार्मिक हैं—

विस्तृत नभ का कोई कोना
मेरा न कभी अपना होना
परिचय इतना, इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली !

सतही ढंग से इन पंक्तियों में जीवन एवं जगत से पराजित किसी व्यक्ति की निष्ठा आस्थाहीनता झलकती है। लगता है जीवन की वस्तुनिष्ठता का परित्याग कर महादेवी फ्रेंच कवयित्री हीपियस की तरह निराश और ममत्वहीन होकर किसी ऐसी मृग-मरीचिका के पीछे दौड़ रही हैं, जिसका अस्तित्व कम से-कम इस जगत में नहीं है। हीपियस ने लिखा है—

आई नीड विदाउट डीयस ऑफ ए वो
विदाउट फेथ
आइ नीड दैट ह्विच इज नाट एग्जिस्ट इन दिस वर्ल्ड
ह्विच इज नॉट एग्जिस्ट इन दिस वर्ल्ड।

किन्तु महादेवी की ये पंक्तियाँ इतनी अर्थस्वल्प सिद्ध नहीं होती हैं। इनमें महादेवी का स्वर भावना से ऊपर दर्शन के स्तर पर अवस्थित है।

एक शायर का भी ऐसा ही ख्याल है—

बरमजारे मां गरीबां नै चिरागे नै गुले
नै परे परवाना सोजद नै सदाये बुलबुले।

महादेवी की ये पंक्तियाँ दर्शन के धरातल पर हैं। विस्तृत नभ के किसी कोने को अपना बना लेना मोह या आसक्ति है। बौद्ध-दर्शन ने जीवन के समस्त दुःखों का कारण इस आसक्ति को ही माना है। मानव जीवन इन आसक्ति-सम्भूत दुःखों से भरा हुआ है—अनिच्छित का सम्पर्क दुःख है, इच्छित का वियोग दुःख है और ईप्सित की अनुपलब्धि दुःख है। आसक्ति बलिष्ठ होकर ऐसी एषणा बन जाती है, जो इस जीवन के बाद भी घनीभूत होना चाहती है फलस्वरूप जीव को उसकी पूर्ति के लिए विभिन्न योनियों में भटकना पड़ता है।

महादेवी ने बौद्ध-दर्शन से केवल 'दुःखवाद' को ही नहीं अपनाया है बल्कि बौद्ध दर्शन के सर्व क्षणिकं ने इन्हें प्रभावित किया है। समग्र सृष्टि के प्राणी और पदार्थ सत्ता में किस प्रकार नश्वर क्षणिकता का कुटिल कीट घर कर गया है—इसका पता कवयित्री को है। सृष्टि की सुषमा में सोई-छिपी क्षणिकता ने इन्हें बार-बार झकझोरा है—

न रहता भौंरों का आह्वान
नहीं रहता फूलों का राज
कोकिला होती अन्तर्धान
चला जाता प्यारा ऋतुराज
असम्भव है चिर सम्मेलन

न भूलो क्षणभंगुर जीवन!
अथवा
भुला डालो जीवन की साध
मिटा डालो बीते का लेश
एक रहने देना यह ध्यान
क्षणिक है यह मेरा परदेश!

महादेवी को बौद्ध-दर्शन के अलावा बुद्ध के व्यक्तित्व ने भी प्रभावित किया है। इनके अनुसार "बुद्ध के व्यक्तित्व में दो विशेषताएँ ऐसी हैं जिनका संयोग सहज नहीं— कठोर बुद्धिवाद और कोमल मानवीय तत्त्व। उनके बुद्धिवाद के सामने तो आधुनिक वैज्ञानिक युग का बुद्धिवादी भी बड़ा भावुक जान पड़ेगा। आज का बुद्धिवादी अध्यात्म की उपेक्षा करके भी अपने अहम् की पूजा अर्चा में आस्तिक भक्त बन जाता है।[1] बुद्ध की इस बौद्धिकता की प्रशंसा करते हुए महादेवी ने 'करुणा का सन्देशवाहक' शीर्षक निबन्ध में लिखा है कि 'अपनी विशुद्ध बौद्धिकता के बल पर ही वे युगों से बद्धमूल विश्वासों का विरोध करने खड़े हुए और तर्क की सहज स्वाभाविकता के कारण ही हर दिशा में उनकी नाना विजय यात्रा हो सिद्ध हुई पर उनकी असीम शुष्क बौद्धिकता में मानवीय सौहार्द की अनिर्व्याप्ति आश्चर्य का कारण बनती रहती है।" इसीलिए बुद्ध विशुद्ध बौद्धिक और सहज मानव हैं। पुनः बुद्ध के व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते हुए इन्होंने लिखा है "संसार के धर्म संस्थापकों की पंक्ति में बुद्ध ही ऐसे अकेले हैं जिन्होंने मनुष्य के सम्बन्धों में सामंजस्य लाने के लिए परमात्मा की मध्यस्थता नहीं स्वीकार की, अनुकूलता उत्पन्न करने के लिए किसी पारलौकिक अस्तित्व का सहारा नहीं लिया। जिस निर्मम बौद्धिकता के साथ वे अपने वचनों को भी तर्क की कसौटी पर कसकर ही स्वीकार करने के लिए कहते हैं उसी के साथ वे जीवन के अन्तिम क्षणों में अपने संस्थापित धर्म के लिए कोई उत्तराधिकारी नहीं चुनते। उलटे अपने प्राण और प्रिय शिष्य से कह देते हैं—'गुरु नहीं रहा यह न समझना आनन्द! मेरे द्वारा जो धर्म-विनय उपदिष्ट हुआ है, प्रज्ञप्त हुआ है, मेरे न रहने पर वही तुम्हारा गुरु है।

इस प्रकार महादेवी को बुद्ध के व्यक्तित्व की विशुद्ध बौद्धिकता और पूर्ण मानवता ने अत्यधिक प्रभावित किया है। बुद्ध के व्यक्तित्व और जीवन-दर्शन से बहुत प्रभाव ग्रहण करने वाली महादेवी की कविताओं में 'नीरजा' की यह कविता अत्यन्त स्पष्ट है—

जाग बेसुध जाग!
अश्रुकण से उर सजाया त्याग हीरक हार,
भीख दुख की माँगने फिर जो गया प्रतिद्वार
शूल जिसने फूल छू चन्दन किया सन्ताप
सुन जगाती है उसी सिद्धार्थ की पद-चाप
करुणा के दुलारे जाग!

---

1 क्षणदा पृ० १०।

गीत में ले आज मुरली में छिपा वरदान
दृष्टि में जीवन अधर में सृष्टि के छविमान
आ रचा जिसने स्वरों में प्यार का संसार
गूँजती प्रतिध्वनि उसी की फिर क्षितिज के पार
वृन्दाविपिन वाले जाग!
रात के पथहीन तम में मधुर जिसके श्वास
फैल भरते लघुकणों में भी असीम सुवास
कंटकों की सेज जिसकी आँसुओं का ताज
सुभग! हँस उठ उस प्रफुल्ल गुलाब ही सा आज
बीती रजनि प्यारे जाग!

'यामा' में इस कविता के ऊपर बुद्ध का चित्र भी दिया हुआ है। वस्तुतः ये पंक्तियाँ बोधिसत्वों में सर्वोपरि करुणा के चरमोत्कर्ष सिद्धार्थ अवलोकितेश्वर बुद्ध को लक्ष्य कर लिखी गई हैं। महाभिनिष्क्रमण काल की निर्मोही वर्णियों के वीतराग बुद्ध ने भी कवयित्री को अत्यधिक प्रभावित किया है। 'दीपशिखा' की ये पंक्तियाँ—

व्यथा प्राण हूँ नित्य सुख का पता मैं
धुला ज्वाल से मोम का देवता मैं
सृजन-श्वास हो क्यों गिनूँ नाश के क्षण!

बुद्ध के तत्कालीन व्यक्तित्व से प्रभावित होकर ही लिखी गई हैं।[1]

यह स्पष्ट है कि महादेवी के अलावा किसी अन्य छायावादी कवि पर बुद्ध का प्रभाव जीवन-दर्शन नहीं बन सका है। अतः बौद्ध दर्शन के दुःखवाद और महादेवी की रचनाओं में उसके अन्वय को किंचित विस्तार से समझना आवश्यक है।

महादेवी ने दुःखवाद को यथावत ग्रहण नहीं किया है।

किन्तु इस भौतिक प्रत्यक्षता और वास्तविक वस्तुनिष्ठता से महादेवी के दुःखवाद का कम सम्बन्ध है। वह एक प्रकार की आध्यात्मिक करुणा और कल्पना की कुहक से आच्छन्न है। जैसे—

सेतु शूलों का बना बाँधा विरह बारीश का जल
फूल-सी पलकें बनाकर प्यालियाँ बाँटा हलाहल
दुःखमय सुख, सुखभरा दुःख
कौन लेता पूछ जो तुम ज्वाल जल का देश देते?

अथवा

विरह का युग आज दीखा मिलन के लघु पल सरीखा
दुःख सुख में कौन तीखा मैं न जानी औ न सीखा!
मधुर मुझको हो गये सब मधुर प्रिय की भावना ले!

अथवा

---

१ इन पंक्तियों की पृष्ठभूमि में अंकित चित्र भी इसे समर्थित करता है।

जिसकी विशाल छाया में
जग बालक-सा सोता है
मेरी आँखों में वह दुख
आँसू बनकर खोता है।

महादेवी के दुःखवाद की दूसरी विशेषता यह है कि इन्होंने दुःख अथवा विषाद को भी आनन्द की तरह स्थायी या सत्-स्वरूप मान लिया है जब कि बौद्ध दर्शन दुःख को एक प्रकार की ऐसी कर्मजन्य विकृति मानता है जिसका निरोध या शमन सम्भव है अर्थात् दुःख नाश्य है। किन्तु महादेवीजी के अनुसार 'आदिम युग से आज तक मनुष्य अपने हृदय और बुद्धि का परिष्कार करता आ रहा है पर इस क्रम के किसी भी बिन्दु पर उसकी मानसिक तथा बौद्धिक वृत्ति का तारतम्य नहीं टूटा। किसी भी युग में मनुष्य जीवन की [illegible] स्तर पर अपने अनुभवों की वर्णमाला नहीं आरम्भ करता। मनुष्य के आँसू हँसी के कारण भिन्न हो सकते हैं परन्तु उनके मूल में विषाद एक ही रहेंगे।'[1] इस तरह महादेवी दुःख अथवा विषाद को भी आनन्द की तरह चिरस्थायी मानती हैं।

महादेवी और बौद्ध-दर्शन के दुःखवाद या करुणा की धारणाओं में पर्याप्त अन्तर है। भगवान् बुद्ध के प्रति भक्तिमय अनुराग के कारण उनके दर्शन का प्रकारान्तर प्रभाव महादेवी के साहित्य में अवश्य लक्षित होता है किन्तु यह प्रभाव इतना अनिश्चित और स्थिति-स्थापक है कि इसकी मौलिकता नष्ट नहीं हो पाती है। महादेवी की रहस्य भावना प्रणयानुरागमूलक और विरह-व्यंजना किसी अनन्त सत्ता के विश्वसनीय [illegible] पर आरोपण उपयुक्त नहीं पड़ती है। बुद्ध की महाकरुणा के आधार पर तो महादेवी की कविता का कोई सम्बन्ध नहीं है। [illegible] निबन्ध की अभिसारिणी और अपनी 'लघु सीमा' —

जब असीम से हो जायेगा
मेरी लघु सीमा का मेल
देखोगे तुम देव! अमरता
खेलेगी मिटने का खेल!

से भी विश्वास प्राप्त करने वाली कवयित्री आत्मवाद को छोड़ बौद्ध धर्म के अनात्मवादी दर्शन से किस प्रकार अपना सामंजस्य स्थापित कर सकती है। इस तरह बौद्ध दर्शन और महादेवी की करुणा अथवा दुःखवाद में साम्य जितना सूक्ष्म है उतना ही उनका वैषम्य प्रत्यक्ष है। महादेवी की रचनाओं में आत्मवेदना के विकास में जो करुण रेखा खिंच जाती है वह अवश्य ही बौद्ध दर्शन के दुःखवाद का प्रभाव माना जा सकता है। अतः [illegible] हम कह सकते हैं कि महादेवी के साहित्य में बौद्ध दर्शन का [illegible] दुःखवाद [illegible] नहीं लिया गया [illegible] बल्कि वह बुद्ध-पूजन [illegible] से उद्भूत भी हो गया है।

महादेवी के काव्य में आत्मवेदना के प्रति [illegible] बौद्ध [illegible] स्तर [illegible] है। महादेवी की [illegible] के आधार [illegible]

१ [illegible] पृ० ९ ।

कहीं इसकी क्षणभंगुरता भौतिक तत्व के बाह्य रूप-परिवर्तन मात्र का ही रहस्याभास भी पैदा कर देती है।

आँखों में रात बिता जब
विधु ने पीला मुख फेरा
आया फिर चित्र बनाने
प्राची में प्रात चितेरा।[1]

अथवा

विकसते मुरझाने को फूल
उदय होता छिपने को चन्द
शून्य होने को भरते मेघ
दीप जलता होने को मन्द
यहाँ किसका अनन्त यौवन?
अरे अस्थिर छोटे जीवन!

सखे! यह है माया का देश
क्षणिक है मेरा-तेरा संग
यहाँ मिलता काँटों में बन्धु!
सजीला-सा फूलों का रंग
तुम्हें करना विच्छेद सहन
न भूलो हे प्यारे जीवन![2]

अथवा

स्निग्ध अपना जीवन कर क्षार
दीप करता आलोक प्रसार
गलाकर मृत पिण्डों में प्राण
बीज करता असंख्य निर्माण
सृष्टि का है यह अमिट विधान
एक मिटने में सौ वरदान।

अन्य उदाहरणों से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि महादेवी पर बौद्ध धर्म का प्रभाव साम्प्रदायिक एकात्म्य के साथ नहीं पड़ा है। अपनी अनुभूतिजन्य निष्पत्तियों को पुष्ट बनाने में इन्होंने आवश्यकतानुसार इस प्रभाव का उपयोग किया है। इसलिए जिन प्रश्नों पर बौद्ध-दर्शन मौन है उनसे सम्बन्धित सन्दर्भों में इनके हिन्दू संस्कार अनायास ही मुखर हो गए हैं। उदाहरण के लिए हम जन्मान्तर या पुनर्जन्म की बात ले सकते हैं। इन दो पंक्तियों—

---

१ आधुनिक कवि पृष्ठ १।
२ आधुनिक कवि पृष्ठ १८।

रजकण पर जलकण हो बरसी
नव जीवन अंकुर बन निकली ।

से कुछ वैसी ही ध्वनि निकलती है, जब कि बौद्ध-दर्शन में जन्मान्तर या पुनर्जन्म की भाव प्रचलित अर्थ में स्पष्ट स्वीकृति नहीं है।

महादेवी के दुःखवाद के इस विस्तृत विवेचन के बाद यह कहने के लिए लाचार होना पड़ता है कि महादेवी सुख और दुःख के स्वरूप को स्पष्ट नहीं कर सकी हैं। 'माया का दार्शनिक आधार' शीर्षक निबन्ध में नन्ददुलारे वाजपेयीजी ने अत्यन्त मौलिक निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए उचित ही लिखा है कि "महादेवी ने सुख और दुःख के स्वरूप को अस्पष्ट ही रख छोड़ा है। उन्होंने दुःख के आध्यात्मिक स्वरूप और सुख के भौतिक स्वरूप को सामने रखकर विचार किया है। किन्तु इसके विपरीत सुख का एक आध्यात्मिक और दुःख का एक भौतिक स्वरूप भी है, जिसकी ओर उनकी दृष्टि नहीं गई। दुःख की तामसिक राजसिक और सात्त्विक तीनों अभिव्यक्तियाँ हो सकती हैं, उसी प्रकार सुख की भी। यह सब-कुछ उस धरातल पर अवलम्बित है, जिससे सुख और दुःख का निरूपण होता है। महात्मा बुद्ध ने दुःख को आध्यात्मिक अर्थ में लिया है, उसी प्रकार भारतीय दर्शनों ने 'आनन्द' का आध्यात्मीकरण कर लिया है। इसलिए भौतिक आधार पर सुख और दुःख का जो व्यतिरेक महादेवी ने दिखाया है, उसे मैं उनकी व्यक्तिगत भावुकता का परिणाम मान सकता हूँ। उसे दार्शनिक सत्य या काव्य की कसौटी मानने के लिए मैं तैयार नहीं हूँ।

पदों और तुलसी के काकभुशुण्डि प्रसंग के राम के विराट् रूप तथा विनयपत्रिका के आत्म-समर्पण तक भारतीय काव्य का दार्शनिक और आध्यात्मिक भाव पुष्ट होता गया है। ऋग्वेद काव्य नहीं तो और क्या है ? श्रीरामकृष्ण परमहंस ने शरद्-बलाका में ही तो अध्यात्म का पहला संस्पर्श प्राप्त किया था। प्रकृति के भीतर से प्रकृति पर तक पहुँचने की साधना ही तो अध्यात्म है क्योंकि रूप की परिणति अरूप ही है। 'जुही की कली' से निराला का काव्य आरम्भ होता है तो आश्चर्य ही क्या है। भारतीय अध्यात्म प्रधान काव्य प्रकृति और मानव जीवन को सम्भवतः आध्यात्मिक चेतना की भूमिका के रूप में उपयोग करता है। इस रहस्य को न समझकर हम महादेवी और निराला-जैसे अध्यात्म निष्ठ और सांस्कृतिक चेतना से सम्पन्न कवियों और कलाकारों के प्रति भ्रमित रहते हैं। हम उनके कवि-कर्म पर ही रुक जाते हैं या अध्यात्म को उनके काव्य का विषय मात्र मान लेते हैं। दोनों दृष्टियाँ भ्रामक हैं। जहाँ सतत दर्शन अध्यात्म और काव्य एकरूप हो जाते हैं वहाँ क्या काव्य से बड़ी उपलब्धि की कोई कल्पना हमारे मन में जाग्रत नहीं होती ? यूरोपीय रोमांटिकों तक जिनकी पहुँच है वे न भारतीय अध्यात्म की प्रकृति को समझते हैं न भारतीय काव्य-परम्परा से ही परिचित हैं। उन्होंने मीरा को महादेवी से समझना चाहा है और महादेवी को मीरा से। वे गीत की गेयता की अनिवार्यता को भूलकर महादेवी के काव्य को पाठ्य कहते हैं। उनके लिए हस्ताक्षरों की मुद्रा ही सार्थक है भाव के भीतर जो अक्षर प्रतिष्ठित है जो अधरों पर आकर और अध्यात्म रसिक की चेतना में घुलकर स्वप्न बनता है उसे उसका परिचय ही नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने आध्यात्मिक काव्य को वैयक्तिक जीवन के प्रमादों बौद्धिक प्रमादों एवं यूरोपीय मनोविश्लेषणात्मक गर्तों से उबारें और अपनी जातीय तथा भौगोलिक प्रवृत्ति एवं परम्परा के अनुसार अधिमानसी धरातल से उसकी व्याख्या करें जिससे उसके रसास्वादन की प्रकृत भूमि उद्घाटित हो। महादेवी के काव्य का सम्यक अध्ययन और आस्वादन हमें अपनी दर्शन अध्यात्म और काव्य की श्रेष्ठ परम्परा से एक बार फिर जोड़ सके तो उसकी सार्थकता में एक नया अध्याय जुड़े।

अंग्रेजी शिक्षित समाज में यूरोपीय प्रभाव से आधुनिक हिन्दू धर्म के तीन रूपों की सृष्टि की जिन्हें उत्तरोत्तर विकास के क्रम में भी ग्रहण किया जा सकता है—ब्राह्म समाज (१८२८) आर्यसमाज (१८७५) और नव्य वेदान्त (विवेकानन्द १८८६ १९०२)। हिन्दी प्रदेश में आर्यसमाज और उसकी प्रतिक्रिया की ही प्रधानता रही है जिसका एक स्वरूप भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का 'तदीय समाज' था। शिक्षित हिन्दू बंगाली सन्यासियों के माध्यम से बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में ही नव्य वेदान्त के प्रभाव में आ गया था और एक प्रकार से आर्यसमाज और नव्य वेदान्ती समाज में बँट गया था। आर्यसमाज का प्रभाव उसकी बौद्धिक और सुधारवादी चेतना पर था और नव्य वेदान्त उसकी आध्यात्मिक और भक्तिवादी प्रवृत्ति को पुष्ट करता था। दोनों में राष्ट्रीयता की टेक थी। हिन्दू चेतना ने बंकिमचन्द्र चटर्जी के समय से ही कृष्ण चरित्र की बुद्धिमूलक व्याख्या शुरू कर दी थी और गीता की अनेक व्याख्याओं के द्वारा उसे नये जीवन की कर्मधारा से संपर्कित कर दिया था। ऐसी स्थिति में पौराणिक राम-कृष्ण के प्रतीकों का चेतना

से दूर हट जाना स्वाभाविक ही था। तात्पर्य यह है कि मध्ययुग की काव्य चेतना जिस नए आध्यात्मिक समीकरण की आकांक्षी थी वह महादेवी वर्मा के काव्य में प्रतिफलित हुआ। उसकी भूमिका व्यक्तिगत रही हो परन्तु उसमें मध्यवर्गीय मन की समष्टिगत अभिव्यक्ति भी हुई है। मीरा का स्वर महादेवी का स्वर बनकर नारी-जागरण के प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित हुआ परन्तु उसमें कवयित्री की अत्यन्त निगूढ़ और निजी व्यथा नये रहस्य की साधना बन गई। ऋग्वेद की ऋचाओं उपनिषदों और बौद्ध ग्रन्थों तथा सूफी काव्यों के गम्भीर अध्ययन-मनन ने उसे नया रूप प्रदान किया। व्यक्तिगत पीड़ा वहाँ घनीभूत होकर निर्वैयक्तिक एवं सर्वगत हो जाती है वहाँ महादेवी को व्यथाबोध जागता है। 'नीहार' की जीवन की नश्वरता करुणा एवं अतृप्ति की दार्शनिकता उनके काव्य की पृष्ठभूमि बनी परन्तु 'रश्मि से दीपशिखा' तक इस आधारशिला पर काव्य कल्पना और अध्यात्म-गीति का जो देव-मन्दिर अनेक शिखरों को लेकर ऊपर उठा वह अपनी नारी गरी शिल्प-चातुर्य और रूप-वैभव में अद्वितीय था। यदि उसमें कुछ संवेदनशील हृदयों ने 'रहस्यवाद' पढ़ा तो ऐसे भी लोग कम नहीं थे जिन्होंने इस व्यथा में अपनी ही कथा पढ़ी।

निश्चय ही महादेवी के काव्य की अभिव्यंजना में आध्यात्मिक भाषा प्रतीकों तथा सन्दर्भों का उपयोग हुआ है परन्तु उसमें साधना का स्वर नहीं है क्योंकि उनकी प्रक्रिया बौद्धिकता से आरम्भ होकर संकल्पात्मक अनुभूति तक चलती है और उसमें मध्ययुगीन मनीषियों संतों और भक्तों की भावराशि और साधना का उपयोग व्यक्तिगत प्रेम की पीड़ा और अनन्तिजन्य अवसाद में हुआ है। आध्यात्मिक काव्य में शताब्दियों से चले आते हुए बिम्ब और प्रतीक उनके काव्य की मार्मिकता बढ़ाकर उसे जातीय उपचेतन के रंग में रँग देते हैं। प्रकृति उनके उल्लास और पीड़ा की अभिव्यञ्जना का सुन्दर साधन है और वह एक प्रकार की भाषा ही बन गई है। व्यक्ति का जीवन जहाँ समष्टि की सीमा बन जाता है वहाँ वह नितान्त मानसी और आत्मिक होता है। वहाँ व्यक्तिमत्ता निर्वैयक्तिकता में बदल जाती है और साधारणीकरण का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि कवि की बात में सबके मन की बात कह दी जाती है। महादेवी की साधना भावों की साधना उतनी नहीं है जितनी नई काव्य भाषा (खड़ी बोली) के द्वारा नई संवेदना की सृष्टि की साधना। उनकी विरहिणी प्रतिमा और तरल गीतदर्शी में नारी-हृदय की आत्मकथा नया काव्य शरीर धारण कर आई है। उनकी अभिव्यक्ति की सघनता मार्मिकता तथा चित्रात्मकता दर्शनीय है। निश्चय ही नारी की ओर से नहीं आया है उसमें नारी-कंठ की सजीवता और आकुलता भी है। उनका स्वर विराग का नहीं आत्मसमर्पण और आत्मिक उल्लास का स्वर ही रहा था।

गद्दी बानी काव्य में भाव व द्वन्द्व-सा पुराना रूप में बदलकर आया है और यह आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी था क्योंकि मध्ययुग में जिन भूमिकाओं का निर्वाह अवधी और ब्रज में हुआ था वे उसके अपने रूप में छूट गई थीं और अब साधुभाषा के रूप में प्रचलित हो गया था। उर्दू में सूफी भावभूमि पर अध्यात्म का एक ताना-बाना प्रबन्ध बुना गया था। परन्तु वह सूर तुलसी कबीर और मीरा के काव्य का स्थान नहीं ले सकता

था। काव्य के भीतर से प्राचीन आध्यात्मिक संस्कृति प्रसाद की 'कामायनी' और निराला तथा महादेवी के रहस्यवादी काव्य में घुलकर सामने आई। पन्त नये युग के प्रतिनिधि बौद्धिक तथा वर्तमान के साथ थे। उर्दू काव्य की अल्हड़ता विद्रोह प्रेम विलास और उक्ति-वैचित्र्य की परम्परा बाद में 'नवीन' भगवती बाबू 'बच्चन' और 'अंचल' के द्वारा भरी गई। राष्ट्रीयता नये युगधर्म के रूप में सर्वत्र व्याप्त थी। माखनलाल चतुर्वेदी भारतीय आत्मा ने उसे भक्ति-युग की आध्यात्मिकता और वैष्णवधर्मी समर्पण भावना के साथ संजोया था। इस पृष्ठभूमि पर महादेवी का काव्य अपना निश्चित तथा केन्द्रीय महत्त्व रखता है क्योंकि उसमें गीत-परम्परा का ही नया विकास नहीं मिला है ज्ञानी और भक्त कवियों के निर्गुण तथा सगुण काव्य की प्रतिध्वनियाँ नये कण्ठ में पिरोई गई हैं। उसे रहस्यवादी काव्य कहकर उसके चारों ओर पानी की प्राचीर ही उठाते हैं। उसे आध्यात्मिक कोटि का काव्य कहने में हम क्यों लज्जा का अनुभव कराते हैं यह समझ में नहीं आता। महादेवी ने व्यक्तिगत सामाजिक पीड़ा को यदि अध्यात्म की भाषा में अत्यन्त निपुणता और मार्मिकता से अभिव्यक्त किया तो यह उनकी संकल्पात्मक अनुभूति की तीव्रता और एक सुनिश्चित भाव-लोक को जन्म देने और विश्वसनीय बनाने वाली कारयित्री प्रतिभा का वरदान ही समझा जाएगा। इस भाव-लोक को हम समझें और उसमें युग की पीड़ा पढ़ें तो महादेवी के व्यक्तित्व और उनकी संवेदना की तरलता द्वारा उनमें तारतम्य भी स्थापित किया जा सकता है। कवि की चेतना से कालातीत सत्य ही काव्य का विषय बनता है और उसमें युग निरन्तर युगतर में ढलता जाता है। महादेवी के काव्य में भी यही हुआ है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

कविता रचकर कवि अपनी व्यथा से मुक्त हो जाता है तब वह युग का आनन्द बन जाती है। लोकोत्तर आनन्द (रस) के रूप में वह साधारणीकृत होकर सबके लिए आस्वादनीय बनती है। वह व्यक्ति और युग से कहीं बड़े अर्थ ध्वनित करने लगती है। वह संस्था बन जाती है। कवि के व्यक्तित्व और जीवन से स्वतन्त्र वह अपना व्यक्तित्व विकसित कर लेती है और अपना निज का जीवन आरम्भ करती है। उसके मूल्य उसी के भीतर अन्तर्निहित रहते हैं और समीक्षक को वहीं उन्हें खोजना होगा। सहृदय पाठक के होंठों पर उतरकर वह उसके मानस की तरलता बनेगी तभी वह अपने को सार्थक कर सकेगी। इस प्रक्रिया में कवि का व्यक्तित्व और उसका युग पीछे छूट जाते हैं। उसमें हम अदृश्य गायक की बीन पर उठी रागिनी सुनने लगते हैं—'बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ'। आज हमें महादेवी की कविता को इसी भवितव्य की ओर बढ़ाना होगा। उसमें व्यक्ति और युग को पढ़कर हम हास्यास्पद ही नहीं बनते उसके चिरन्तन को भी छोटा करते हैं। जहाँ पश्चिम ने उपचेतन को देखा है वहीं कहीं चिरन्तन ही तो फिर नूतन बनकर प्रतिष्ठित नहीं है? क्या यह असम्भव है कि महादेवी का काव्य किसी शाश्वत सत्य का प्रमाण हो? उपनिषदों में ज्ञान और मध्ययुग में भाव-भक्ति के भीतर जिससे सत्य को देखा गया था उसे यदि आज हम काव्य की रसात्मक भूमिका के भीतर से देखें तो उससे क्या वह अवास्तव बनता है? काव्य को हम विषय से कैसे रिक्त करेंगे? प्रकृति के सौन्दर्य से उद्भूत और लौकिक जीवन की विपर्यस्त स्थितियों से

उत्पन्न वेदना को यदि हम कल्पना का सौन्दर्य और आध्यात्मिक अनुभूति की गहनता दे सकें तो क्या हम जीवन की मूलभूत एकता को ही पुष्ट नहीं करेंगे ? अध्यात्म यदि सौन्दर्य की भाषा बन सकता है तो काव्य रसिक को कुछ अधिक ही मिल जाता है।

परन्तु यहाँ प्रश्न हो सकता है कि अध्यात्म क्या है ? क्या वह कोई पारलौकिक वस्तु है या उसका इस लोक के जीवन से कोई सम्बन्ध है ही नहीं ? क्या वह केवल रहस्यात्मक अनुभूति-मात्र है जिसके पीछे दार्शनिक ऊहापोह का बल है ? जहाँ व्यक्तिगत सुख-दुःख समष्टिगत आनन्द और वेदना का रूप ग्रहण करते हैं वहाँ क्या अध्यात्म नहीं है ? प्रत्यक्ष के स्थूल रूप में सूक्ष्म चेतना का आभास ही तो अन्तरंगी एकता की सृष्टि करता है और उसी का स्पष्ट रूप तो जीवात्मा का परमात्मा के प्रति प्रेमावेदन है। दर्शन में उसे ब्रह्म-जिज्ञासा कहा जाता है परन्तु अध्यात्म में वह आगे बढ़कर आन्तरिक पीड़ा का रूप धारण करती है और मिलन-वियोग के स्पर्शों में बँधकर स्निग्ध शृंगार को जन्म देती है। मूल वस्तु है एकता की अनुभूति चाहे वह स्थूल जगत् के नीचे स्थित सूक्ष्म एवं चिन्मय जीवन-प्रवाह के रूप में हो या सार्वभौम करुणा के रूप में। चिन्मय सूक्ष्म को भाव की भाषा में ब्रह्म कहा जा सकता है और अभाव की भाषा में शून्य। ब्रह्मोपलब्धि या आत्मोपलब्धि और ब्रह्म-विहार के दो ही रूप भारतीय अध्यात्म का निर्माण करते हैं। सर्वव्यापी चेतनता प्रियतम अथवा सार्वभौम करुणा विश्व-वेदना के प्रति उत्कट आकर्षण जिस रहस्य-बोध की सृष्टि करता है वही महादेवी की कविता का विषय है। उसे उन्होंने उपनिषदों के अध्ययन से पाया या सन्त साहित्य से या मीरा से या बुद्ध-वाणी से वह भारतीय अध्यात्म-परम्परा की चीज है जो अनायास भी है और सायास भी। महादेवी के द्वारा नई काव्य-भाषा और अभिनव गीत-शैली में ढल गई है। उसके ऊपर कवयित्री का दावा है भी नहीं। परन्तु वह जिस काव्य की विशेषता में प्रगट हुआ है वह नितान्त उनका है। हम उसी की परीक्षा या समीक्षा कर सकते हैं उसके पीछे जो रहस्य-बोध या आत्मिक पीड़ा है उसे प्रमाण और मापदण्ड के अभाव में विवेचना का विषय नहीं बनाया जा सकता।

परन्तु क्या कवि का काव्य स्वतः प्रमाण नहीं है और क्या उसके मापदण्ड उसी के भीतर नहीं हैं ? जिन समीक्षकों ने महादेवी के रहस्य-बोध को उत्कृष्ट गम्भीर एवं सर्वोच्च कोटि की चीज बताया है परन्तु उनकी अभिव्यंजना को दुर्बल कहा है उनकी बात समझ में नहीं आती। विशुद्ध काव्य-दृष्टि अथवा तीव्र नैसर्गिक तन्मयता अथवा एकान्तिता की आड़ लेकर जहाँ महादेवी की काव्य-कला का त्याग किया गया है वहाँ तक तो समझ में आने वाली [illegible] ठीक है परन्तु काव्य का भावबोध अभिव्यंजना के भीतर से ही और उसके सम्पूर्णतः निक्षेप करके ही है तो वस्तु और शिल्प को दो भिन्न और विरोधी धरातलों पर देखना कोई बड़ी समझ की बात भी नहीं है। राग और विराग के आधार पर काव्य की उत्कृष्टता निकृष्टता निर्धारित नहीं की जा सकती क्योंकि जड़ के प्रति वैराग्य चेतना स्निग्ध प्रेम का प्रथम सोपान है। अंतर्मुखी होने से ही कोई काव्य बाह्य-निरपेक्ष नहीं हो जाता क्योंकि वह बाह्य-जगत् के रूप रंग का प्रचुर उपयोग अन्तरंगता के पूर्ण करने के लिए कर सकता है। महादेवी के काव्य के मूल्यांकन के लिए हम

'रहस्यवाद' सगुण-निर्गुण और गेय-गाम्य की टेकों को छोड़कर अधिक स्वाभाविक और विश्वसनीय मानदण्डों का उपयोग करना होगा। भाषा छन्द और बिम्ब की कारीगरी के भीतर से भाव के मौक्तिक की अनेक परतों में निर्माण की कला काव्य-विषय के प्रति गहरी आस्था तो चाहती ही है उसमें व्यक्तित्व की मानसिकता और तन्मयता को सुरक्षित रखते हुए भाव में उन गहराइयों तक उतरना होता है जो संचारियों में भी बंध नहीं पाई है। महादेवी की पंक्तियों के सहारे हमें उन गहराइयों में उतरना होगा।

अस्पष्टता काव्य का गुण नहीं है। अध्यात्म के क्षेत्र में रहस्यवाद चल सकता है परन्तु कवि तो सौन्दर्यविभावी है। अदृश्य प्रियतम के प्रति प्रेम-निवेदन और अभिसार प्राकृतिक उपमानों और समर्थ बिम्बों में बाँधकर यदि प्रत्यक्षानुभूति की तीव्रता और विश्वसनीयता उत्पन्न नहीं कर सके तो काव्य असमर्थ ही कहा जायगा। मिटता हुआ इन्द्रधनुष या जलता हुआ दीपक स्वयं अपने में काव्य है क्योंकि उनमें जीवन की नश्वरता और एकान्तिकता प्रतीकबद्ध है। यदि महादेवी ऐसे समर्थ बिम्बों और सार्थक उपमानों को कल्पना की अतिशयता में बाँधकर उन्हें भाव की निपुणता तथा सम्पन्नता दे देती हैं तो कवि के नाते उनका कार्य पूरा हो जाता है। प्रत्येक गीत यदि प्रथम पंक्ति से अन्तिम पंक्ति तक एक ही दृष्टिकोण भाव या बिम्ब का प्रसार है तो उसमें पदों की संख्या गिनना व्यर्थ बात है। परिनिष्ठित भाषा से हटकर यदि मनुहार की मधुरता और आन्तरिक संकोच की अभिव्यंजना के लिए व्याकरण-सम्मत वाक्य-योजना में थोड़ा हेर-फेर भी हो तो उससे क्या आता-जाता है? प्रश्न यह है कि महादेवी की कविता में गीत की मार्मिकता और मधुरता भरपूर है या नहीं अथवा उनका भाव विन्यास पदों के बीच के अंतराल को पार करके गुरुतर चिन्तन की गरिमा अथवा अंतर्दृष्टि की परिपूर्णता को प्रमाणित करता है या नहीं? एक-एक बिम्ब प्रतीक या उपमान पर न टिककर हमारी दृष्टि उनके प्रत्येक गीत की परिपूर्णता और समग्रता पर टिके तभी हम उनके काव्यहेतु के प्रति संवेदित हों और उनकी अभिव्यंजना की महार्घता को समझें। अभी महादेवी का काव्य हमारे सम्यक अध्ययन और आलोचना का विषय ही नहीं बना क्योंकि आध्यात्मिक प्रतीकों की नई भाषा हमारे दैनंदिन जीवन और व्यवहार से दूर जा पड़ी है और हम उनकी नितान्त हार्दिक संवेदना को बुद्धि के ऊहापोह और तर्क के विश्लेषण से अछूता बना देते हैं। दीपशिखा दीपक का स्थान नहीं ले सकता।

(२)

प्रश्न यह है कि हम महादेवी के काव्य को किस रूप में लें। निस्सन्देह उसमें एक सूक्ष्म भाव जगत् की विवृति है परन्तु हम उसे जीवन के यथार्थ से पलायन नहीं कह *सकते जब तक कि हम भाव की समन्वयमूलक सांस्कृतिक दृष्टि से उस पर आरोप न करें।* इस युग के कवियों की कोमल भावनाएं और आध्यात्मिक कल्पनाएं एक नये सौन्दर्य लोक के निर्माण का प्रयत्न है जिसमें मानव की युगगत आदर्शवादी प्रकृति को ही चरितार्थता मिली है। प्रकृति और नारी की तरह अध्यात्म को भी चमत्कृति की दृष्टि से देखना युग के तारुण्य का ही सूचक है। छायावाद को स्थूल के प्रति सूक्ष्म की प्रतिक्रिया कहा गया है परन्तु यहाँ सौन्दर्य-दृष्टि नारी और प्रकृति को लेकर ही अतीन्द्रिय सामर्थ्य

माधुर्य और आनन्द की सृष्टि कर सकी। स्थूल की सौन्दर्यानुभूति में जड़ता के स्थान पर चेतनता और रहस्यमयता भरकर नया कवि कवित्त-सवैयों की नारी-देह की रूप-साधना से ऊपर उठा तो उसके सामने मध्ययुग के कृष्ण-काव्य में व्यक्त स्थूल अध्यात्म को नई भाषा और नूतन भाव-भंगिमा में बाँधने का प्रश्न उठा। राष्ट्रीय चेतना और दैन्य की भूमिका पर दिव्य लौकिकता के अनेक चित्र भी कुछ कवियों द्वारा खींचे गए। परन्तु युग के अनुसार अध्यात्म को लेकर नई प्रतीक-भाषा और अभिव्यंजना के नये स्वरूपों का विस्तार भी रहस्यवाद के नाम पर हुआ। व्यष्टि-जीवन की अनुभूतियों को समष्टि जीवन की भाषा में बाँधने वाला महादेवी का काव्य इस नई परम्परा की ही देन है। अध्यात्म की व्यापकता जिस करुणा में प्रकट होती है उसी की गहनता भाव की भूमिका के भीतर से वात्सल्य (सखभाव) की सृष्टि करती है। व्यष्टि-जीवन की निराशा को समष्टि-जीवन के प्रतीक-रूप में कल्पित किसी मधुर व्यक्तित्व के प्रति निवेदित करके प्रेम-विरह की कोमलतम अनुभूतियों में बँधे मानव-मन को जो आनन्द मिलता है वह लोकोत्तर आनन्द (रस) ही है। क्यों महादेवी ने रहस्यवाद की सृष्टि की यह कदाचित् अतिप्रश्न ही होगा परन्तु उनके काव्य में मनुष्य की रहस्योन्मुख प्रवृत्ति के साथ सौन्दर्य की सूक्ष्म और अंतरंगी अभिव्यक्ति की चाह भी पुष्ट होती रही है। मध्ययुग के रहस्यवाद को लौकिक रूपक और हठयोग की भाषा से हटाकर उसे नये युग की सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति और भावनाओं के परिष्कार एवं विश्लेषण की नई प्रणाली की अभिव्यक्ति देने का साहस आधुनिक युग का चमत्कार ही कहा जाएगा। यह और भी आश्चर्यजनक है कि युग की इति वृत्तात्मक यथार्थात्मक एवं नितान्त काल्पनिक काव्य-चेतना ने उसमें बुद्धि और हृदय दोनों का समाधान पाया और काव्य की नई परिपाटी में उसे स्वीकार किया। जीवन को गति देने के लिए जिस भावना की आवश्यकता होती है वह न बौद्धिक विश्लेषण का विषय है न लौकिक सम्बन्धों तक सीमित है। इसीलिए अन्तर्जगत् के सौन्दर्य और परिष्कार से सम्बन्धित तथा मिलन-विरह के बन्धनों में बँधा महादेवी का काव्य छायावाद युग के सभी राष्ट्रीय एवं सामाजिक समाधानों के ऊपर आज देदीप्यमान ऐतिहासिक सत्य के रूप में प्रतिष्ठित है।

महादेवी की काव्य-शैली उनके विषय के अनुरूप ही है। वह प्रतीकों रूपकों और बिम्बों की शैली है। इसके लिए जहाँ उन्होंने प्राचीन आध्यात्मिक काव्य को टटोला है वहाँ उपनिषद् और बौद्ध-साहित्य से भी प्रचुर सामग्री प्राप्त की है। अपनी तेजोदीप्त प्रखर कल्पना शक्ति को रस-रूपों की सारी मार्दवता देकर उन्होंने प्रणति मान मनुहार अभिसार प्रतीक्षा और मिलन के रूपक सँजोए हैं। प्रत्येक के भीतर भाव-संवेग के अनेक आवर्त चित्र बनते हैं और भाव का दूर तक विस्तार मिलता है। भाव की गहनता और सूक्ष्मता बौद्धिकता का आभास देने लगती है और सारा गीत एक प्रौढ़ चित्र के रूप में सुघटित शब्द-राशि बन कर मानस पटल पर अंकित हो जाता है। बुद्धि के अंकुश ने हृदय को अपनी सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करने दिया परन्तु वह कहीं भी अभिव्यक्ति के स्वच्छन्द प्रसार में बाधक नहीं हुई है। न यह कहना सम्भव है कि उनके विशाल अध्ययन में वैदिक ऋचाओं से लेकर मध्ययुग के भक्ति-काव्य तक का कितना भाग आया है कितना और नहीं आया है न यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उनकी प्रचुर कल्पना शक्ति और

भावना का कितना काव्य में बँधा है और कितना बाहर जगत् के भाव और कर्म को मिला है। उन्होंने यह स्वीकार करने में लज्जा नहीं मानी है कि साहित्य उनके सम्पूर्ण जीवन की साधना नहीं है और उसके लिए युग जीवन की विषमताओं को सामने लाकर गद्य में भी प्रस्तुत की है। परन्तु काव्य के भीतर से उन्होंने जितना दिया है वह एक परिपूर्ण इकाई बन गया है और उसे आध्यात्मिक काव्य नहीं तो अध्यात्म का काव्य तो कहा ही जा सकता है। वस्तुतः उसमें अध्यात्म को काव्य बनाया जा रहा है, काव्य को आध्यात्मिक ऊँचाइयाँ देने का प्रयत्न नहीं है। यह सन्त की साधना नहीं कवि की भाव साधना है जो लौकिक जीवन की अनुभूति में अध्यात्म की गाँठ बाँध रहा है। भव और निर्वाण सिद्धों की सहज साधना में जितने पास-पास बैठे हैं उतने ही पास-पास मिलन और विरह ब्रह्मानन्द और करुणा आत्मोपलब्धि और आत्मदान महादेवी के काव्य म हैं। उन्होंने अध्यात्म को धर्म के बन्धन से मुक्त करके जीवन के सहज सौन्दर्य शील प्रेम करुणा और शृंगार में ढाला है। मध्ययुग के सन्तो भक्तों मर्मियों की अत्यन्त निगूढ़ भावधारा को मध्यवर्ग की बुद्धिवादी हृदयवादी जीवन-चेतना का अभिन्न अंग बनाने का श्रेय यदि निराला के साथ किसी को मिल सकेगा तो उन्हें ही। उनका कार्य निराला के कार्य से भी बड़ा और महत्वपूर्ण है क्योंकि वह एकान्तत और सूक्ष्मत है और उसमें प्रथम श्रेणी की कला की कारीगरी है जिस पर स्वयं निराला मुग्ध थे। मुझे स्मरण है कि किस तरह तपती दोपहरी में वह गनेशगंज से मुझे साथ लेकर 'विशाल भारत' के एक अंक की तलाश में गंगाप्रसाद मेमोरियल लाइब्रेरी तक जाकर और वहाँ उसे न पाकर मित्रों के घर भटके थे और अन्त में हजरतगंज पहुँचकर नवलकिशोर प्रेस के 'माधुरी' आफिस में प्राप्त करके महादेवी के नव प्रकाशित गीत को कई बार पढ़कर गद्गद् हो उठे थे। मीलों पैदल चल कर महादेवी के गीत की रहस्य-माधुरी का रस लेने वाला निराला का अध्यात्म रस-पिपासु हृदय यदि उन्हें सहोदरा से भी अधिक स्नेह दे सका तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि इस-जैसा कला की बारीकी को समझने वाला कलाकार और परमहंस रामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द के आध्यात्मिक स्वप्नों में पलने वाला साधक उस समय और कौन था ? महादेवी के काव्य म उन्होंने अपने कलकत्ता-प्रवास के दिनों के आध्यात्मिक काव्य की धर्मच्छटा को नई गीति-कला के साथ भाषा और नई पंखुड़ियाँ खोलते देखा था। वह उनके कितने गीतों पर कितनी बार भाव-विभोर हुए हैं। स्नेह उन्होंने पंत को दिया तो सौहार्द महादेवी को। उनमें उन्होंने अपनी ही आत्मलीनता पाई अपना ही मुख देखा। हिन्दी का समालोचक आज भी महादेवी के काव्य को गीत-प्रगीत की कसौटियों पर आँक रहा है और उनके रहस्य-गान में धुम की पराजय पढ़ रहा है। उसे न नारी का हृदय मिला है न कोयल का कण्ठ। वह आधुनिक नारी के तेज पर मुग्ध है और उसकी वाग्मिता का प्रशंसक है उसके भीतर की शाश्वत नारी के आत्म-समर्पण की पीड़ा और आनन्द को उसने नहीं पाया है। दर्शन जहाँ मस्तिष्क से उतरकर हृदय के रक्त की गति बन जाता है और काव्य भाषा छन्द और लय के अन्तर्विरोधों से ऊपर उठकर गीत के मर्म-मधुर स्पन्दनों में उसे साथ लेकर चल पड़ता है वहाँ आज के समीक्षक की पहुँच ही नहीं है।

(१)

महादेवी की रचनाओं को लेकर एक प्रवाद यह उठाया गया है कि उनका काव्य निराशावाद का काव्य है और उसे युग पराजित मनोवृत्ति के प्रमाण में पेश किया गया है। पराजय और पलायन आरम्भ से ही आध्यात्मिक काव्य के साथ जोड़ दिए गए हैं और भक्ति युग के सन्तों भक्तों और मर्मियों में भी हमने राजनीतिक पराजय और सामाजिक कुण्ठा के स्वर पढ़े हैं। महादेवी के काव्य में व्यक्तिगत जीवन-सन्दर्भों की खोज का प्रयत्न भी हुआ है यद्यपि गहरे जाकर किसी बात को कहने का साहस समीक्षक नहीं कर सके हैं। सम्भव है नये खोजी भक्ति-युग के साधक-कवियों में आत्म दमन, यौनाकांक्षा और कुण्ठित काम देखें। परन्तु काव्य की आस्वादन भूमियों का उसके प्रेरक स्रोतों और उत्सों से कोई अनिवार्य सम्बन्ध हो यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता। जिस व्यथा को महादेवी ने अपने गीतों में उँडेला है वह वहाँ आध्यात्मिक व्यथा बनकर ही प्रस्तुत है और उससे विशुद्ध अध्यात्म-रस ही प्राप्त हो सका है।

महादेवी के काव्य की व्यष्टि-चेतना आत्मवादी भावधारा से प्रभावित है और उन्होंने निजी बात कहने के लिए ब्रह्म-जीव के मिलन-वियोग के रूपकों को चुना है। केवलाद्वैत काव्य का विषय कहाँ तक बन सकता है यह कहना कठिन है परन्तु काव्य में ब्रह्मवाद सर्वात्मवाद बनकर ही अधिक आया है और अद्वैतभूमि पर इष्टदेव को मधुर व्यक्तित्व देने और उसके प्रति मिलन-वियोग की भावनाएँ व्यक्त करने से एक प्रकार की सगुणता अनिवार्यतः इस प्रकार के काव्य में आ गई है। यह द्वैत की भूमि है। फलतः काव्य में अद्वैतवाद रहस्यवाद बनकर ही मार्मिक अभिव्यक्ति पा सका है परन्तु उसमें अद्वैत का वास्तविक रूप खंडित भी हुआ है। निराला ने महाकवि तुलसीदास और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की पंक्तियों को उद्धृत करके काव्य में अद्वैत लिखने की कठिनाई को उदाहृत ही नहीं किया है, उन्होंने सन्त और कवि की भिन्न प्रकृतियों और मौन मुखरता में बदलने की प्रक्रिया में द्वैत के भी हाथ पड़ने की बात भी कही है। मजबूरी सन्त और कवि के अध्यात्मानुभवों के विभिन्न धरातलों की ही नहीं है उनकी अभिव्यंजना में भाषा के दैनंदिन और लौकिक सन्दर्भ भी बाधक होते हैं और वह साधना की अंतरंगता एवं मूलगत एकता नीचे से खंडित करती है।

परन्तु एक दूसरी कठिनाई अनुभव की समष्टिगत भूमिका पर है जिसे करुणावाद कहा जा सकता है। कवि इस विश्व प्रसार साक्षी थे ? विश्वव्यापी दुःख का जब कवि विश्व-वेदना कहता है तो हम उसे औपचारिक अथवा वायवी कल्प मान लेते हैं। वह मौलिक वस्तु है और भाव जगत् की वस्तु है बाह्य-जगत् की राजनीतिक और सामाजिक पीड़ा से उसका सम्बन्ध सीधा नहीं परोक्ष का है यह हमारी बुद्धि में नहीं बैठता। विधवा भिक्षुक और पत्थर तोड़ती हुई श्रमिक नारी निराला की भाव-संवेदना का आलंबन बनकर सामाजिक करुणा का रूप ले सके हैं परन्तु इन व्यक्तिगत प्रसंगों को विस्तार कर सार्वभौम करुणा का स्वरूप बनना है उसको प्रकट करने के लिए कवि के पास क्या साधन है ? उसे तो वह व्यक्तिगत जीवन के प्रतीकों की ही वाणी दे सकता है। महादेवी के काव्य में यह सर्वव्यापिनी वेदना प्रचुर मात्रा में है और यही उनके करुणावाद का मूलाधार है।

परन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह पीड़ावाद पलायनवाद और पराजयवाद है ? क्या उसमें आध्यात्मिक चिन्तन की कमी है ? इसे निराशावाद क्यों कहा जाय ? बौद्ध-दर्शन को लेकर आरम्भ से ही निराशावाद का प्रश्न उठाया गया है परन्तु यह नहीं बतलाया जा सकता कि वह निराशावाद क्यों है ? अर्हत या सन्त के मानस में जब संसार का तिरोभाव हो जाता है और वह अपने इस लोक के जीवन में ही मुक्ति (निर्वाण) का आनन्द ले सकता है तो निराशावाद कहाँ है ? अप्प दीपो भव' में जिस आत्मदीपन की कल्पना है वह आस्था और साहस के साथ ही है फलतः वह दुःखवादी नहीं हो सकती। लौकिक जीवन की निराशा आध्यात्मिक निराशा में बदलकर साधक-कवि उससे तृष्णा वास उपमर्मों से छुटकारा पा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि उसके भावजगत् में निराशा आशा का प्रश्न नहीं रहता केवल अभिव्यंजना रह जाती है। कवि की वासना की तरह कवि की निराशा का भी कोई अर्थ नहीं है। दुःखवादी होने पर भी मूल में बौद्ध-दर्शन निराशावादी नहीं है क्योंकि उसमें दुःख का निदान और निराकरण दोनों हैं। वह बन्द गली नहीं है। उसमें प्रयत्न के अपरिसीम साहस से लेकर प्राप्ति के अनुपमेय आनन्द तक सारा भाव-धाम आ जाता है।

तात्पर्य यह है कि महादेवी अपने काव्य में युग के साथ कम हैं युगेतर के साथ अधिक है। जहाँ वह युग के साथ हैं वहाँ भी सीधे सम्बन्धों को लेकर नहीं आध्यात्मिक प्रतीकों और निर्वैयक्तिक भावनाओं को बीच में डालकर है। फल यह है कि उनका काव्य व्यक्तिगत अनुभूति का स्फुरण न रहकर सार्वभौमिक एवं निर्वैयक्तिक अभिव्यंजना बन गया है। उसमें उपनिषदों के ऋषियों बुद्ध शून्यवादी साधकों सिद्धों मर्मी सन्तों एवं सूफ़ियों की अनेक प्रतिध्वनियाँ घुल-मिल गई हैं। वह मानव-जाति की अनेक शताब्दियों की रहस्य भावना और माधुर्य-साधना से प्रौढ़ता प्राप्त करता है। उसमें छायावादी भावव्यंजना भाषा और शैली का सायास उपयोग है परन्तु कवयित्री की मौलिकता अपने में स्वतन्त्र और विशिष्ट उपलब्धि भी है और उसके विकास का अपना इतिहास है। खड़ी बोली के गीतों को लौकिक जीवन के माध्यमों और प्रतिदिन के मिलन-वियोग, हास अश्रु, मान और अभिसार के प्रतीकों में बाँधकर उन्होंने एक नए स्वप्न-लोक की सृष्टि की है जो मध्ययुग के साधकों के भाव-जगत् से कम मार्मिक नहीं है। उसकी विश्वसनीयता स्वयं उसके भीतर है उसे बाहर युग के विश्वास में खोजना ठीक नहीं है और बिम्बों एवं प्रतीकों छंदों एवं लयों के उपयुक्त और भावस्निग्ध प्रयोग पाठक की आस्था को कवयित्री की अध्यात्म चेतना से कीलित कर देते हैं। भारतीय अध्यात्म-साधना से परिचित सहृदय को तो उसके रसास्वादन के लिए कोई प्रयत्न ही नहीं करना पड़ता। उसके लिए आस्था का प्रश्न ही नहीं उठता। भाषा की चित्रोपमता अत्यन्त सारगर्भित प्रतीकों की योजना गीत-शब्द की प्रौढ़ता और मधुरता तथा संगीत की मयबद्धता से अनास्थावान या तटस्थ के लिए काफी गंजाइश पैदा हो जाती है। जहाँ विश्लेषणात्मक बुद्धि और आधुनिक मनोविज्ञान के सहारे एक-एक भाव या प्रतीक या बिम्ब को समझकर सतर्कतापूर्वक चलने का प्रश्न है वहाँ निराशावाद ही हाथ पड़ता है। महादेवी की अधिकांश रचनाएँ प्रगीत नहीं गीत हैं। उनकी भाव की ध्वनियाँ दूर तक जाती हैं। वह मानव-जीवन के

विराट् सम्बन्धों शृंगार प्रतीकों प्राकृतिक उपमानों एवं काव्यात्मक बिम्बों का उपयोग करती हैं और उन्हें जीवन-परिष्कार तथा भाव-गाम्भीर्य का साधन बनाती हैं। एक ही गीत में वह निराशा से आरम्भ करके इन्द्रधनुष के आशा के दूसरे छोर तक पहुँच जाती हैं। जो जीवन विरह का जलजात है वेदना में जिसका जन्म हुआ और करुणा में जिसे आवास मिला जिसका दिवस अश्रु चुनता है और रात अश्रु गिनती है वही लीला-कमल बनकर अपनी समस्त संभावनाओं में खिलकर किसी के अधरों की स्मिति बन सकता है—

विरह का जलजात जीवन विरह का जलजात।
वेदना में जन्म, करुणा में मिला आवास
अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात।
जीवन विरह का जलजात।

जो तुम्हारा हो सके लीला कमल यह आज।
खिल सके निरुपम तुम्हारी देख स्मित का प्रात।
जीवन विरह का जलजात।

इससे बड़ी संभावना मानव-जीवन की और क्या होगी? जीवन साधक के लिए मरण ही निर्वाण है क्योंकि तभी उसके उपचारों की परीक्षा होती है और जीवन परिष्कार के साधन उसे प्राप्त होते हैं। जब मनुष्य के हास अश्रु समष्टि के प्रति करुणा और मंगल-भावना से रंजित हो जाते हैं और एक क्षण का स्वप्न युग-युग की पहचान बन जाता है तो मरण भय की वस्तु न होकर प्राण का पाहुन बन जाता है—

पथ मेरा निर्वाण बन गया
प्रतिपग शत वरदान बन गया

मिट-मिटकर हर साँस लिख रही
शत-शत मिलन विरह का लेखा।
निज को खोकर निमिष आँकते
अनदेखे चरणों की रेखा।
पल-भर का वह स्वप्न तुम्हारी
युग-युग की पहचान बन गया।
कैसे हो तुम कौन हास भरा
जिन करुणा-कण-कण से भरे।
भीगते हो अश्रु मृदु तुम
अपनी स्मित में रंगीमय कर।
आज मरण का दूत तुम्हें छू
मेरा पाहुन प्राण बन गया।

ऐसी स्थिति में सत्यदर्शी व्यथाव्रती मानव अपने अस्तित्व में चिरन्तन युग का अनुभव करता है। वह मृत्युंजय-सा बन जाता है। उसका मुक्त स्वरित [illegible] जो फिर अवलित [illegible] अथवा मदन का अभिशप्त [illegible] मानव जन्म की

चरितार्थता प्राप्त कर लेता है—

हुए शूल अक्षत मुझे धूलि चन्दन ।
अगरु-धूम-सी साँस सुधिगन्धसुरभित
बनी स्नेह लौ आरती चिर अकम्पित
हुआ नयन का नीर अभिषेक जलकण ।
सुनहले सजीले रंगीले छबीले,
हसित कंटकित अश्रु मकरंद गीले
बिखरते रहे स्वप्न के फूल अनगिन ।
व्यथाभाव हूँ नित्य सुख का पता मैं
धुला ज्वाल में मोम का देवता मैं
सृजन-श्वास हो क्यों गिनूँ नाश के क्षण ?

यह सांझ का दूत है जो प्रभाती तक चलेगा
यह मन्दिर का दीप इसे नीरव जलने दो ।
झञ्झा है दिग्भ्रान्त रात की मूर्च्छा गहरी
आज पुजारी बने ज्योति का यह प्रहरी ।
जब तक लौटे दिन की हलचल
तब तक यह जागेगा प्रतिपल
दूत सांझ का इसे प्रभाती तक चलने दो ।

अमर जीवन से सम्पन्न और मानव की भविष्यत् की आस्था से तपस्वी साधिका के रूप में जिस महाप्राण की कल्पना महादेवी ने की है वह मनुष्य की देवोपम मूर्ति है जो कल के उच्चतर अध्यात्म को आज के कवि की वाणी में मुखरित करती है। भीतर की कातरता और बाहर के तिमिर पारावार को ललकारने वाली महादेवी की यह आस्था क्या निराशावादी कवि की वाणी हो सकती है—

पूछता क्यों शेष कितनी रात ?
अमर-सम्पुट में ढला तू
छू नखों की क्रान्ति चिर,
संकेत पर जिनके जला तू,
स्निग्ध सुधि जिनकी लिये
कज्जल-दिशा में हँस चला तू
परिधि बन घेरे तुझे वे अँगुलियाँ अवदात ।
प्रणत लौ की आरती ले
धूमलेखा स्वर्ण-अक्षत
नीलकुंकुम वारती ले
मूक प्राणों में व्यथा की स्नेह-उज्ज्वल भारती ले
मिल अरे बढ़ आ रहे यदि प्रलय-झंझावात ।
कौन भय की बात ।

महादेवी के रेखाचित्र

गोपालकृष्ण कौल

चित्र भावना की नीरव अभिव्यक्ति होता है। उसमें रेखाएँ और रंग बिना भाषा के ही बोल उठते हैं। किन्तु चित्र केवल रेखाओं और रंगों से ही नहीं, शब्दों से भी खींचे जाते हैं। अभिव्यक्ति के मिश्रित प्रकार के रूप में भावना के चित्रण के लिए शब्द और रेखाएँ समान उपकरण हैं—दोनों ही रहस्यमय अनुभूति को मानस की गहराई से सतह पर लाकर अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करते हैं।

महादेवी वर्मा ने अपनी रहस्यमयी भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए शब्दों और रेखाओं—दोनों को ही अपनी कला का उपकरण बनाया है। चित्रण में उन्हें विशेष रुचि है। उनके गीति-काव्य में अनेक शब्द-चित्र हैं। जैसे शेक्सपियर और कीट्स के सामने नया भाव आते ही—उनके नए-नए चित्र भी बनने लगते थे और उन्होंने अपने काव्य में भावों का चित्रीकरण करके भावनाओं को एक साकारता-सी प्रदान की, वैसे ही महादेवी वर्मा भी रहस्यमय भावना की अभिव्यक्ति अपने काव्य में प्रतीकों से छोटे छोटे चित्र प्रस्तुत करके करती हैं। महादेवी कवि के साथ कुशल चित्रकार भी हैं। शायद इसीलिए काव्य में भी चित्र बनाती हैं। 'दीपशिखा' काव्य-संग्रह में महादेवीजी के चित्रों के गीत और गीतों के चित्र हैं। उसमें उन्होंने रेखा और शब्द—दोनों में ही कविता को आकार प्रदान किया है। जैसे चित्रकार प्रकृति के अनेक सुन्दर असुन्दर उपकरणों को रेखांकित करके चित्र में भावना को रूप प्रदान करता है उसी प्रकार महादेवी रहस्यमय भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए अपने काव्य-चित्रों को प्रस्तुत करने में प्रकृति के अनेक उपकरणों का प्रतीक के रूप में प्रयोग करती हैं। वर्षा से करुणा, ग्रीष्म से क्षोभ, पतझर से दुःख, वसन्त से आनन्द को [illegible] द्वारा अभिव्यक्त करती हैं। सुख के लिए वह 'मलय-पवन' 'मधु' और 'रश्मि' आदि शब्दों का प्रयोग करती हैं। आँसू के लिए उन्होंने 'मकरन्द' 'नीहार' और 'तुहिन-कण' आदि शब्दों का प्रयोग किया है। जीवन के प्रतीक के रूप में उन्होंने दीपक, प्याली, लहर आदि शब्दों का प्रयोग किया है। इस प्रकार स्पष्ट शब्दों में भावाभिव्यक्ति न करके प्रतीकों से रहस्यमय भावना को अभिव्यक्त करने की उनकी चित्रकार की शैली है क्योंकि जब कवि मात्र शब्द से भाव को अभिव्यक्त नहीं कर पाता तभी वह उन प्रतीक चित्र प्रस्तुत करता है। किन्तु यह उनकी मजबूरी नहीं, बल्कि उनके

क्रमागत सौन्दर्य की विशेषता बन जाती है।

महादेवी वर्मा अपने गीति-काव्य में व्यक्ति-प्रधान हैं, समाज की अभिव्यक्ति का उसमें अभाव है। उसमें वह व्यष्टि हैं, समष्टि नहीं। वैसे उसमें प्रकृति के विराट् सौन्दर्य के दर्शन किए गए हैं, जड़ में चेतन के स्पन्दन को अनुभव किया गया है, किन्तु जो चेतन का यथार्थ रूप है—जन-जीवन, उसके दर्शन का उसमें अभाव है। इसीलिए गीति-काव्य में उनकी व्यक्ति-साधना है। प्रियतम के रूप में ब्रह्म उनका साध्य, विरह उनकी साधना और परमात्मा से मिलने को बेचैन आत्मा उनकी साधिका है। गीति काव्य में वह प्रेमिका हैं, प्रणयिनी हैं। प्रेम की अतृप्त प्यास, विरक्तिमय अनुराग, वासनाहीन विरह-पीड़ा और एक अज्ञात ईश्वरीय सौन्दर्य के प्राकृतिक सौन्दर्य में दर्शन—उनके काव्य के विषय हैं। वह वेदना, करुणा और दुःख की कवि हैं। 'रश्मि' की भूमिका में उन्होंने लिखा है—

संसार साधारणतः जिसे दुःख और अभाव के नाम से जानता है, वह मेरे पास नहीं है। जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब कुछ मिला है, उस पर पार्थिव दुःख की छाया नहीं पड़ी। कदाचित् यह उसी की प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगती है।

जो पार्थिव है, उससे उनकी विरक्ति है। उनका दुःख आध्यात्मिक है और वेदना में अलौकिक अनुराग का रस है। किन्तु पार्थिव और स्थूल मानकर काव्य में उन्होंने जन-जीवन के समष्टि-रूप समाज की यथार्थ और जाग्रत चेतना को स्थान नहीं दिया। वैसे गीति-काव्य व्यक्ति-प्रधान कला-साधना है, किन्तु समाज के प्रति कवि के जागरूक दृष्टिकोण की झलक उसमें प्रतिबिम्बित हो सकती है, यदि कवि का समाज के प्रति कोई जागरूक दृष्टिकोण हो। वर्तमान समाज में व्याप्त दुःख, दैन्य, विषमता और उत्पीड़न की झलक उनके गीति-काव्य में नहीं, क्योंकि उसमें जो दुःख और वेदना है, वह भी उनके अलौकिक प्रेम की विरह-पीड़ा के लक्षण मात्र हैं। इसीलिए उन्होंने काव्य के अधिकांश उपमान और प्रतीक भी प्रकृति से ग्रहण किये हैं, जन-जीवन से नहीं। किन्तु महादेवी के रेखाचित्रों में समाज के प्रति आकर्षण है। गीति-काव्य में जो कला व्यक्ति प्रधान थी, रेखाचित्रों में वह समाज प्रधान हो गई है। जन-जीवन में व्याप्त दुःख, दैन्य और उत्पीड़न के चित्रों को उन्होंने शब्दों की रेखाओं से चित्रित किया है। इन रचनाओं में समाज के प्रति महादेवीजी के एक जागरूक दृष्टिकोण के दर्शन होते हैं।

रेखाचित्र लिखने की शैली लेखकों को चित्रकला से प्राप्त हुई है। टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं से बने 'स्केच' चित्रकार की जीवन के प्रति होने वाली सजीवतम अनुभूति को साकार अभिव्यक्ति करते हैं। रेखाओं से जीवन के विविध रूपों को आकार देने की प्रणाली की विशेषता को अपनाकर ही शब्दों द्वारा जीवन के विविध रूपों को साकार करने वाले गद्य चित्रों को 'रेखाचित्र' की संज्ञा प्रदान की गई। रेखाचित्र न कहानी है और न गद्यगीत, न निबन्ध है और न संस्मरण, वह एक स्वतन्त्र कला है। रेखाचित्र केवल व्यक्तियों का ही नहीं, स्थान, वातावरण और भावात्मक व्यक्तित्व का भी खींचा जाता है। रेखा-चित्रकार और कैमरामैन का काम एक-सा है। जैसे कैमरामैन जो जैसा है, उसको वैसा ही कैमरे द्वारा चित्रित करने का प्रयत्न करता है, किन्तु यथातथ्य चित्रण

मात्र कैमरे का लेन्स ही काम नहीं करता बल्कि कैमरामैन की 'ऐंगिल' देने और 'पात्र' न की पैनी दृष्टि भी बड़ा काम करती है। रेखा-चित्रकार भी एक पैनी दृष्टि रखता है। ह वस्तु या व्यक्ति में स्थित अनेक प्रभावों और प्रतिक्रियाओं के दर्शन करके मात्र शरीर ा ढाँचा ही नहीं खींचता बल्कि मन, आत्मा और जीवन की विशेषताओं को भी सजीवता पनी रेखाओं में प्रस्तुत करता है। 'रेखाचित्र' की सीमा बड़ी नहीं हो सकती। उसका धिक विस्तार उसके सौन्दर्य को नष्ट कर देता है। उसमें गठन होना चाहिए और शब्द बाओं में अभिव्यक्ति की शक्ति। 'थम्ब-नेल स्कैच' लघुतम रेखाचित्र का आधुनिकतम मूना है, जिसमें चार-छः पंक्तियों में ही चित्र प्रस्तुत किया जाता है। ऐसे रेखाचित्र भी हिन्दी में नहीं लिखे जाते। किन्तु रेखाचित्र 'लिरिक' नहीं है, इसलिए कलाकार क्ति का रेखा-चित्रण करते हुए भी समाज को नहीं भूल सकता। वह व्यक्ति प्रधान कर सफल रेखाचित्र नहीं अंकित कर सकता। इसके लिए उसे जन-जीवन का सामीप्य प्त करना अनिवार्य है।

इसीलिए गीति-काव्य में व्यक्ति प्रधान महादेवी की भावना रेखाचित्रों में समाज प्त हो गई है। रेखाचित्रों में उनकी अनुभूति मात्र प्रणयिनी की अनुभूति नहीं। उनमें नुष्य की ममता, बहन का स्नेह और नारीत्व की विविध अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है। नमें जन जीवन में व्याप्त दुःख, दैन्य, अशिक्षा, उत्पीड़न आदि के प्रति विराट् सहानुभूतिपूर्ण रुणा और ममता है—कहीं-कहीं विद्रोह भी है किन्तु वह ममता और करुणा में भिभूत है। किन्तु महादेवी की कला में यदि कहीं जन जीवन और समाज का प्रतिबिम्ब मिलता है तो इन रेखाचित्रों में ही। इसलिए महादेवी के साहित्य में इनका विशिष्ट स्थान है। दूसरे इन रेखाचित्रों का सम्बन्ध महादेवी के जीवन से है। जिन पात्रों का चित्रण नमें हुआ है वे कलाकार की जीवन-कथा का हृदय छूने वाले अंग हैं। 'अतीत के चलचित्र' ी भूमिका में उन्होंने लिखा है—

"इन स्मृति-चित्रों में मेरा जीवन भी आ गया है। यह स्वाभाविक भी था। अँधेरे की वस्तुओं को हम अपने प्रकाश की धुँधली या उजली परिधि में लाकर ही देख पाते हैं, उसके बाहर तो वे अनन्त अन्धकार के अंश हैं। मेरे जीवन की परिधि के भीतर खड़े होकर चरित्र जैसा परिचय दे पाते हैं वह बाहर रूपान्तरित हो जायगा।"

यद्यपि 'स्मृति की रेखाएँ' 'अतीत के चलचित्र' और 'पथ के साथी' में महादेवीजी के जीवन-संस्मरण भी निहित हैं फिर भी उनमें रेखाचित्र ही अधिक हैं। उनके रेखा चित्रों के पात्र ऐतिहासिक महापुरुष नहीं बल्कि भारतीय जन जीवन के वे कुछ चित्र हैं जो दुःख की अनिशा और शासन में दीन और मग्न बन गए हैं और कुछ महादेवी की ममता और करुणापूर्ण सहानुभूति के। दलित और शोषित हुआ मानव जिन परिस्थितियों में हम उसको बना देते हैं, महादेवी ने अपनी विराट् सहानुभूति के सहारे उसका अंतरंग अध्ययन कर इन रेखाचित्रों में प्रस्तुत किया है। इनमें कहीं-कहीं दबा हुआ विद्रोह भी मुखरित होता है। किन्तु भारतीय नारीत्व के विविध रूपों का अध्ययन भी इनमें प्रस्तुत किया गया है।

'स्मृति की रेखाएँ' में पहला रेखाचित्र एक लड़की बूढ़ी भक्तिन का है जिसका

नाम भक्तिन है जो अशिक्षा और अज्ञान के अन्धकार में अनेक अवगुणों के साथ कुछ ऐसे गुण भी रखती है जो उसके व्यक्तित्व का प्रबल आकर्षण हैं। दूसरा चित्र एक चीनी फेरीवाले का है जो अपने देश को छोड़कर अपनी खोई हुई बहिन को तलाश करने के लिए कपड़े की फेरी लगाता फिरता है। विगत जीवन में उसने कितना कष्ट और व्यथा उठाई, इसका चित्र महादेवी की करुणापूर्ण शब्द-रेखाओं में उभरकर सामने खड़ा हो जाता है। इसके अतिरिक्त इस संग्रह में भील की गरीबी, पहाड़ी श्रमपूर्ण अभावग्रस्त जीवन, भोटियों की पारिवारिक झाँकी के मन हिला देने वाले भावनापूर्ण रेखाचित्र हैं।

अतीत के चलचित्र में पहले रेखाचित्र में श्रमजीवी ग्रामीण नौकर के जीवन की झाँकी है जो घर से बचपन में भाग आता है और महादेवी के परिवार में बचपन से प्रौढ़ावस्था तक ईमानदारी से काम करता है—मुख्य रामू के चरित्र के गुण-दोष उभरकर सामने आ गए हैं।

दूसरे रेखाचित्र में एक बाल-विधवा का चित्रण है जो परिवार के अत्याचार और उपेक्षापूर्ण वातावरण में बिना बोले ही घुट घुटकर अपना जीवन बिताती है। बिना बोले ही उसकी करुण आँखें उसके जीवन की तमाम वेदना को व्यक्त करती हैं।

तीसरे रेखाचित्र में विमाता के दुर्व्यवहार से पीड़ित एक निरीह बालिका का चित्रण है।

चौथे रेखाचित्र में भंगियों के पारिवारिक चित्रण के साथ उपेक्षित भारतीय नारीत्व के पददलित समाज की नारी सबिया का कमठ चरित्र है जो अशिक्षित और पीड़ित होते हुए भी उत्सर्ग की महान् भावना से अनुप्राणित है।

सब्जी बेचने वाले अन्धे अलोपी, बदलू कुम्हार और कर्मठ पहाड़ी महिला लछमी के रेखाचित्र जन-जीवन के विविध रूप हैं।

इन चित्रों के चरित्र लेखिका के विगत और वर्तमान से साक्षात सम्बन्ध रखते हैं इसलिए इन संग्रहों में रेखाचित्र ही नहीं हैं, रेखाचित्र के अतिरिक्त संस्मरण भी हैं जिन्हें व्यक्ति-प्रधान निबन्ध भी कहा जा सकता है, किन्तु इन चलचित्रों और स्मृति की रेखाओं में जो रेखाचित्र हैं उनमें विशेष बल है और वे हिन्दी साहित्य के लिए गौरव की वस्तु हैं। चीनी फेरीवाले के रेखाचित्र को हिन्दी के प्रसिद्ध संस्मरण-लेखक और रेखा-चित्रकार बनारसीदास चतुर्वेदी ने साहित्य चिर-स्मरणीय रेखाचित्र बताया है। अलोपी, रामू, बदलू और सबिया के रेखाचित्र भी हिन्दी में अपने ढंग के सर्वप्रथम और सफल रेखाचित्र हैं।

महादेवीजी के रेखाचित्रों में पात्र स्वयं कम बोलता है, इसलिए संवाद कम हैं किन्तु जितने संवाद हैं वे चरित्र को पूर्ण रूप में व्याख्या करने में समर्थ हैं। लेखिका स्वयं उनके विषय में अधिक बोलती है, किन्तु उसके बोलने में ही चरित्र बोल उठता है। क्योंकि इन रेखाचित्रों में संस्मरण के अंश भी विद्यमान हैं इसलिए लेखिका की दृष्टि चरित्रों को चारों ओर से घेरे रहती है। वह चरित्र को अपनी ममता और करुण सहानुभूति की गोद में बैठाकर उसकी रेखाएँ खींचती है। महादेवी कवि है, इसलिए रेखाओं में

भावना और कल्पना के रंग भरती हैं। वह सादी रेखाओं से ही चित्र को नहीं खींच
उनके वाक्य लम्बे होते हैं किन्तु शिथिल नहीं—उनमें भावनाओं की अभिव्यक्ति
प्रभावपूर्ण चुस्ती है। इन रेखाचित्रों में चरित्र की अतल गहराई में घुसकर भाव
भावनाओं के मोती चुन चुनकर सतह पर लाने का सफल प्रयास है। वह केवल रेखा
आकृति और मुद्रा को ही अंकित नहीं करतीं मन के सूक्ष्म भावों को भी समा
शब्द रेखाओं में बाँधने का प्रयत्न करती हैं। हिन्दी में रामवृक्ष बेनीपुरी चोटी के रे
चित्रकार हैं किन्तु उनके रेखाचित्र कहानी या कथा-प्रधान होते हैं और आकृति प्र
होती है किन्तु महादेवी के रेखाचित्रों में कहानी के साथ कविता भी रहती है।
बनारसीदास चतुर्वेदी ने अधिकतर बड़े लोगों के रेखाचित्र और संस्मरण लिखे हैं कि
महादेवी ने जीवन में आने वाले उन उपेक्षित चरित्रों को अपनाया है जिनमें भार
समाज की ज्वलंत समस्याएँ साकार हैं।

इन रचनाओं में लेखिका का समाज के प्रति एक जागरूक दृष्टिकोण भी
कवि के रूप में जितनी वह पार्थिव समस्याओं से दूर है—इन रचनाओं में उतनी ही स
है। यद्यपि इनमें लेखिका युग-चेतना के अनुरूप विद्रोहिणी नहीं फिर भी उसमें वैसे
की करुणा और माता के विराट् मातृत्व के दर्शन होते हैं। वह घृणा से अधिक म
और सहानुभूति में विश्वास करती है, इसलिए उसकी विद्रोह की आग पर करुणा
सहानुभूति का हिम आच्छादित है, फिर भी कहीं-कहीं वह दबाया नहीं जा सका
विशेषतः नारी के प्रति होने वाले अत्याचार से वह व्याकुल हो उठती है। सबला
चित्र खींचते हुए नारी पर होने वाले पुरुष के अत्याचार के प्रति वह कह उठती है—

"एक पुरुष के प्रति अन्याय की कल्पना से ही सारा पुरुष-समाज उस
से प्रतिशोध लेने को उतारू हो जाता है और एक स्त्री के साथ क्रूरतम अन्याय
प्रमाण पाकर भी सब स्त्रियाँ उसके अकारण दण्ड को अधिक भारी बनाये बिना
रहतीं।"

'अतीत के चलचित्र' के छठे संस्करण में व्यभिचार से उत्पन्न सन्तान को भी
समाज अब सहन नहीं कर सकता और जब कि अबोध नारी को धोखा दिया गया है
वह कह उठती है—

"यदि ये स्त्रियाँ अपने शिशु को गोद में लेकर साहस से कह सकें कि बर्ब
तुमने हमारा नारीत्व पत्नीत्व सब ले लिया पर हम अपना मातृत्व—किसी प्रक
देंगी, तो इनकी समस्याएँ तुरन्त सुलझ जायें।"

इस प्रकार इन रेखाचित्रों में विद्रोही वाणी भी है। इनमें सामाजिक चेतना
के रेखाचित्र जीवन के प्रति महादेवी के दृष्टिकोण का परिचय देने के लिए उनकी सामा
कला की श्रेष्ठ रचनाएँ हैं जिनमें व्यक्ति में समय की ज्वलन्त समस्याओं को हल कर
देखने का प्रयत्न किया गया है।

महादेवी में रेखाचित्र लिखने की प्रबल शक्ति है। वह एक चित्रकार हैं
गीति-काव्य में भावना-चित्रों को प्रस्तुत करने वाली श्रेष्ठ कलाकार हैं। यद्यपि सरा

का संस्पर्श होने से उनकी कुछ रचनाएँ पूर्ण रेखाचित्र नहीं कही जा सकतीं किन्तु उनमें भी रेखाचित्रों के स्फुट अंश दिखाई पड़ते हैं। हिन्दी में छायावादी शैली के गद्य सरस रेखाचित्र और भावना में संस्मरण की दृष्टि से 'स्मृति की रेखाएँ' और 'अतीत के चलचित्र' उनकी सरस और ऐतिहासिक रचनाएँ हैं जिनमें उनका रेखा-चित्रकार का रूप प्रधान है।

शिल्प साधना

जयनाथ 'नलिन'

आलम्बन और आश्रय के सम्बन्ध की रागात्मक अभिव्यक्ति ही काव्य है। रागात्मक सम्बन्ध के तीन भाग किये जाते हैं, उन्हें तीन मंज़िलें, सोपान या आधार-खण्ड भी कहा जा सकता है। ये हैं—आलम्बन के स्वरूप की जिज्ञासा, सम्बन्ध-बोध और सम्बन्धानुभूति। चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन, प्रत्यक्ष-दर्शन, गुण-श्रवण आदि से आश्रय के हृदय में आलम्बन के स्वरूप की जिज्ञासा होती है। यही उसे प्रेरित करती है कि आलम्बन का सान्निध्य उसे प्राप्त हो। सान्निध्य (यथार्थ या काल्पनिक) प्राप्त करके स्वरूप-बोध होता है। बिना स्वरूप-बोध हुए सम्बन्ध-स्थापना की कामना न उपजती है और न पनपती है। कामना जब गहन राग या वासना का रूप ले लेती है तब सम्बन्धानुभूति बन जाती है।

आलम्बनगत उपकरणों से आकर्षित होकर ही आश्रय में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। ये उपकरण हैं शारीरिक रूप-सुषमा, परिधान, प्रसाधन, रूपगुण, स्वभाव, चेष्टाएँ आदि। दूसरे उपकरण हैं बाह्य परिवेश आदि। काव्य में इन्हें ही उद्दीपन कहा जाता है। सम्बन्ध बोध या सम्बन्ध-कल्पना हो जाने पर सम्बन्धानुभूति होने लगती है। ये उपकरण उस रागात्मक अनुभूति को और भी तीव्र करते हैं। इन उपकरणों को दो भागों में रखा जा सकता है—प्राकृतिक और स्वनिर्मित। यही विभावन-व्यापार कहलाता है। आलम्बन आश्रय के सम्बन्ध-बोध, सम्बन्ध-कल्पना, सम्बन्धानुभूति, जिज्ञासा को भावना-व्यापार कहते हैं। दोनों के क्रियात्मक चित्रण का अभिव्यंजना शिल्प या कलापक्ष।

महादेवीजी का प्रिय परोक्ष भी है, प्रत्यक्ष भी। अतीन्द्रिय अगोचर होते हुए भी इन्द्रियगम्य है। वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म है और गोचरागोचर ब्रह्माण्ड-विस्तार के अणु-अणु में व्यापक विराट भी। उसका स्वरूप बहुत-कुछ कबीर के निर्गुण विलक्षण गुन वाले कन्त के समान है। रति का आलम्बन होने के कारण वह निर्गुण निर्विशेष नहीं रह पाता। उसे शरीरी रूप में प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। उसके प्रति जिज्ञासा का उदय होगा सृष्टि-विस्तार के दर्शन में उसके आनन अंगों की असाधारण असामान्य और अनुपमेय सौन्दर्य के प्रतिबिम्ब को देखकर, उसके सौन्दर्य-भार-वैभव की प्रतिक्रिया को अनुभव करके।

जगते ही तेरा अरुण बाल।
बहते कण कण से फूट-फूट
मधु के निर्झर-से सजल गान।

इन कनक रश्मियों में अथाह
लेता हिलोर तम-सिंधु जाग।
बुद्बुद् से बह चलते अपार
उसमें विहगों के मधुर राग।
बनती प्रवाल का मृदुल कूल
जो क्षितिज रेख थी कुहर-म्लान।[1]

यह सुकुमार प्रभात की सुषमा-स्वर्णिम प्रथम झलक का रागमय चित्रण है। काव्य शिल्पी ने प्रथम अरुण सूर्य रश्मि को बाण के प्रतीक द्वारा अभिव्यक्त किया है। यदि किसी रस-सम्पन्न पदार्थ (रसभरी अंगूर आदि) पर शराघात किया जाय तो उसमें से रस फूट पड़ेगा। उस रस-पदार्थ की राशि को बेध दिया जाय तो निश्चय ही रस की धाराएं बह निकलेंगी। सृष्टि के कण-कण में लबालब रस भरा है किरण-बाण के लगते ही वह फूट कर बह निकलता है। रश्मि-बाण सिद्ध होकर कण-कण से वह मही बह निकलता जिसका चीन से आस्वादन किया जाय बल्कि मधु के झरनो के साथ बह निकलते हैं। प्रथम किरण के धरती पर आते ही भ्रमर गुंजारने लगते हैं, विहग कलरव कर उठते हैं पुष्पावलों में अर्चना-गान गूंज उठते हैं—लगता है कण-कण से गीत मुखरित हो रहे हैं। चारों ओर संगीत सुनकर कल्पना की जा सकती है कि कण-कण में संगीत भरा था—यही परिणाम से तथ्य का अनुसन्धान हुआ। 'स्वर्ण' विशेषण से प्रभावशीलता और अभिसिंचन शीलता दो गुणों को गान में स्थापित किया गया है। गान में आगे बढ़ने प्रसारित होने और मानस को छुआ देने के गुण होते हैं। एक बात और संघर्ष या टूटने से शब्द उत्पन्न होता है। किरणों के आघात से कण टूटते हैं तो उनमें शब्द विस्फोट सिद्धान्त के अनुसार उत्पन्न होगा ही।

किरणों के उदय होने से पूर्व अन्धकार की तह-सी जमी रहती है। सम्पूर्ण धरातल पर सुप्त मनुष्य के समान अचल क्रियाहीन जड़वत् तम-सिंधु फैला दीखता है। सच है किरणें तारों के रूप में अँधेरे पर पृथक्-पृथक् नहीं पड़तीं प्रकाश के रूप में पड़ती हैं तो भी किरणें हैं पृथक्-पृथक् ही प्रकाश-तारों या बाणों के रूप में। कल्पना की आँखों में ऐसा ही दृश्य उतरता है कि अन्धकार के आवरण पर किरणें अलग अलग पड़ रही हैं।

तब झिलमिलाती किरणों के बीच-बीच में तम-कालिमा काँपती-सी मालूम होगी। रश्मि आलोकित भाग ऊपर उठा हुआ और अनालोकित काला भाग नीचे दबा हुआ मालूम होगा। तरंगित समुद्र में ऐसा ही दृश्य देखा जाता है। लहरें ऊपर उठी हुईं और शेष जल नीचे रहता है। क्रियाशीलता-कम्पन ही जागरण है निस्तरंगता जड़ता की नींद। किरणों के पड़ने से तिमिर-समुद्र तरंगायित मालूम होता है। ऊषा के उदयकाल में पूर्ण प्रकाश नहीं होता आलोक-तिमिर मिले-जुले-से रहते हैं। ऐसे ही समय विहग चहचहाने लगते हैं। विहग-स्वरों से ही अर्द्धनिद्रित प्राणी तिमिर-आलोक-मिश्रित समय (पौ फटने के समय) का आभास पाते हैं—ठीक इसी प्रकार जैसे बहते बुद्बुदों से समुद्र के तरंगायित

[1] यामा पृष्ठ ६६।

होने का। क्षितिज तम—सिंधु के तट हैं जो प्रवाल (मूँगे) के समान भीनी अरुण आभा से रँग जाते हैं। मूँगा चमकीला लाल नहीं मद्धिम लाल होता है। दोनों में यथार्थ धर्म-साम्य स्थापित हुआ है। सभी उपमानों का चुनाव कमाल का है। यहाँ इतना और यह देना आवश्यक है कि चित्र वसन्तकालीन ऊषा के उदय का है। सुबह पाँच बजे यह दृश्य किसी विस्तृत समतल मैदान में जब सूर्य क्षितिज रेखा से किसलयों का पर्दा उठाकर झाँक रहा हो प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

प्रकृति के असीम विस्तार में यह अतीन्द्रिय सुषमा का लबालब ज्वार उमड़ता देखती है। उत्तेजक वातावरण में साधिका के हृदय में रति भाव आकुल हो उठता है। उन्माद की दशा में विरहिणी उसे पत्र लिखना चाहती है।

कैसे संदेश प्रिय पहुँचाती ?
दृगजल की सित मसि है अक्षय,
मसि प्याली झरते तारक द्वय,
पल-पल के उड़ते पृष्ठों पर,
सुधि से लिख श्वासों के अक्षर
मैं अपने ही बेसुधपन में,
लिखती हूँ कुछ, कुछ लिख जाती।[1]

आँखों में अजस्र अश्रु-जल की स्याही भरी है लेकिन वह सफेद है। सफेद कागज पर सफेद स्याही से लिखा जाय तो न लेखक ही पढ़ सकेगा न पाठक। साथ ही पत्र-पृष्ठ लगातार अश्रु बरसने से इतने भीग जाएँगे कि सब लिखा-लिखाया घुल जाएगा। विरह दशा की बेताबी में साँसों की गति बहुत तीव्र हो जाती है। हर साँस भाषा-रचना में तीव्रता से लीन है भावावेश में लिखना बहुत है। एक नहीं पृष्ठों का भी अनन्त भण्डार लेखिका के पास है लेकिन क्षणों की गति इतनी तेज है कि प्रत्येक साँस का शब्द अंकित होने से पहले ही समस्त पत्र-पृष्ठ तेजी से उड़ जाते हैं। जब भी गति-तीव्रता असाध्य है तब सन्देश सही रूप में कैसे लिखा जाय ?—असम्भव। प्रत्येक पत्र-पृष्ठ असाध्य तीव्रता से उसी की ओर उड़ा जा रहा है तो कुछ-का-कुछ जो भी लिखा जायगा उसके पास पहुँच जायगा। लिखित-अलिखित अस्पष्ट अश्रु भीगे विरह-वेदना के आँसू-धार सूखते साँस प्रत्येक क्षण पर अंकित होंगे। यही प्रकार विरहिणी के हृदय की सही अभिव्यक्ति देंगे। उन्माद बेसुधी छटपटाहट बेबसी असहायहीन भावावेग की दशा में भाषा की सही रचना कभी हो ही नहीं सकती। पत्र-लेखन-दशा का रूपक उपस्थित करने के लिए स्याही दवात सफेद कागज अक्षर के लिए जो उपमान उपस्थित किये गये हैं हिन्दी में वे अनन्य हैं। रहस्यवादी अभिव्यंजना का इस सन्दर्भ में यह आदर्श नमूना है।

महादेवी के काव्य में रूपकों का अपूर्व भण्डार भरा है। विरहमाधिता होने के कारण विरह-सम्बन्धी रूपक अधिक संख्या में हैं—और भावोत्पादकारी भी हैं। इस सन्दर्भ

1 यामा पृष्ठ १२९।

में 'विरह का जलजात जीवन विरह का जलजात'[1] 'प्रिय सान्ध्यगगन मेरा जीवन'[2] 'शलभ मैं शापमय वर हूँ'[3] 'मैं नीर-भरी दुख की बदली'[4] 'दीपशिखा' के पाँचवें गीत का तीसरा पद[5] और अठारहवें गीत के अन्तिम तीन पद[6] देखे जा सकते हैं। ये हैं सांगरूपक। निरंगरूपक तो प्रत्येक पद में मिल जायेंगे। जहाँ प्रकृति का वैयक्तिकरण करने के लिए मानव अवयवों को गिनाकर उसका शरीरी रूप-गठन करने के लिए या स्वयं को प्रकृति पर आरोपित करके उसका शरीरी रूप उपस्थित करने के लिए रूपक-विधान किया गया है वहाँ महादेवीजी उतनी ही असफल रही हैं जितनी वह भावप्रधान अनुभाव प्रधान आत्मनिवेदन प्रधान और दृश्य प्रधान रूपकों में सफल हैं। इस सम्बन्ध में 'धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त रजनी'[7] 'ओ विभावरी'[8] 'शून्य मन्दिर में बनूँगी आज मैं प्रतिमा तुम्हारी'[9] 'मैं बनी मधुमास आली'[10] आदि रचनाएँ देखी जा सकती हैं।

इन रूपकों में कहीं तो धर्मसाम्य रूपसाम्य स्थितिसाम्य का अभाव है, कहीं शरीरी रूपसाम्य का अभाव। इनमें से कुछ की समीक्षा प्रतीक-विवेचन के अन्तर्गत कर दी गई है।

काव्य और व्यावहारिक जीवन में उपमा का प्रयोग सर्वाधिक होता है। इसका प्रयोग जितना सरल है, उतना ही कठिन भी। कठिन इसलिए कि एक ही उपमान से व्यापक अर्थ-व्यापार इससे होता है। ऐसा उपमान तलाश करना जो रूपक प्रतीक या अन्योक्ति के समान व्यापक अर्थ का अभिव्यंजक हो अत्यन्त पैनी विस्तारवर्ती प्रबुद्ध प्रतिभा की ही सामर्थ्य है। सर्वोत्कर्षकारी उपमान वही कहलाएगा जो आकार, रूप गुण भाव क्रिया प्रभाव की दृष्टि से अतीत वर्तमान और भविष्य को भी अपने में समाविष्ट किये हो।

कुछ उपमाएँ देखिए—

मोम-सा मन घुल चुका अब
दीप-सा तन जल चुका है।[11]

जब नैनों को रोता था
जग चातक का चातक मन।
मेरे मन बालखिली में
संगीत मधुर बन जाता।[12]

चकित-से विस्मित-से दृग बाल।
अकारण यह शैशव-सा हास।

---

१ यामा पृष्ठ ११८। २ यामा पृष्ठ २ ३। ३ यामा पृष्ठ २१८। ४ यामा पृष्ठ २२७। ५ दीपशिखा, पृष्ठ ७५। ६ दीपशिखा, पृष्ठ १ ०। ७ यामा पृष्ठ १३०। ८ यामा पृष्ठ १६८। ९ यामा पृष्ठ २१२। १० यामा पृष्ठ १५८। ११ दीपशिखा गीत २१। १२ यामा पृष्ठ ८४।

तरंगों से मृदु पद सुकुमार।
मुकुर-से मेरे प्राण।[1]
विहग शावक-से जिस दिन मूक
पड़े थे स्वप्ननीड़ में प्राण।[2]

मोम तनिक-से ताप से पिघल जाता है। विरह-सन्ताप से मन पिघल गया है। मोम का कोई पदार्थ (बत्ती) जब पिघलता है, तब पिघले मोम की गोल-गोल बूँदें टपकती दीखती हैं। सारा मोम पिघल जाने पर बूँदें पिघले हुए मोम में विलीन हो जाती हैं। सारा मोम द्रवित सरस स्निग्ध पदार्थ बन जाता है। मन भी ऐसा द्रवणशील तरल पदार्थ बन गया है। अब सन्ताप द्रवित आँसू भी छिलकते नहीं आते। 'मोम-सा मन घुल चुका' में व्यंजना से सन्ताप के आधिक्य मन की द्रवणशीलता प्रिय-साधना में सम्पूर्ण विनाश—इन सबके चित्र भी प्रिय की निष्ठुरता प्रेयसी की एकान्तनिष्ठा और प्रिय के प्रति करुणा का अनुरोध समाया है। दीप के सम्बन्ध में भी यही समझिए।

'चातक का बालक मन' 'मन बालविधी' 'दुधवाल' 'शैशव-सा हास' 'विहग शावक-से प्राण' में बालक और शैशव दो उपमान प्रयुक्त हुए हैं। बालक और चातक का हठ सर्वविदित है। बालक जिस बात पर अड़ जाय मनवाकर ही मानता है। चातक भी स्वाति-जल पीकर ही चैन लेता है। बालक अबोध होता है। साधिका का अबोध मन-मोर भी आलम्बन श्यामघन को देखकर गा उठता है। आलम्बन के सुषमा-प्रभाव शीतलता दान आश्रय के मन की मुग्धता की व्यंजना 'बालविधी' में है। बालक भोले होते हैं। थोड़ी-सी विलक्षणता असाधारणता असामान्यता पर विस्मित-चकित हो जाते हैं यहाँ बालक के स्वाभाविक भोलेपन चपलता और मुग्धता को आँखों में स्थापित किया गया है। विहग-शावक से भी प्राणों की अबोधावस्था शैशव निष्क्रिय परिस्थितिबद्ध अवस्था की व्यंजना की गई है। शैशव से शिशु की स्वभाव-निर्मलता निष्कपटता स्वच्छन्दता मधुरता सुकुमारता कोमलता लघुता का अर्थ लिया गया है। इन उपमानों में पदार्थ से गुण-स्वभाव गुण-स्वभाव से क्रिया साकार से निराकार, निराकार से साकार, असाम्य से साम्य की व्यंजना पूरी सफलता से हुई है। साथ ही ध्यान देने की बात यह भी है कि एक शब्द (बालक) कितने विभिन्न अर्थों का बोधक है।

कवयित्री की अभिव्यंजना में भाव-निवेदन[3] या स्थिति-विशेष की सूक्ष्मता[4] भिन्न

---

१ यामा पृष्ठ १२६।
२ यामा पृष्ठ १०५।
३ प्रिय मेरा निशीथ नीरवता में आता चुपचाप।
मेरे निमिषों से भी नीरव है उसकी पदचाप।
यामा पृष्ठ १०७
४ पीड़ा मेरे मानस-से भीगे पट-सी लिपटी है।
यामा पृष्ठ २६

गुण-स्थापना[1] विपरीत और विरोधी स्वभाव-समावेश[2] विपरीत परिणाम[3] विपरीत क्रिया[4] उक्ति-वक्रता[5] सरलता,[6] व्यंजना आदि सभी प्रकार के उदाहरण मिल जाते हैं।

अद्वैतवाद की काव्यात्मक अभिव्यक्ति ही रहस्यवाद है। अद्वैतवाद के अनुसार आत्मा अंश है परमात्मा अंशी। माया के व्यवधान या विभाजक-कर्मों के द्वारा परमात्मा से आत्मा अलग हो गई है। ज्ञान या प्रेम-साधना से आत्मा फिर परमात्मा में मिल जाती है। दोनों का सम्बन्ध समुद्र और लहर के समान है।[7] परमात्मा और आत्मा की एकरूपता को कवयित्री ने अनेक उपमानों द्वारा व्यक्त किया है। इसमें सर्वाधिक सूर्य और दीपक को लिया गया है।[8] परमात्मा को सिन्धु, जलराशि ऋतुराज निशा ज्योतिविस्तार, प्रकाश ज्वाला बादल और आत्मा को रश्मि ऊर्मि, मधुश्री स्वप्न तारक उत्ताप बिजली के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है।[9] सूर्य और दीपक की सम्बन्ध-कल्पना को छोड़ कर शेष उपमेय-उपमानों में कोई नवीनता नहीं पुराने रहस्यवादी और भक्तों ने भी राम भगवान् और भक्त साध्य-साधक और प्रियतम प्रेयसी का अखण्ड सम्बन्ध इन्हीं प्रतीकों के

---

१ जब बनी मृदु वर्तिका हर स्वर जला बन लौ सजीली।
फैलती आलोक-सी झंकार मेरी स्नेह-गीली।

दीपशिखा गीत ५

२ ज्वाल का मोती सँभाले मोम की यह सीप।
सृजन के शत दीप थामे प्रलय दीपाधार।

दीपशिखा, गीत ४

३ प्यास यह पानी हुई इस पुलक के उन्मेष में
सजल बनकर दीप बन जाता निशा के वेश में।

दीपशिखा, गीत १७

४ झर हुए, दृग में मधु भरते
तपे प्यास का आतप हरते
इनसे घुलकर धूल भरे सपने उजले निखरे।

दीपशिखा, गीत १०

५ स्वप्न स्वर्ण कैसा न कोई ज्वाल धोता
यह पड़ते जब पुलक भरे हैं
सुधि से सुरभित हैं स्नेह धुले
ज्वाला के चुम्बन से निखरे हैं

दीपशिखा गीत १२

६ जीवन पावस रात जगाने सुधि बन आया कौन।

यामा पृ० १११

७. यामा पृ० ६४।
८. यामा, पृ० १४१ १४६, दीपशिखा गीत ४२, ४५, ४६।
९. यामा, पृष्ठ १ ३-१०४।

द्वारा दिखाया है।

अप्रस्तुत-विधान में सर्वाधिक भावाभिव्यंजक प्रतीक है। अर्थ-सम्पन्नता और अभिव्यंजना की दृष्टि से इसकी समता की जा सकती है, तो अन्योक्ति से। प्रतीक में अर्थ इसी प्रकार समाया है जैसे बीज में। वृक्ष की टहनियाँ पत्ते फूल और फल आदि। प्रतीक भी धर्मसाम्य को अभिव्यक्ति देने में जितना अधिक समर्थ होगा उतना ही वह काव्य के लिए उपयोगी होगा—प्रतीक (प्रति+इक) का अर्थ है और झुका हुआ। अभिव्यक्ति की सुबोधता-दुर्बोधता का ध्यान रखकर प्रतीक-कल्पना की जाती है। आलम्बन और आश्रय साकार होने पर भावन और विभावन-व्यापार को अभिव्यक्त करने के लिए प्रतीक-विधान की आवश्यकता कम पड़ती है। आलम्बन सूक्ष्म परोक्ष निराकार होने पर रहस्यमयी अनुभूति भी बन जाता है तब तो प्रतीक एक अनिवार्य उपकरण हो जाता है। भावन और विभावन दोनों व्यापार गुह्य—रहस्यमय बन जाने पर उन्हें प्रतीकों द्वारा ही प्रकट किया जाता है। यही कारण है, निर्गुण माधुर्य भक्ति में जो प्रतीक-विधान मिलता है वह सगुण भक्ति या लौकिक काव्य में नहीं।

महादेवीजी की काव्य-साधना का आलम्बन है परोक्ष या सूक्ष्म। उनकी साधना रहस्यात्मक है तब रहस्यमयी अनुभूति या व्यापार को अभिव्यक्ति देने के लिए प्रतीक पद्धति का आधार लेना ही पड़ेगा। मैं समझता हूँ कबीर के बाद हिन्दी में दो ही काव्य साधक प्रतीक-विधायक हुए—प्रसाद और महादेवी। कबीर के प्रतीकों में जो अटपटापन अर्थ की दुरूहता अभिधा का बहिष्कार और अर्थ का बलात् समावेश है, वह प्रसाद और महादेवी में नहीं। महादेवी के प्रतीक तो और भी स्पष्ट हैं—अभिप्राय को अंगुली से नहीं छोड़ते। साथ ही वह एक प्रतीक प्रस्तुत करके उसके सभी अंगों का उल्लेख करके सांग रूपक भी खड़ा कर देती हैं। तब तो दुर्बोधता रहती ही नहीं।

प्रतीक-रूप में महादेवीजी ने दीपक का सबसे अधिक प्रयोग किया है। जैसे तुलसी के प्रेम या भक्ति का आदर्श है चातक और कबीर के प्रेम का आदर्श मछली और सूरमा वैसे महादेवी की प्रेम-साधना का प्रतीक है दीपक। चातक विश्वमंगल विश्वात्मक घनश्याम के करुणा-वारि के लिए छटपटाता है, वर्षा ओले तूफान की परवाह नहीं करता, दीपक उस आलोक-पिण्ड सूर्य की भावना करता है जिसका अरुण बाण चुभते ही कण-कण में मधु के निर्झर-से मलय गान बह निकलते हैं।

दीपक अपने ही हृदय के मधुमय स्नेह में तिल-तिल जलकर राख होता जाता है। वह भी प्रतीक्षा-पथ को अपने स्वर्णिम प्रकाश से अभिसिंचित करता रहता है। सघन अन्धकार से दग्ध अतीत और कुहासे के समान धुँधला भविष्य। पीछे लौटना असम्भव और आगे बढ़ने में प्रकाश-परीक्षा तो भी उत्ताल तरंगों में तैरता आँधियों के आघात सहता असीम की ओर अग्रसर है। ऐसे बेधड़क प्रेमी से ही प्रेम की रीति सीखी जा सकती है।

क्षार होता जाता है गात
वेदनाओं का होता अन्त
किन्तु करते रहते हो मौन
प्रतीक्षा का आलोकित पंथ

सिखा दो ना नेही की रीति
मनोज्ञे मेरे नेही दीप।[1]
कुहरे-सा धुँधला भविष्य है
है अतीत तम घोर।
कौन बता देगा जाता यह
किस असीम की ओर।[2]

आरम्भ में दीपक का जो निरूपण हुआ है, देखने में वह आलम्बन-सा लगता है लेकिन वह है गुरु रूप में प्रेरक प्रकाश-वर्द्धक प्रेम और साधना का आदर्श या गुरु। इसलिए वह उद्दीपन-रूप में प्रस्तुत है। साधनाभिलाषी जिज्ञासु बनकर कवयित्री उससे स्नेह की रीति सिखाने का अनुनय करती है—'सिखा दो ना' में एक प्रकार का ऐसा अनुरोध और जिज्ञासु का शिशु-सुलभ भोलापन है जिसे व्यावहारिक घरेलू भाषा में 'निहोरा' कहा जाता है। अपने आलम्बन का आभास पा जाने उसके विरह की अनुभूति करने उसके प्रति अकल्पित चिरन्तन प्रेम हो जाने पर साधिका स्वयं दीपक बन घुल-घुल तक जलने और उसके हाथ से बुझ जाने की कामना करती है।

दीप-सी युग-युग जलूँ
पर वह सुभग इतना बता दे।
फूँक से उसकी बुझूँ
तब क्षार ही मेरा पता दे।[3]

प्रेम-साधना के एकान्त लोक में विरह-तिमिर सघन के बीहड़ में सन्नाटे के निर्जन में निष्ठा के शून्य निलय में भाव-लोक के कक्ष में पहुँचकर साधिका का हृदय (आत्मा) चिरन्तन स्नेह-युत दीपक बनकर जलने लगता है। प्रियतम के पथ को आठों याम आलोकित करते रहने के लिए साधना का दीपक जलाती रहती है—न जाने कब आ जाय। सिहरते पुलकते मुस्कराते मद-विह्वल हो झूमते भोले-भाले दीपक को जलाती रहती है। उसे समझाती है—

तारे शीतल कोमल नूतन
माँग रहे तुझसे ज्वाला-कण
विश्व-शलभ सिर धुन कहता, मैं
हाय न जल पाया तुझ में मिल।
सिहर सिहर मेरे दीपक जल।
मेरी निश्वासों से द्रुततर,
सुभग न तू बुझने का भय कर,

---

१ (नीहार) यामा पृष्ठ ५१।
२ (रश्मि) यामा पृष्ठ ७८।
३ (सान्ध्यगीत) यामा पृ० २१७।

मैं अंचल की ओट किये हूँ,
अपनी मृदु पलकों से चंचल ।
सहज सहज मेरे दीपक जल ।
तम असीम तेरा प्रकाश चिर,
खेलेंगे नव खेल निरन्तर
तम के अणु-अणु में विद्युत-सा
अमिट चित्र अंकित करता चल ।
सरल सरल मेरे दीपक जल ।
तू जल-जल जितना होता क्षय
वह समीप आता छलनामय
मधुर मिलन में मिट जाना तू
उसकी उज्ज्वल स्मित में घुल खिल ।[1]

साधिका की प्रेम-साधना की विरह-ज्वाला से आलोकित जिस दीपक से प्रेम विरह-साधना की चिनगारियाँ जड़-चेतन सभी निर्बल साधक माँग रहे हैं फिर धुन धुन तड़प-तड़पकर बेताब होकर मायालिप्त प्राणी उस प्रेम की आग में न जल पाने के कारण—वैसी विरह-साधना न कर पाने के कारण पछताकर रह जाता है उस साधक दीप का क्या कहना ! यह आश्वासन कि साधिका उसे बुझने न देगी—प्रबल सशक्त अथाह निष्ठा अखण्ड आस्था के अंचल से उसे ओट किये है साथ ही उसके क्षय होने से ही छलनामय उससे आ मिलेगा तब कौन-सा दीपक है जो हँसते-हँसते न जलता रहे ? आगे चलकर साधिका स्वयं दीपक बन जाती है ।

शलभ मैं शापमय वर हूँ
किसी का दीप निष्ठुर हूँ ।
ताज है जलती शिखा
चिनगारियाँ शृंगार माला
ज्वाल अक्षय कोष-सी
अंगार मेरी रंगशाला
नाश में जीवित किसी की साध सुन्दर हूँ ।[2]

दीपशिखा में महादेवीजी विविध दीप-रूपों में उतरी हैं । 'दीपशिखा' उनकी अनन्त अक्षय साधना की प्रतीक है । 'दीपशिखा' के एक चौथाई गीत दीप की साधना के विभिन्न रूप उपस्थित करते हैं । कभी उमड़ित तूफानी समुद्र उमड़ती लहरें बौखली बिजलियाँ प्रकम्पित दिशाएँ उनके साधना-दीप के लिए मंगल-स्नान बन जाता है ।[3] कभी आतप पीड़ित तारों के मुद्रित नयन मनमनाते श्वास उन्मत्त आँधी कड़कती बिजली की हुंकार

---

१ (नीरजा) यामा पृ० १४५, १४६ ।
२ यामा, पृष्ठ २१८ ।
३ दीपशिखा गीत १ ।

कम्पी घड़ियों में मुझे दीपक जला कवयित्री दीपक रागिनी गाती है।[1] कभी आरती-वेला समाप्त होने पर घड़ियाल शंखों-वीणा के मन्द पड़ जाने प्रसून निर्माल्य विसर्जित हो जाने पर भयंकर झंझावात में 'ज्योति का यह लघु प्रहरी' पुजारी बनकर जागता है।[2] कभी वह गोधूली को दीप जलाने के लिए कहती है।[3] रात कितनी बीत चुकी कितनी शेष है इसके जानने की कामना नहीं केवल जलना ही उसकी साधना है।[4]

मैं क्यों पूछूँ यह विरह निशा
कितनी बीती क्या शेष रही
उर का दीपक चिर स्नेह अतल
सुधि लौ शत झंझा में निश्चल
सुख से भीनी दुख से गीली
वर्ती-सी सांस अशेष रही।[5]

साधक आत्मा का पूर्ण स्वरूप जैसा दीपक के प्रतीक द्वारा अभिव्यक्त हुआ है वैसा शलभ चातक चकोर कमल कुमुदिनी मछली आदि से नहीं। रहस्यवादी काव्य में तो और भी नहीं। दीपक स्नेह (तेल) और साधक स्नेह (प्रेम) से अँधेरी रात (विरह-वेदना-तिमिर आवृत) भर जलता रहता है। दोनों ही जलकर अन्धकार (अज्ञान माया) को नष्ट कर पथ आलोकित करते रहते हैं। दीपक से दीपक जलता है और साधक अन्य साधकों में विरह चिनगारी जलाता है। दोनों ही तिल-तिल जलकर क्रमशः सूर्य और परमात्मा के निकट पहुँचते हैं। दीपक की ज्योति अपने अंशी ज्योति के अनन्त सूर्य और बिम्ब में और साधक की आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है। दीपक लौ जलाए रहता है साधक लौ लगाए रहता है। स्नेह, लौ और ज्वाला के श्लेष द्वारा भी दीपक को साधक का सच्चा प्रतीक बना दिया है।

दीपक के बाद ध्यान जाता है रात पर। वसन्त रजनी[6] रूपसि[7] मिलन-यामिनी[8] विभावरी[9] सुनैहली[10] अपने जगाती का[11] इन गीतों में रात को प्रतीक-रूप में रखा गया है। गीत संख्या १ ४ और ५ में प्रेयसी गीत संख्या २ में वात्सल्यमयी जननी गीत

---

१ दीपशिखा गीत ५।
२ दीपशिखा गीत ११।
३ दीपशिखा गीत १८।
४ दीपशिखा गीत ४२।
५ दीपशिखा गीत १२।
६ (नीरजा) यामा पृ० ११ ।
७ (नीरजा) यामा पृ १४०-१४१।
८ (नीरजा) यामा पृ १६४।
९ (नीरजा) यामा पृ १६९।
१० (सान्ध्यगीत) यामा पृष्ठ २४४।
११ दीपशिखा गीत ३२।

संख्या ३ में सखी और गीत संख्या ६ में दूती प्रेरक या पथप्रदर्शिका बनकर प्रस्तुत हुई है। गीत संख्या २ में कवयित्री रात से अनुरोध करती है—

नत स्निग्ध लटों से छाये तन
पुलकित अंकों में भर विशाल
झुक सस्मित शीतल चुम्बन से
अंकित कर इसका मृदुल भाल
दुलरा दे ना बहला दे ना,
यह तेरा शिशु जग है उदास।

गीत संख्या ३ में कवयित्री अनुनय करती है—ऐ मेरी चिरमिलन यामिनी सघन तिमिर बन घिर आ सितारे भी छिप जाएँ समीर की साँसों और हरसिंगार के स्पंदन का भी शब्द न हो लहरें सो जायें कलियाँ न रोएँ चातक पी-पी न पुकारे क्योंकि आज—

सीमित को असीम में चिर लय
एक हार में हों शत शत जय
सजनि! विश्व का कण-कण मुझ को
आज कहेगा चिर सुहागिनी!

और गीत संख्या ६ में प्राण' के अभिषेक को 'हर युग सजाती आ' का अनुरोध है।

गीत संख्या १, ४ और ५ में केन्द्रीय भाव एक ही है अपनी आत्मा को प्रिय मिलन के लिए प्रेरणा। १ और ४ में आत्मा को अभिसार के लिए तैयार किया जा रहा है। ५ में जड़ता की माया में मानी आत्मा को जगाया जा रहा है। सभी में प्रिय की पग-चाप[1] सुनाई दे रही है।

गुणाभिमानिका मुग्धा वासकसज्जा की शृंगार-सज्जा देखिए—

तारकमय नव वेणी बन्धन
शीश फूल कर शशि का नूतन
रश्मि-वलय सित घन अवगुंठन
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे चितवन से अपनी।
भ्रमर की रुनझुन नूपुर ध्वनि
अलिगुंजित पद्मों की किंकिणि
भर पद-गति में अलस तरंगिणि
तरल रजत की धार बहा दे मृदुस्मित से सजनी।[2]

---

१ सुन प्रिय की पदचाप हो गई पुलकित यह अवनी।
प्रिय की पदचाप मदिर या मल्हार सी।
किस की पदचाप चपल आ रही है निकट प्रतिपल।
२ (नीरजा) यामा पृ० १३०।

पुलकित स्वप्नों की रोमावलि,
कर में हो स्मृतियों की अंजलि
मलयानिल का चल दुकूल अलि
घिर छाया-सी श्याम विश्व को आ अभिसार बनी
सकुचाती आ वसन्त-रजनी।

ऊपर वसन्त-रजनी का जो रूपयोग रूप संघटित हुआ है उसमें अभिसारिका का कोई भी स्वरूप हमारी आँखों में चित्रित नहीं होता। किरणों से वलय भौंरों से समाविष्ट कमलों से किंकिणी तरंगिणी से चरण स्वप्नों से रोमावली स्मृतियों से अंजलि का कोई आकार सामने नहीं आता। न किरणें और न कमल हाथों और कमर के चारों ओर लिपटे रहते हैं। जिन उपमानों की कल्पना शृंगार-सज्जा के लिए की गई है वे सब विस्तृत अनन्त भूखण्ड में बिखरे पड़े हैं। केवल आंशिक धर्म-साम्य के कारण वे उपमेय-धर्म नहीं निभा सकते। वसन्त रजनी की नारी-रूप कल्पना वैसी ही है जैसे केशव की पावस रजनी की काली या 'पंचवटी' की शिव या पार्वती के रूप की कल्पना। रजनी का वैयक्तिकरण तो किसी सीमा तक ग्राह्य हो सकता है पर सावयव रूप प्रस्तुत करना कल्पना का बहुत अच्छा उपयोग नहीं कहला सकता।

वीणा और तार भी प्रतीक रूप में अनेक बार प्रयुक्त हुए हैं। वीणा का प्रयोग कहीं मनस्विनी के निजी जीवन कहीं हृदय के अर्थ में किया है। 'जर्जर वीन लेकर बिखरे तारों को जोड़कर पीड़ा का भार लेकर अनन्त की ओर कैसे जाऊँ ?'[1] जब वह कहती है, तो उसी अर्थ को प्रकट करती है जिसको प्रकट करने के लिए सूर ने 'जर्जर तरी' का प्रयोग किया। जीवन के बिखरे तत्त्वों को उसी ने एकत्र किया यही मानने को कहता है।[2] साधिका के प्राणों का तार-तार गा उठता है।[3]

वीणा द्वारा जीवन (विश्व-जीवन) को भी व्यक्त किया गया है। समस्त सृष्टि को वीणा की संज्ञा दी गई है। वह जब कहती है 'इस जादूभरी वीणा पर बस भर गा लेने दो गायक' तब साधिका के शरीर, हृदय और जगत का अर्थ व्यक्त होता है।[4] समस्त जगत सृष्टि या विशाल भू-मण्डल का अर्थ व्यंजित करने के लिए नीचे की पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं —

तमिस्र निशीथ में ले आये
गायक तुम अपनी अमर बीन
प्राणों में भरने स्वर नवीन।
तममय तुषारमय कोने में
छेड़ा जब दीपक राग एक।
प्राणों-प्राणों के मन्दिर में
जल उठे बुझे दीपक अनेक।

---

१ यामा पृ० ४६, ७१।
२ यामा, पृ० ६१।
३ यामा, पृ० ६६।
४ यामा पृ० १५२, १३१।

तेरे गीतों के पंखों पर
उड़ चले विश्व के स्वप्न दीन।[1]

प्रलय की निस्तब्ध संज्ञाहीन अर्धनिशी रात में नाद-ब्रह्म का स्फोट हुआ। जड़ में जीवन का उदय हो गया। उसके दीपक-राग (चेतना-स्वर नाद-विस्फोट) से अनेक बुझे दीपक जल उठे—प्रलय निद्रा में सुप्त आत्माएँ जाग उठीं। स्पष्ट है यहाँ नाद से सृष्टि के उदय का सिद्धान्त प्रतिपादित है। वीणा में स्वर है, झंकार है। स्वर शब्द है झंकार कम्पन है। कम्पन ही क्रियाशीलता है चलना है, गति है। नाद भी गतिशील है। नाद अमर है। जीवन गतिशील है अमर भी है—अनादि है, अनन्त है। इतिहास भी नहीं जानता जीवन का आरम्भ कब हुआ। इसलिए वीणा को जीवन का प्रतीक मानना अत्यन्त उपयुक्त है।

प्रेम विरह-वेदना, प्रेमानुभूति प्रेमबोध आदि को तीर के द्वारा अभिव्यंजित किया गया है।[2]

तीर चुभने पर प्राणी पीड़ा से तड़पता है विरह-वेदना (प्रेम-पीड़ा) से भी प्रेमी छटपटाता है। परिणाम या प्रतिक्रिया की समानता के कारण दोनों समान हैं। कबीर ने भी प्रेम को शर या हथियार इसीलिए माना है। इस कल्पना का मूल है मदन के पुष्पबाण।

दीपक के साथ ही दीपक-राग का सम्बन्ध है। कहा जाता है दीपक-राग गाने पर बुझे दीपक जल उठते हैं। तब दीपक-राग का लाक्षणिक अर्थ होता है स्नेह और ज्वाला स्नेह का अर्थ चिकनाई, भावना राग अनुराग और ज्वाला का अर्थ है प्रकाश। प्रकाश का अर्थ है ज्ञान बोध चेतना आदि। दीपक राग को भी महादेवीजी ने ज्ञान चेतना और भावना का प्रतीक माना है। उस परम चेतन पराग सत्ता ने "तममय तुषारमय कोने में छेड़ा जब दीपक-राग एक" तब "जल उठे बुझे दीपक अनेक"।[3] दीपक राग का उल्लेख दीपशिखा में कई बार हुआ है।[4] सामान्य भौतिकता को विलीन करने के लिए दीपक

---

१ (सांध्यगीत) यामा पृ० २४०।

२ चुभते ही तेरा अरुण बान। —यामा पृ० ६६
किस सुधि-वसन्त का सुमन-तीर ? —यामा पृ० ७०
रात के उर में दिवस की चाह का शर हूँ। —यामा पृ० २१८
बिंध गया अजान आज किसका मृदु कठिन तीर ?
—दीपशिखा गीत २१
स्वप्नशर से आप के घन ने लिया उर बेध।
दीपशिखा गीत ४।

३ (सांध्यगीत) यामा पृ० २४०।

४ क्यों न प्रिय पहचान पाती ?
जिस लिए हर साँस में मैं सजल दीपक-राग गाती।
दीपशिखा गीत १५।

उत्तरवर्ती रचनाओं में इसकी अधिक अभिव्यक्ति हुई। बुद्ध के करुणावाद ने उनके वेदना दर्शन को एक व्यापक वातावरण प्रदान किया। अपने आरंभिक काल में सम्भवतः वह रहस्य-काव्य से और विशेषतः उपनिषदों से प्रभावित रहीं। वह सदा सांकेतिक व्यंजनाओं से भी काम लेती रहीं। उनके काव्य में सामाजिक अनुभूतियों की प्रायः अवहेलना हुई है। उन्हें एकांतिक और असामाजिक भाव-भूमि का कवि कहा जा सकता है। पर उनकी वृत्तियाँ सूक्ष्म सत्य का इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण करती हैं कि सर्वदा उन्हें लोक-बाह्य हो जाने से बचाये रखता है। पर ये सब वैचारिक प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें मनन के द्वारा अपनाया गया जान पड़ता है। कठिनाई यह है कि महादेवीजी लोक-सामान्य भावभूमि की अधिवासी हैं ही नहीं। कहीं भी मानवीय साधारणता अथवा स्वच्छन्दता को वह प्रकट ही नहीं कर पाईं। उन्होंने मानोत्कर्ष और जीवनादर्श की ही वाणी दी। यह नारी की शालीनता संयम और गोपन प्रवृत्ति का भी परिणाम है कि उनकी रचना की असामान्य भावभूमि सुस्थिर रही। अतः महादेवीजी की काव्य-प्रेरणा के सम्बन्ध में तीन प्रकार के विकल्प हो सकते हैं, यथा—

१ वह रहस्यवाद को न केवल व्यक्त करती हैं वरन् वह उनकी जीवनानुभूति भी है।

२ रहस्यवाद उनके चिन्तन का विषय है और उनकी प्रतिभा न उसी का आरोप करते हुए उसे प्रकृत अनुभूति का स्वरूप दे दिया है।

३ कोई एक घटना जैसे सम्पूर्ण जीवन को आन्दोलित कर जाती है उसी भाँति व्यक्तिगत जीवन का कोई प्रसंग या प्रभाव भावोन्मयन करता हुआ रहस्यानुभूति के रूप में स्थिरता पा गया है।

एक चौथा विकल्प भी हो सकता है पर मैं नहीं समझता कि महादेवीजी की विरह-वेदना को अवास्तविक कहा जा सकता है क्योंकि कृत्रिम अनुभूतियाँ महान् कला का निर्माण कभी नहीं कर पातीं। अस्तु, महादेवीजी को निरवधि विप्रलम्भ का आवर्य प्राण गीतिकार कहा जा सकता है। निश्चय ही वह विरहावस्था आवेगमयी नहीं है। उसका वातावरण प्रशांत है और अत्यन्त सूक्ष्म भी। वह शान्त रस के आवेष्टनों में शृंगार का उपमित करती हैं। वियोगिनी की विविध मनोदशाओं का जहाँ-तहाँ चित्रण भी होता गया है। मैं कहूँगा कि सौन्दर्य और सात्त्विकता अथवा प्रेम और वैदुष्य को एक साथ प्रकट करने के कारण वह न केवल प्रेमिका रह पाई हैं न केवल साध्वी। उभय गुणों को उन्होंने स्वीकृत वस्तु बना लिया है। इसी कारण उनका रचना-कार्य एक पृथक कोटिक्रम को निर्दिष्ट करता है।

इस विवेचन का क्या यह निष्कर्ष तो नहीं है कि महादेवीजी को रहस्यवादी कवि मान लिया जाय और प्रकृत अनुभूतियों के कवियों से उन्हें अलग रखा जाय? वह सत्य की चिरन्तनता या अखण्डता का लक्ष्य भी अवश्य रखती हैं पर वह जीवन की परिधि में सौन्दर्य के माध्यम द्वारा ही उसे अभिव्यक्त करना चाहती हैं। यहाँ वह छायावादी भाव-स्तर से पृथक होते-होते भी बच ही जाती हैं। प्रकृति का सौन्दर्य जीवन का सुख और इनके प्रति आत्मीयता का भाव उनकी अनुभूति को अकाव्यात्मक परिच्छेद से पृथक् ही रखता है।

वह प्रेम की कवयित्री सौन्दर्य की उद्भाविका और करुणा की देवी बन जाती हैं। अवश्य ही वह अपने रचना-कार्य में देवी अधिक हैं मानवी कम। आशय यह है कि उनका व्यक्तित्व समुन्नत और सुसंस्कृत ही नहीं है वह निष्कलुष अन्तर्वृत्ति की कलाकार भी हैं। यह भी कहा जा सकता है कि मानवीय दुर्बलताएँ उनमें भी हैं पर वह अपने को प्रकृत रूप में कहीं उपस्थित नहीं करतीं। उनका व्यक्तित्व आवरणों से आच्छादित है अथवा अप्राकृत स्वरूप अपनाये हुए है। पर इस प्रकार के अनुमान के लिए कोई प्रत्यक्ष आधार सुलभ नहीं है।

उन्होंने अपनी वेदना को पार्थिव दुःख के अभाव से अनुस्यूत माना है। दुःख और अभाव का न होना क्षतिपूर्ति के सिद्धान्त के अनुसार क्या उनकी इस मानसिक स्थिति का कारण है? इसका सही उत्तर मनोविश्लेषक ही दे सकेंगे। मैं यही कहूँगा कि वेदना की मधुर अनुभूति महादेवीजी को स्वभावतः चाहे काम्य जान पड़ी हो पर दुःखवादी बौद्ध दर्शन के प्रभाव के रूप में उसे ग्रहण अवश्य किया गया है। यही नहीं कवयित्री ने उसे सोच-समझकर एक सैद्धान्तिक परिणति भी दी है यथा—"दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है।" दुःख की यह तर्क-सम्मत परिणति मानसिक सनक मात्र नहीं है। उन्हें दुःख के दोनों रूप प्रिय हैं—यथा—'एक वह जो मनुष्य के संवेदनशील हृदय को सारे संसार से एक अविच्छिन्न बन्धन में बाँध देता है और दूसरा वह जो काल और सीमा के बन्धन में पड़े हुए असीम चेतन का क्रन्दन है।" मैं समझता हूँ कि यहाँ छायावाद और रहस्यवाद के अन्तर को अनजाने ही लक्षित किया गया है। दुःख का पहला प्रकार महादेवीजी के गद्य में वाणी पा सका है पर उनके गीतों में वह प्राकृतिक सौन्दर्य तक ही अधिक-से-अधिक अवसर पा पाया है। दुःख के दूसरे प्रकार की उनके प्रारंभिक गीतों में काव्यात्मक अभिव्यक्ति हुई है पर उत्तरवर्ती रचनाओं में वह सर्ववादी दर्शन की व्याख्या या विवरण का आभास भी देता है। दुःख का दूसरा प्रकार ही महादेवीजी का मूल भाव कहा जा सकता है। उनके गीतों की यही स्थायी अन्तर्वृत्ति जान पड़ती है।

अस्तु महादेवीजी की रचना प्रेरणा है दुःख और वह भी वैयक्तिक क्योंकि उनका काव्य प्रगीत शैली में रचा गया है जिसकी अन्तःप्रकृति ही स्वानुभूति की अभिव्यंजना है। स्वयं कवयित्री ने कहा है कि मेरे गीत मेरा आत्म-निवेदन मात्र हैं। अतएव दुःख के दूसरे रूप की ही व्याप्ति को प्रमाणित किया जा सकता है। यह विचित्रता अवश्य है कि इस दुःख को दार्शनिक पीठिका पर प्रतिष्ठित किया गया है और इसे सैद्धान्तिक परिणति दी गई है। दुःख के कारणों के सम्बन्ध में चाहे जो ऊहापोह होते रहें पर मानवीय दुर्बलता जीवित आसक्ति मानसिक स्खलन इत्यादि से यह कहीं भी संचरण मात्र भी नहीं हो पाया यह तथ्य निर्विवाद है और शुभ-लक्षण भी।

महादेवीजी को अभी तक स्थान पर हम देवीजी कह आए हैं। वह इस कारण कि उनका रचना-भाव कहीं भी लौकिक आकर्षण-विकर्षण को सामान्य राग-द्वेष के स्तर पर नहीं आ पाया। इसका यह अर्थ नहीं है कि उनके मन में जीवन की आकांक्षा या सौन्दर्य की लालसा नहीं है। उनके काव्य में शारीरिक का अपूर्व उन्मेष है। उनकी विरलता न केवल आध्यात्मिक है वरन् लौकिक भी। उनके निकट मानव की आध्यात्मिक माँगें

का पूर्णत्व और सत्य का साक्षात्कार अपृथक किन्तु सूक्ष्म भावों की चित्र-योजना ही है। निराशा पलायन आदि उनकी रचना के औपचारिक उपादान मात्र हैं। वास्तविक अध्यात्मवादी आस्थावान् होता है। अतएव वह आशा को त्याग नहीं पाता। अवश्य ही जीवन के संघर्षों को असार मान लेने के कारण कुछ अध्यात्मवेत्ता साधनावस्था की अवधि में पलायन को काम्य मानते हों पर वे ही आत्मोपलब्धि करके जगत् पर अपनी असीम करुणा की अजस्र वर्षा भी करते देखे गये हैं। स्वयं महादेवीजी जिज्ञासामयी हैं मुमुक्षु हैं दार्शनिक हैं या साधक इससे हमें कोई प्रयोजन नहीं है पर उनके काव्य में जीवन की चाह है और सौन्दर्य की साधना है तथा गद्य-साहित्य में उनकी करुणा का व्यापक प्रसार हुआ है यह जानना ही पर्याप्त है। 'पा तुमको दूर जाना' 'रात के उर में दिवस की चाह का शर हूँ' जैसे कथन उनकी जीवनावस्था का ही व्यक्त करते हैं। स्थूल में ही सूक्ष्म की उपलब्धि होती है शरीर द्वारा ही अध्यात्म का बोध होता है मूर्त जगत् में ही अमूर्त चेतना आभासित होती है अतएव महादेवीजी को दुःखवादी दार्शनिक या सर्वात्मवादी रहस्यवादी ही कहना कदाचित् अर्धसत्य का निर्वचन समझा जायगा। वस्तुतः वह जीवन के प्रत्यक्ष सौन्दर्य और परोक्ष सत्य को एक साथ अपनाती आई हैं। इन दोनों के साम्य का समन्वय उन्हें काम्य है भेद या विरोध का आविष्कार नहीं। वे मूलतः अध्यात्मवादी या आदर्शवादी हैं पर वह अंशतः मानववाद को भी अपना सकी हैं। मानववाद की सौन्दर्य निष्ठा उन्हें प्रिय है पर उसका परवर्ती करुणावाद उनके गद्य-साहित्य में और विशेषतः उनके जीवन में प्रत्यक्ष हुआ है।

महादेवीजी के साहित्य की मूल चेतना और मुख्य प्रवृत्ति को यहाँ स्पष्ट कर लेने का उपक्रम हुआ है। उन्हें छायावादी रहस्यवादी या मानववादी कह देना अथवा निराशावादी पलायनवादी या व्यक्तिवादी विशेषण से संयुक्त कर देना कदाचित् हमें साहित्यिक विश्लेषण के क्षेत्र में अधिक दूर तक नहीं ले जा सकेगा। उन्हें सांस्कृतिक चेतना सम्पन्न उदात्त भावभूमि-युक्त व्यापक सामंजस्यवादी दृष्टि-समन्वित तथा शाश्वतवादी रचनाकार कहना कहीं उपयुक्त होगा। अवश्य ही वह गीत-कवि हैं रहस्यवादी चिन्तक हैं और सौन्दर्य चेता कलाकार हैं। न मानवीय अनुभूतियों का सतही स्वर ही उनके काव्य में कहीं सुनाई पड़ा न ऐन्द्रिय आकर्षणों का चटकीलापन ही कहीं प्रकट हो पाया। वह उच्च मनोदशा की गीतिकार हैं। उन्होंने मानवीय अनुभूति की गरिमा और सात्विकता को वाणी दी है पर उसका आधार एकान्ततः वैयक्तिक है।

२

हमारे सम्मुख यह प्रश्न समुपस्थित होता है कि दर्शन किस सीमा तक काव्य का उत्कर्ष-विधायक तत्त्व है और किस सीमा तक वह त्याज्य है? महादेवीजी का काव्य दर्शन से अनुप्राणित है। मैं समझता हूँ कि दर्शन जहाँ तक काव्यानुभूति का सहायक तत्त्व है वहाँ तक वह उपादेय है पर जहाँ वह काव्यानुभूति का स्थानापन्न तत्त्व बनने का उपक्रम करने लगता है वहीं वह अपनी सीमा को लाँघ जाता है। महादेवीजी के काव्य में संस्कारिता और सुरुचि दोनों हैं और नारी-सुलभ भाव विकृति भी अतएव तत्त्व-दर्शन प्रायः काव्य को श्रीहत नहीं कर पाया। वह इस अर्थ में उपादेय है कि उसके कारण

मानवीय अनुभूतियाँ संयत बनी रहती हैं। अवश्य ही दार्शनिक गाम्भीर्य के कारण यह काव्य गहन या गरिष्ठ हो गया है और एकान्त क्षणों में ही आस्वादन करने की अपेक्षा रखने लगा है। कवयित्री इसे उपनिषदों का मर्म तो दे सकी पर इसके काव्यत्व का सार्वजनिक आकर्षण नहीं निखार पाई।

महादेवीजी के काव्य की कठिनाई दूसरी ही है। वह लोक-सामान्य भाव-संवेदनों के स्थान पर विशिष्ट मनःस्थिति के वैयक्तिक भाव-चित्र आलेखित करती हैं। उनके काव्य में सूक्ष्मता सुकुमारता कल्पनाशीलता सांकेतिकता आदि का प्राधान्य है। वह अमूर्तात्मक[1] रचना-कार्य है, जिसमें बीच-बीच में कल्पना-छवियाँ झाँक जाती हैं। वह प्रतीक-योजना के द्वारा ही प्रायः अपना काम चला लेती हैं। पर अंततः यह रूपवादी प्रवृत्ति है जो अलंकृति को अवश्य बढ़ाती है पर भावोन्मेष को बल नहीं देती। कला-ढंग रचना-व्यापार, अलंकृतिपूर्ण छन्द-शिल्प सांकेतिक पद-योजना और लाक्षणिक चित्र सृष्टि—ये सब मिलकर काव्य को क्लिष्ट ही बनाते हैं। भावों की सहज अभिव्यक्ति यहाँ सम्भव ही नहीं रह पाती। इसी कारण महादेवीजी के रचना-कार्य को प्रायः आयास-साध्य या अकाव्योचित माना गया है। मैं समझता हूँ कि परवर्ती काव्य में जहाँ सांगरूपक की योजना हुई है अथवा एक ही कल्पना सम्पूर्ण गीत में सुस्थिर रह सकी है अर्थात् जहाँ चित्र चमत्कार या भाव की अन्विति विद्यमान है वहाँ रसमय काव्यांशों के भी दर्शन होते हैं। महादेवीजी का काव्य छायावादी काव्य-शैली की समृद्धि और साजसज्जा का काव्य है पर जितना वह चमत्कारपूर्ण है उतना सहज सरस नहीं। कवयित्री ने उसे सभी प्रकार से असाधारण गहन-गम्भीर और सांकेतिक बनाया है। बुद्धि और भावना दोनों के समाव से कला की सृष्टि होती है और महादेवीजी ने इन्हीं के आधार पर अपने काव्य का धूप-छाँही वस्त्र बुना है। जो हो महादेवीजी का काव्य विशिष्ट है अपनी मिसाल आप है। उसमें उनकी बुद्ध की धारणा की भाँति दोनों तत्त्व वर्तमान हैं—प्रखर बुद्धिवाद और कोमल मानवीय तत्त्व। पर कहीं-कहीं उनकी उक्तियाँ अतिशय मार्मिक हुई हैं।

आशय यह है कि महादेवीजी की काव्य-कला सामान्य श्रेणी की नहीं है पर उसमें कतिपय दोष विद्यमान हैं। वह काव्य की बुद्धि ही नहीं सम्मान के सहारे नष्ट हो जाती है और अपनी समीक्षा को जो शास्त्र-सम्मत नहीं स्वतन्त्र चिन्तन है शास्त्रान्तर पराजय देनी पड़ती है। अतः कविता तो गहन ही हो सकती है पर विवेचन अंततः असंगत जान पड़ता है। भावमय बुद्धि और विवेकमय हृदय सामान्य कथन के रूप में चाहे ठीक जान पड़ें पर इनका सम्यक् निर्वाह लौकिक क्षेत्र में प्रायः कठिन ही होता है। महादेवीजी के तर्क इसी कारण एकांगी व्याख्या या अनूप दुर्दशा से संपृक्त जान पड़ते हैं। उन्हें व्यक्तिगत मानकर ही सन्तोष करना चाहिए। पुनः मानवता या अखंड मानव की धारणा के वे कदाचित् अधिक निकट हैं। महादेवीजी की काव्य-समीक्षा और गीति रचना का ऐतिहासिक महत्त्व है। उनके विचारों को निर्भ्रान्त या पूर्ण सत्य मान लेने की कर्म

1 Abstract

आवश्यकता नहीं है, पर वे इतने व्यापक हैं कि मतभेद की सम्भावना की एक सीमा तक विमुक्त हैं। अवश्य ही वह रहस्यात्मक गीति-काव्य, छायावादी सौन्दर्य-सृष्टि और तद्युगीन साहित्य-चिन्तन उपस्थित करने में विशेषतः कृतकार्य हुई हैं। वे अपने युग की श्रेष्ठ और प्रतिनिधि कवि हैं। उनके चिन्तन का उस युग की विचारधारा से समीपी सम्बन्ध है। उन्होंने न केवल साहित्य लिखा है, पर मैं समझता हूँ कि उन्होंने उसे जिया भी है। वह एक व्यक्ति नहीं, एक कवि नहीं, एक युग हैं।

महादेवीजी की साहित्य तथा कला-सम्बन्धी विचारणा का आधार निश्चय ही आदर्शवादी कोटि का है। उनका आत्मवादी दृष्टिकोण उनके समस्त रचना-कार्य में परिव्याप्त है। यह रचना-कार्य न एकान्ततः बौद्धिक है, न पूर्णतः रागात्मक। मैं समझता हूँ कि विचारों के क्षेत्र में वह रागात्मक हैं और कविता के क्षेत्र में वह चिन्तक। मानवीय पूर्णता के लिए उन्हें हार्दिकता और बौद्धिकता का सामंजस्य अनिवार्य जान पड़ता है। उनके काव्य और समीक्षात्मक निबन्धों की यह सीमा हमें स्वीकार कर लेनी चाहिए। यह भी कह सकेंगे कि कवि और विवेचक के रूप में उनका चिन्तक व्यक्तित्व ही प्रकट हुआ है। शुद्ध बौद्धिकता उनमें कम ही है, अन्यथा उनकी रचना में शास्त्रीयता अधिक होती और प्रकृत रागात्मकता की उनमें न्यूनता है, अन्यथा वे स्वच्छन्द कवयित्री अधिक होतीं। उनका गद्य कवित्वपूर्ण है और काव्य सचेत कलाकारिता और बौद्धिक निष्ठा से आपूर्ण। अवश्य ही महादेवीजी की पूर्णत्व की यह कल्पना वैयक्तिक है और बहुत-कुछ निर्विशेष भी। मैं समझता हूँ कि उसे सन्तों के स्वानुभूत दर्शन का नव्य निदर्शन नहीं कहा जा सकता। वहाँ स्वानुभूति का स्वरूप विश्वास और निष्ठा है, पर महादेवीजी के यहाँ वह अतिरंजित है और बौद्धिक निरूपणों से संपृक्त। अतएव उन्हें चिन्तनशील कवि और भावुक समीक्षक समझना चाहिए। अनुभूति का आधार, कल्पना का वैभव अथवा विचारों का प्रकाश उन्हें अभीष्ट अवश्य है, पर मुख्य तो उनके चिन्तनशील कलाकार की उपर्युक्त पूर्णत्व-कल्पना ही है।

३

साहित्य और साहित्यकार एवं काव्य तथा कला-सम्बन्धी अपने विचारों में महादेवीजी ने सर्वत्र उत्कर्ष-विधायिनी विचारधारा का परिचय दिया है। साहित्य सृजन व्यक्तिगत रुचि मात्र न होकर महत्त्वपूर्ण सामाजिक कर्म है” कहकर महादेवीजी साहित्य को सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान करती हैं तथा उसे बहुमुखी दायित्व देने वाला रागात्मक कर्म भी मानती हैं। वह समझती हैं कि साहित्य व्यक्ति के लिए ही नहीं, समष्टि के लिए भी मूलतः निर्मित है, जो सृजन की किसी विराट् ऋतु की परिधि में चलने वाली एक जीवन-ऋतु की ही संज्ञा पा सकता है। मैं कहूँगा कि इस कसौटी पर उनका आत्मनिवेदनात्मक गीतिकाव्य किसी बड़ी सिद्धि को नहीं प्राप्त कर सकेगा। उन्होंने काव्य को चाहे ऋतु समझा हो, पर वह किसी महत्त्वपूर्ण सामाजिक दायित्व को चरितार्थता नहीं देता। अवश्य ही उनका नारीत्व बोध सर्वत्र विद्यमान है।

काव्य को महादेवीजी सर्वोच्च कला स्वीकार करती हैं। सत्य को उसका साध्य तथा सौन्दर्य को उसका साधन भी वह मानती हैं। उन्होंने सामाजिक दृष्टिकोण को अपेक्षाकृत बहुत बाद में ग्रहण किया है, पर परवर्ती निबन्धों में तद्-विषयक उल्लेख मिलते हैं।

आरम्भ में वह मानवतावाद के सन्निकट थीं इसीलिए यह कह सकीं कि "कविता सबसे बड़ा परिग्रह है क्योंकि वह विश्व मात्र के प्रति स्नेह की स्वीकृति है। उनके ऐसे कथनों में अर्थवाद ही समझना चाहिए, क्योंकि उनका सम्पूर्ण कवि-व्यक्तित्व सूक्ष्म भाव चेतना से गठित है और उनके काव्य में व्यक्त जीवन के संकेत प्रायः विरल हैं। उन्होंने सत्य के सम्धान-दीप लिये हैं और प्राकृतिक या लौकिक सौंदर्य को मात्र माध्यम के रूप में स्वीकार किया है। माध्यम का भी महत्त्व है पर वह साध्य का समकक्ष तत्त्व नहीं है। इसी कारण उन्हें काव्य-कला को हृदय तथा मस्तिष्क का सन्धि-पत्र कहना पड़ा। उनकी दृष्टि में सत्य मुक्त है, पर अनुभूति मधुर जो सत्य को आनन्द से स्पंदित कर देती है। सम्भवतः अनुभूति माध्यम और सत्य तीनों को इस प्रकार बाँटा नहीं जा सकता। अनुभूति मधुर क्यों है माध्यम सुन्दर क्यों है और लक्ष्य सत्य क्यों है तथा इन तीनों में क्या सम्बन्ध है यह जानने के लिए एक ही भाव प्रक्रिया को समझना होगा। कदाचित् महादेवीजी के काव्य में दर्शन को अनुभूति पर आरोपित करते हुए उसे व्यापक सौन्दर्य में लक्षित करने का उपक्रम हुआ है। इसलिए जीव जगत् और परम तत्त्व का पृथक्करण कर लिया गया है। अवश्य ही इस व्याज से उनका तत्त्वज्ञान उद्भ्रान्त हो गया है। वह समझती हैं कि युग प्रवर्तक साहित्यकार तब पैदा होता है जब भावना ज्ञान और कर्म एक सम पर मिलते हैं। इस प्रकार के सुसंगठित मानसिक व्यक्तित्व की धारणा उत्कृष्ट है और कदाचित् ही तुलसीदास और रवीन्द्रनाथ भी इस समय की भूमिका पर कदाचित् पूर्णतः प्रतिष्ठित समझे जा सकें।

महादेवीजी जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति के रूप में काव्य-कला को महत्त्वपूर्ण समझती हैं। उनका कथन है कि कलाकार का लक्ष्य जीवन की कुरूपता तथा सौन्दर्य दुर्बलता तथा शक्ति पूर्णता और अपूर्णता सबकी मार्मस्पर्शी रागात्मक अभिव्यक्ति है और उसकी चरम सफलता जीवन तथा विश्व में छिपे हुए सत्य को सब ओर से स्पर्श कर लेने में निहित है। वे पार्थिव जगत् और अंतर्जगत् दोनों का समान महत्त्व मानती हैं क्योंकि बाह्य जीवन की सीमा में वामन-जैसा लगने वाला सत्य भी हमारे अंतर्जगत् की असीमता में पड़ने बढ़ने विराट् हो सकता है। अस्तु महादेवीजी काव्य-कला को सत्य की ही अभिव्यक्ति समझती हैं। पर सत्य बुद्धि और भावना के दो अश्रुपूर्तों से घिरा हुआ है। इसी कारण उन्हें 'काव्य-कला का सत्य जीवन की परिधि में सौन्दर्य के माध्यम द्वारा व्यक्त अखंड सत्य' ज्ञात होता है। इस दृष्टि से वह अपनी स्थापनाओं का निर्वाह करती हैं कि उनके काव्य में पार्थिव सौन्दर्य के माध्यम से अगम्य सत्य की प्रतीति ध्वनित हुई है। कवि का वैयक्तिक सत्य यही है जिसे काव्य-कला का सत्य भी अनिवार्यतः कहा जायगा। पर उनके काव्य में सत्य को स्पर्श करने की चेष्टा ही है उसे सब ओर से घर लेने का प्रयास नहीं। यहाँ सत्य ही पूज्य है अनुभूति नहीं और उसकी उपलब्धि के साधन भी नहीं। इसी कारण महादेवीजी के गीत परिपूर्ण प्राणों की वाणी नहीं हैं और यदि हैं तो अपवाद ही हैं। यहाँ जीवन की पूर्णता की नहीं पूर्ण आनन्द की भी कामना नहीं की गई। सत्य का बोध और प्राप्ति उसके प्रति अनवरत आकर्षण और अपना सीमित अभाव जो आनन्द का व्यवधान होता है सम्भवतः महादेवीजी के गीतों की व्याख्या है। निश्चय ही यहाँ जीवन की पूर्णता

नहीं है, वैविध्य में तात्विक एकता की अनुभूति नहीं है, यहाँ केवल सत्य के पूर्णत्व में विश्वास है और पार्थिव सौन्दर्य में उसका आभास पाने वाली अपनी अनुभूति पर नारी-सुलभ अभिमान है।

महादेवीजी ने काव्य-कला को प्रतिभा और अनुकूल मानसिक गठन का परिणाम माना है। केवल अभ्यास को वह अनुपयोगी समझती हैं। साथ ही व लोक-हृदय की पहचान पर भी बल देती हैं। उनका काव्य उत्कृष्ट प्रतिभा और उपयुक्त मानसिक गठन का परिणाम अवश्य है, पर उनकी कला में परिश्रम-साध्य अलंकृति मौजूद है। उनकी लोक-हृदय की पहचान अत्यन्त परिमित है। यही कारण है कि उनकी कला अतिशय व्यक्तिनिष्ठ है। वह लोक-सामान्य कविता की श्रेणी में नहीं आ पाती। वह एक विशेष मानसिक धरातल पर काव्य-सृष्टि करती है अतएव उसका यथावत् आस्वादन भी उसी प्रकार की मनःस्थिति में सम्भव हो पाता है। उनकी कला सूक्ष्म और भास्वर है तथा उनकी चिन्तन-भूमि का आधार विशिष्ट और अपार्थिव है। उन्होंने श्रेष्ठ और शाश्वत काव्य के लक्षण स्पष्ट करते हुए अपने काव्य की सीमाओं या विशेषताओं का स्वभावतः कहीं निर्देश नहीं किया।

सत्य की साहित्यिक अभिव्यक्ति का या काव्य-कला का क्या प्रयोजन है? महादेवीजी के अनुसार कविता हमारे व्यष्टि-सीमित जीवन को समष्टि-व्यापक जीवन तक फैलाने के लिए ही व्यापक सत्य को अपनी परिधि में बाँधती है, यह कथन एक ओर आध्यात्मिक काव्य की स्थिति स्पष्ट करता है तो दूसरी ओर व्यापक करुणा-भाव अथवा सहृदयता की आवश्यकता पर बल देता है। महादेवीजी की कविता निश्चय ही प्रथम कोटि की वस्तु है, दूसरी कोटि की संस्थिति उनके संस्मरणों में है, गीतों में नहीं। वह कवि के लिए यह आवश्यक समझती हैं कि 'वह सिद्धान्तों का पाथेय छोड़कर अपनी सम्पूर्ण संवेदन-शक्ति के साथ जीवन में घुल मिल जाय'। इस कथन की चरितार्थता महादेवीजी के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में देखी जा सकती है, उनकी कविता में नहीं। और उनकी दृष्टि में मानव-जीवन की यह व्याख्या है कि वह जड़ और चेतन का ऐसा स्थायी सन्धि-पत्र है, जिससे पार्थिवता से अलक्षित चेतना ही को विशेषाधिकार प्राप्त है। शरीर की गति चेतना के कारण है और चेतना का स्पन्दन शरीर के कारण। उनका चिन्तन सर्वत्र एकरस है जिसकी गति आन्तरिक है, बहिर्मुख नहीं।

काव्य-कला-विषयक इस विवेचन के अंतर्गत यह निर्देश करना होगा कि वह तात्विक और समन्वयवादी भूमिका पर ही स्थिर रही हैं। निस्सन्देह उन्होंने अपना विशेष मार्ग इसी के अन्तर्गत निर्मित किया है। बुद्धि और भावना, स्वप्न और यथार्थ, वस्तु और अध्यात्म, उपयोगिता और संस्कारिता आदि के मध्य एक व्यापक साम्य की स्थिति का उल्लेख किया गया है। वह ऐसा उदात्त दृष्टिपथ स्थिर करती हैं कि जिसके अन्तर्गत कहीं वैषम्य, विरोध या वैपरीत्य नहीं दिखाई पड़ता। वहाँ सब प्रकार के अन्तर तिरोहित हो जाते हैं। यह विचार-सरणी अतिशय भावमयी और आदर्शनिष्ठ है। महादेवीजी के विचारों का खण्डन तभी सम्भव है, जब उनसे इस भावात्मक आदर्शवाद अथवा सर्वातिशायी अध्यात्मदर्शन का विरोध किया जाय। मैं समझता हूँ कि महादेवीजी के दृष्टिकोण में भी

सार है, पर उसकी अतिव्याप्ति ही उसका दोष है। उनकी दृष्टि में सत्य काव्य का साध्य है और सौन्दर्य उसका साधन है। सत्य को वह उसकी एकता में असीम मानती हैं और सौन्दर्य को उसकी अनेकता में असीम। स्पष्टतः यह आत्मवादी धारणा है पर इसमें जगत् का निषेध नहीं है। यह समन्वयशील दृष्टि कही जा सकेगी पर इसमें भी साधन की अपेक्षा साध्य की प्रमुखता विद्यमान है। अतएव महादेवीजी अपने काव्य में प्रकृति अथवा दृश्य जगत् को मात्र माध्यम बना पाई हैं और यही उनके काव्य की प्रतीक योजना, अलंकृति या सांकेतिक भाव-व्यंजना का कारण है। यहीं वह उस स्थिति को अपना लेती हैं जहाँ वह मानववाद की सीमाओं को अतिक्रमित कर जाती हैं।

महादेवीजी के लिए आस्था वह भावभूमि है जो जीवन की सहजात चेतना के विकास क्रम में ही निर्मित होती है। उसे वह व्यक्ति के द्वारा समष्टि की स्वीकृति ही नहीं सत्य का रागात्मक स्वरूप भी मानती हैं। अतएव व्यक्तिगत आस्था वह व्यापक जीवन सत्य से सम्बद्ध कर लेती हैं जिसका सामाजिक विकास अथवा जगत् की परिवर्तनशीलता से कोई विरोध नहीं है। वह समसामयिक और शाश्वत का है और 'होना चाहिए' के रूप में निर्देशन करती है। उनकी दृष्टि में इन दोनों के बीच कोई तात्त्विक विभेद नहीं है क्योंकि वह इन्हें साधन और व्यापक सत्य समझती हैं। इसीलिए आज के साहित्यकार की आस्था के सम्बन्ध में उनका कथन है कि यही उसे समसामयिक परिस्थितियों से संघर्ष करके उन्हें भव्योन्मुख बना लेने की शक्ति दे सकती है। महादेवीजी आस्थावान रचनाकार हैं यह असंदिग्ध है पर उनकी आस्था का स्वरूप भावनामय और आदर्शवादी है। काव्य के अन्तर्गत वह अपने इसी दृढ़ विश्वास के कारण अपार्थिव सत्ता के प्रति विरह निवेदन कर सकी हैं पर यथार्थवादियों के दृष्टिकोण से आस्था का प्रश्न इस प्रकार हल नहीं हो पाता। परिस्थितियों की जटिलता के प्रति जीवनास्था को अक्षिप्त रखने का काम आत्मवादी के लिए जितना सहज है उतना यथार्थवादी के लिए नहीं। आस्था को उन्होंने सृजन की दृष्टि से व्यक्तिगत पर प्रसार की दृष्टि से समष्टिगत माना है। यह तभी सम्भव है जब कला का उस सीमा तक साधारणीकरण होता चले कि जिस सीमा तक जीवन-दृष्टि का विवेक थोड़ा भी बाधक न बन पाए। अवश्य ही यहाँ स्थायी या श्रेष्ठ कला-कृतियों की बात कही गई है। महादेवीजी हमारे वैज्ञानिक युग की समस्या को 'निष्ठा' की दूरी समझती हैं। यहीं वह मानवता शिवता तथा जीवनास्था की आवश्यकता अनुभव कर सकी हैं क्योंकि हमारा समाज 'न जीवन के व्यापक नियम से प्रतिबद्ध है और न अपने ऐकान्त संस्कार से स्वयंभू'। उन्हें आज के भारत का मनोजगत् उथल-पुथल दिखाई पड़ता है। यह प्रसन्नता की बात है कि महादेवीजी की सामाजिक चेतना प्रसिद्ध रूप से प्रकट हो पाई। हमारे नये जीवन ने उनके संस्कारों पर आघात किया है और वह उपचार के लिए अपनी जीवन-दृष्टि का प्रसार चाहती हैं। यह प्रवृत्ति उनकी रचना में अभी अभी उभरी है पर खेद है कि वह अपने कवि धर्म से अब तक प्रायः विरत भी हो गई हैं। 'बंगाल का काल' और 'हिमालय' शीर्षक काव्य-संकलनों के सम्पादन के मूल में यही राष्ट्र-बद्ध युग-चेतना सक्रिय हुई है।

८

नई काव्य-धारा के विषय में महादेवीजी की धारणा है कि उसमें मर्मस्पर्शिता का अभाव है जो काव्य का दोष है नवीनता का अनिवार्य परिणाम नहीं। काव्य में सत्य का रागात्मक रूप ही अपेक्षित है तार्किक नहीं। यह आवश्यक नहीं है कि उसकी कोई प्रत्यक्ष उपयोगिता भी हो। महादेवीजी समझती हैं कि यथार्थ का काव्यात्मक चित्रण सहज कवि-कर्म नहीं है। उन्होंने बौद्धिक निरूपणों द्वारा कुछ प्रचलित सिद्धान्तों का प्रतिपादन और आशीर्वाद की विरोध भावना का व्यक्तीकरण करते हुए क्रमशः प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की अकाव्यात्मक स्थिति स्पष्ट की है। गीति-परम्परा में उन्हें कवि के अहंकार की अनुभूति नहीं कहीं दिखाई पड़ी है। उन्होंने अश्लीलता के प्रश्न का एक विकृति रूप में देखा है और ऐसे साहित्य को पतनोन्मुख माना है। यह विकृति एक ओर समष्टिगत है और दूसरी ओर मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तवाद का परिणाम। यथार्थवाद प्रकृति और विकृति दोनों को ग्रहण कर सकता है पर उसने विकृति का ही संग्रह अपना रखा है। यह उसका विकास-विरोधी स्वरूप है। नारी-विषयक दृष्टिकोण की विवेचना करते हुए उन्होंने रहस्यवादी छायावादी और आदर्शवादी धारणा से यथार्थवादी विचारणा का पार्थक्य स्पष्ट किया है। महादेवीजी का यह निरूपण अतिशय तलस्पर्शी है और इस मान्यता पर आधारित कि 'कला और सौन्दर्य जीवन के परिष्करण और उससे उत्पन्न सामंजस्य के पर्याय हैं। 'कला चिरन्तन है' का अभिप्राय है कि वह अनागत है या ऐतिहासिक स्थिति रखती है 'सौन्दर्य सनातन है' का अर्थ है कि वह अस्तित्ववान् है नया उत्पादन नहीं तथा 'सत्य शाश्वत है' का आशय है कि वह जीवन चेतना की अमरता है उसका दिक्काल-परिबद्ध रूप नहीं। महादेवीजी इसी व्यापक दर्शन के आधार पर समकालिक साहित्य की प्रवृत्तियों का पर्यवेक्षण करती हैं पर्यवेक्षण ही नहीं सम्पूर्ण विश्वास के साथ उनकी सीमाओं का निर्देश तथा विकृतियों का खण्डन करती हैं। यहीं उन्होंने प्रसंगतः बुद्धिजीवियों की विवशताएँ दिखाई हैं जिनमें विद्यार्थी और शिक्षक वर्ग मुख्य हैं। उन्होंने नव कलाकारों और आलोचकों की स्थिति का परीक्षण भी किया है। 'मजदूर-कला' तथा 'राज कला' आदि से सम्बन्धित सम्मेलन के विचारों की व्यर्थता भी उन्होंने सिद्ध की है। अंततः उनका निर्देश है कि इस युग का कवि हृदयवादी हो या बुद्धिवादी स्वप्न-द्रष्टा हो या यथार्थ का चित्रकार अध्यात्म से बँधा हो या भौतिकता का अनुगत उसके निकट यही मार्ग शेष है कि वह अध्ययन में मिली चित्रशाला से बाहर आकर, वाद सिद्धान्तों का पाथेय छोड़कर, अपनी सम्पूर्ण संवेदना शक्ति के साथ जीवन में घुल-मिल जाय। यहाँ आलोचक महादेवीजी को कला का श्रेय रूप कल्याणकारी पक्ष या शिवत्व का प्रतिपादन करने की आवश्यकता अनुभव हुई है। मैं कहूँगा कि यह सब नई काव्य-रचना के सम्बन्ध में कहा गया है। कवि महादेवी को इन समस्याओं से सामना नहीं पड़ा। निश्चय ही यह विवेचन उनके छायावादी काव्य-चिन्तन पर आधारित है। यहाँ उनकी सैद्धान्तिक मान्यताएँ प्रायः वे ही हैं पर रहस्यवादी विवरणों के स्थान पर यहाँ प्रत्यक्ष जगत् और व्यक्त जीवन ही नहीं मानवीय सत्य और सामाजिक कल्याण का अन्तर्भाव भी कर लिया गया है। अन्ततः कला सौन्दर्य ही है या सौन्दर्य की संवेदना है,

समन्वित करती हुई आदर्श और यथार्थ भाव और वस्तु या आत्म दर्शन और पदार्थ विज्ञान के एकीकरण पर बल देती हैं। महादेवीजी यहाँ स्वच्छन्द विचारक हैं किसी विशेष दार्शनिक पद्धति की अनुगामी नहीं। इसीलिए उन्हें पूर्णत्व का उद्भावक अथवा संतुलन का आविष्कारक समझना चाहिए। उनकी विचारणा न एकांगी है न सत्य को खंडित करने की अभ्यासी। अतएव यथार्थ की सापेक्ष सीमाएँ अथवा खंडत्व और आदर्श का निरपेक्ष सत्य या अखंडत्व अन्योन्याश्रित समझे गए हैं। यह सम्बन्ध न सतही वस्तु है न उसकी क्षणिक सत्ता है। निश्चय ही ये उद्गार आदर्शवादी विचारक के हैं यथार्थवादी कलाकार के नहीं। इसी कारण यह निष्कर्ष कि 'आदर्श' को संकीर्ण अर्थ में न ग्रहण करके यदि हम उसे जीवन की एक व्यापक और सामञ्जस्यपूर्ण स्थिति की भावना-मात्र मान लें तो वह हमारे एकांगी बुद्धिवाद और बिखरे यथार्थ को संतुलन दे सकता है — अनिवार्य ज्ञात होता है। यहाँ 'सामञ्जस्य' और 'संतुलन' शब्द विचारणीय हैं। इन्हीं के माध्यम से आदर्शवादी यथार्थ को स्वीकार कर पाता है। यही परिपूर्णता की कल्पना तो है ही इसे व्यावहारिक समझौता भी कहा जा सकता है। छायावादी काव्य-चिन्तन में अन्यतम सामाजिक या यथार्थवादी तत्त्वों का आकलन वस्तुतः उसके ही मन्तव्यों को वस्तुगत आधार देना है और सापेक्षिक पूर्णता के सिद्धान्त को चरितार्थ करना है। कतिपय आलोचकों ने छायावादी समीक्षा-पद्धति को वस्तुनिष्ठ आधार और सामाजिक आशय देने की चेष्टा की है। कहना न होगा कि महादेवीजी के काव्य में इस प्रकार के संतुलित सामंजस्य का कोई प्रयास नहीं दिखाई पड़ा।

उपयोग की कला और सौन्दर्य की कला का उल्लेख करते हुए महादेवीजी ने उपयोगितावाद को सारहीन काव्य-सिद्धान्त कहा है। उनका मन्तव्य है कि जब तक हमारे सूक्ष्म अंतर्जगत् का बाह्य जीवन में पग-पग पर उपयोग होता रहेगा तब तक कला का उपयोग-सम्बन्धी विचार विशेष महत्त्व नहीं रखता। कला न स्थूल में निर्वासित हो सकती है न सूक्ष्म में क्योंकि उसकी भी जीवन की भाँति समन्वयात्मक स्थिति है। ये उपयोग की निम्नोन्नत भूमियों को स्पष्ट करती हुई द्विवेदीयुगीन उपयोगितावाद तथा यथार्थवादी उपयोगिता के सिद्धान्त की सीमाओं का निर्देश करती हैं। वह कलाओं को उपयोग की उस भूमि पर स्थायी रूप से स्थापित करती हैं जहाँ उपयोग सामान्य रह गया। वस्तुतः यह उपयोग नहीं आस्वाद्य है आस्था उपयोग नहीं सौन्दर्य की [illegible] है। महादेवीजी कला की उपयोगिता का जो अभिप्राय ग्रहण करती हैं वह उपयोग के गृहीत अर्थ को अपरिचित भूमिका देता है। यहाँ उपयोग मनोरमता है और मर्म-संस्कार है। यह विधि-निषेध नहीं है बल्कि अन्तर्जगत् की स्वीकृति है जिसके कारण जीवन की गति ऊर्ध्वगामी होती है। महादेवीजी ने कलावादी विचारणा को जीवन की संगति प्रदान की है पर वह उस आदर्शवादी या यथार्थवादी की स्थूल उपयोगिता का पर्याय नहीं मान सकी है।

उनके छायावादी काव्य-चिन्तन के अनुसार कला-मात्र ही जीवन की सबसे बड़ी उपयोगिता बन गया है। वस्तुतः यह अन्तःकरण का परिष्कार ही है जो सत्य के अनुशीलन और सौन्दर्य के साक्षात्कार का परिणाम है। आशय स्पष्ट है कि कला कला है जीवन का चरम मूल्य है इसे किसी आवश्यकता की माप या उपयोगिता की माप के

था अब व्यष्टिगत सत्य की समष्टिगत परीक्षा बन गई है। महादेवीजी के काव्य चिन्तन में सामाजिक तत्त्वों का प्रवेश सम्भव हुआ है और वह अधिक परिपूर्ण दृष्टिकोण उपस्थित कर सकी हैं। उनके काव्य की एकान्तिकता यहाँ आकर लोकाभिमुख दिखाई पड़ी। यह बात अलग है कि उनके विचार इतने व्यापक हों कि वे परमात्मा की भाँति पकड़ के बाहर रहें पर यहाँ उन्होंने स्पष्टतापूर्वक अपनी धारणा को प्रकट किया है।

समस्याओं के प्रसंग में वह एक सारगर्भित बात कह गई हैं जो इस प्रकार है— छायावाद एक प्रकार से भावातकुलशील बालक रहा जिसे सामाजिकता का अधिकार ही न मिल सका। फलतः उसने आकाश तारे, फूल निर्झर आदि से आत्मीयता का सम्बन्ध जोड़ा और उसी सम्बन्ध को अपना परिचय बनाकर मनुष्य के हृदय तक पहुँचने का प्रयत्न किया। आज का यथार्थवाद बुद्धि और साम्यवाद का ऐसा पुत्र है जिसके आविर्भाव के साथ ही आलोचक जन्म कुण्डली बना बनाकर उसके चक्रवर्तित्व की घोषणा में व्यस्त हो गए। इस अवतरण के दो पहलू हैं। छायावाद विषयक निर्देश केवल महादेवीजी के काव्य पर अक्षरशः घटित हो पाता है अन्य किसी छायावादी कवि पर नहीं। प्रसाद निराला और पंत की स्वच्छन्द सौन्दर्यानुभूतियाँ सामाजिक चेतना से रिक्त नहीं हैं। प्रकृति और कल्पना का विनियोग अन्य कवियों के काव्य में अंशतः हुआ है और वह भी सौन्दर्य के उपादान या विधान के हेतु। इसमें सत्य यही है कि छायावादी काव्य में अतीन्द्रियता के परमाणु अपेक्षया अधिक हैं। दूसरा पक्ष यथार्थवाद की खामियों को लक्षित करता है। यह मन्तव्य ठीक उसी प्रकार की मन स्थिति को विज्ञापित करता है जैसी मन स्थिति नये प्रभावों को स्वीकार न करने वाले पुराने संस्कारों को ग्रहण न करने वालों के प्रति प्रकट करते हैं। मैं यह नहीं कहूँगा कि महादेवीजी उत्तर छायावादी काव्य के प्रति असहृदय हैं पर यह तथ्य है कि वह उसे जीवन विकास की दृष्टि से विघटनकारी वस्तु मानती हैं। वह सूक्ष्म के एक अतिवाद पर स्थित थीं यह स्थूल का दूसरा अतिवाद है। सम्भवतः अध्यात्म और यथार्थ या सूक्ष्म का समन्वित संतुलन ही मानवीय पूर्णता का लक्षण है। महादेवीजी भी सामाजिकता की बात कहती हुई इसी आधार को ग्रहण करने के लिए सचेष्ट हैं। उनकी अपनी पूर्णत्व की धारणा बहुत-कुछ काल्पनिक और अपार्थिव ही रही है। यह उसी का नया विकास है यथा— 'यदि पहले मिली सौन्दर्य दृष्टि और आज की सौन्दर्य-सृष्टि का समन्वय कर सकें पिछली सक्रिय भावना से बुद्धिवाद की शुष्कता को स्निग्ध बना सकें और पिछली सूक्ष्म चेतना की व्यापक मानवता में प्राण-प्रतिष्ठा कर सकें तो जीवन का सामंजस्यपूर्ण चित्र दे सकेंगे।

महादेवीजी ने आदर्श और यथार्थ-विषयक अपने चिन्तन को भी प्रकट किया है। वह इन्हें प्राण और शरीर की तरह समन्वित करती हुई कहती हैं कि 'वह यथार्थ जिसके पास आदर्श का स्पन्दन नहीं केवल शव-मात्र है और वह आदर्श जिसके पास यथार्थ का शरीर नहीं प्रेत-मात्र है। अतएव आदर्श और यथार्थ एक-दूसरे के पूरक रहकर ही जीवन को पूर्णता दे सकते हैं अतः काव्य उन्हें विरोधियों की भूमिका देकर जीवन में एक नई विषमता उत्पन्न करता है सामंजस्य नहीं। स्पष्टतः महादेवीजी यहाँ छायावादी समीक्षक रहस्यवादी कवि मानववादी निबन्धकार प्रभृति अपने रूपों को

अनुसार न गढ़ा जा सकता है, न उसकी उपयोगितावादी परिभाषा तैयार हो सकती है। इसी कारण उनकी दृष्टि में जीवन में कविता का वही महत्त्व है जो चारों ओर भित्तियों से घिरे कक्ष के वायुमण्डल को अनायास ही बाहर के उन्मुक्त वायुमण्डल से मिला देने वाले वातायन का मिला है। वह कविता और कला को छायावादी सौष्ठव से सम्पन्न और आदर्शवादी निष्ठा से सम्पन्न बताती हैं। उन्होंने काव्य-कला को जीवन का व्यापक अभिप्रेत ही नहीं दिया, उसे स्वानुभूति की गरिमा और सौन्दर्य-बोध का वैभव भी प्रदान किया।

महादेवीजी की काव्य-सृष्टि और उनके काव्य चिन्तन में यही बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव विद्यमान है। उन्होंने 'सप्तपर्णा' और 'हिमालय' की सुगठित और सुचिन्तित भूमिकाओं के अन्तर्गत भारतीय जीवन के रागात्मक विकास के अमिट चरण चिह्नों का विवेचन किया है। साहित्य हृदय का परिष्कार करता है और जीवन के सांस्कृतिक विकास में या प्रत्यक्ष किसी भी सांस्कृतिक मूल्य के वस्तुगत उपयोग की माँग का महत्त्व ही क्या है। वह महत् आकांक्षा का विषय मात्र है। महादेवीजी काव्य के सांस्कृतिक मूल्य को ही स्वीकार करती हैं, वस्तुवादी उपयोगिता के सिद्धान्त को नहीं।

५

अब हम गीतिकाव्य, छायावाद और रहस्यवाद विषयक मान्यताओं की परीक्षा करनी है। महादेवीजी गीत को सुख-दुःख की भावावेशमयी अवस्था विशेष की अभिव्यक्ति मानती हैं और उस चित्र को चुने शब्दों में स्वर-साधना का उपयुक्त चित्रण कहती हैं। गीत की मर्मस्पर्शिता का कारण है वैयक्तिक सुख-दुःख की व्यंजना। आशय यह है कि गीत का विषय सुख-दुःखात्मक अनुभूति ही है। वह भावावेशमयी अवस्था का लिया हुआ है और उसकी सीमा व्यक्ति विशेष है। वेदना उसकी विलक्षण विशेषता है जो उपयुक्त स्वर साधना ही नहीं है जिसे चुने शब्द-समूह का विशिष्ट विन्यास भी है। यानी महादेवीजी वैयक्तिक अनुभूति को उपयुक्त शब्द-रचना और सार्थक स्वर-साधना में समन्वित करती हैं। उनकी गीतिकाव्य की यह परिभाषा संक्षिप्त और सार्थक है कि साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके। निश्चय ही उनका गीतिकाव्य [illegible] है, विरहानुभूति से अनुप्राणित है, अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय है पर वह तीव्र या भावावेशपूर्ण भी है, यह नहीं कहा जा सकता।

यह आवेगमयी गीतिकाव्य ही नहीं। वैचारिक गाम्भीर्य और गहराई का आत्म संयम वैयक्तिक भाव धारा का ऐसा बाँध है जो उसके प्रवाह को उन्मुक्त नहीं होने देता। [illegible] की प्रारम्भिक रचनाओं में कभी कहीं आवेग का स्वर मुखर होगा? पर प्रतीक-व्यंजना उसके स्वाभाविक विकास में बाधक सिद्ध होती है। [illegible] गीतों के भीतर भावों की धारा [illegible] होती है। उसमें स्थिर, गम्भीर तथा मन्थर गति [illegible] होती है। [illegible] निबन्ध [illegible] कि वे सांस्कृतिक गीत हैं [illegible] पर नहीं। [illegible] है अवश्य पर वह सार्वभौम चिन्तना नहीं है। यही मुख्य वस्तु है कवि का भावाधार [illegible] मूल्य औपचारिक है। यह प्रबुद्ध कला-सृष्टि भी है, [illegible] अर्थ और ध्वनि में भाव [illegible] और

सामंजस्य विद्यमान है।

गीतिकाव्य में तार्किक ज्ञान नहीं सहज ज्ञान की अवस्थिति को मथित करती हुई महादेवीजी कहती हैं कि तर्क से परे इन्द्रियों की सहायता के बिना भी हमारी आत्मा अनायास ही जिस सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लेती है उसकी अभिव्यक्ति में सम स्वर सामंजस्य का विशेष महत्त्व रहा है। यहाँ वह शुष्क ज्ञान से पृथक सहज बोध का निर्देश करती है। आत्मा को मन या अन्तर्जगत् मान लेने से इस वक्तव्य की बोधगम्यता बढ़ जायगी। भाव-स्थिति स्वतः अमूर्त व्यापार है पर उसे सत्य का संवेद्य या स्वाभाविक ज्ञान बौद्धिक आधार भी देता है। यह सहज ज्ञान एक ओर भावमय या सरस बना रहता है और दूसरी ओर वाणी का मात्र प्रलाप मात्र बनने नहीं देता। अतः गीतिकाव्य मानव-संस्कृति का उन्नायक हो जाता है। उसकी उच्चतर साहित्यिक स्थिति का यही रहस्य है। इसी कारण वह न आलाप मात्र है न प्रलाप मात्र। निश्चय ही महादेवीजी का गीतिकाव्य गम्भीर मनोदशा सुसंस्कृत व्यक्तित्व और समृद्ध तत्त्व-संकेतों तथा अर्थ-ध्वनियों का व्यक्तीकरण है।

उन्होंने साहित्यिक गीतों को लोकगीतों से भिन्न वस्तु अवश्य माना है पर दोनों के मूल में एक-सी प्रवृत्ति की अवस्थिति स्वीकार की है। गीत प्रायः मानवी सुख-दुःख के उद्गार हैं अतएव लोकगीत और साहित्यिक गीत में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है। दोनों की भाषा भाव और छन्दों के भीतर साम्य के सूत्र मौजूद हैं। साहित्यिक गीतों में चिन्तन कल्पना या रचना-सम्बन्धी समृद्धि और तज्जन्य सूक्ष्म व्यंजना-व्यापार सम्भव होता है पर लोकगीतों में मानवीय अनुभूतियाँ अपने सहज रूप में अभिव्यक्त होती हैं। महादेवीजी ने इन लोकगीतों का आकर्षण अनुभव किया है और कहा है कि 'मेरे गीत अध्यात्म के अमूर्त आकाश के नीचे लोक-गीतों की धरती पर पले हैं। महादेवीजी का गीतिकाव्य लोक-गीतों से कदाचित् समुचित प्रेरणा नहीं ले पाया। वह मात्र आकर्षण है, जिसका यहाँ उल्लेख हुआ है कोई सुनिश्चित प्रभाव नहीं।

वह रहस्य-गीतों के विषय में कहती हैं कि उनका 'मूलाधार भी आत्मानुभूत अखण्ड चेतन है। आत्मानुभूत ज्ञान ही गीतिकाव्य की प्रकृति में अन्तर्भुक्त हो पाता है। रहस्य गीतों के अन्तर्गत ज्ञान इतना प्रत्यक्ष नहीं हो पाता कि वह बुद्धि की परिधि में आ जाय और भाव इतना सूक्ष्म और अव्यक्त नहीं हो पाता कि वह हृदय की सीमा में न आ पाये। यहीं रहस्य और गीत के मूल तत्त्व एकान्वित होते हैं। "रहस्य-गीतों में आनन्द की अभिव्यक्ति के सहारे ही हम चित्त और सत् तक पहुँचते हैं। महादेवीजी ने न केवल ज्ञान और भाव को चिन्तन की भूमि पर एकत्र किया है, वरन् सौन्दर्य के माध्यम की बात भी कही है। वस्तुतः रहस्य-गीत भावात्मक परिपूर्णता के सोपान हैं। भावात्मक या आभ्यंतर पूर्णता का अभिप्राय यह है कि रहस्यानुभूति वस्तुतः एकान्तिक है लोक-संग्रही नहीं। निश्चय ही महादेवीजी के गीतों की भी यही विशेषता है। उनके काव्य की आध्यात्मिकता पृष्ठभूमि है अवश्य पर वह धार्मिक रूढ़ियों का नहीं दार्शनिक मनोवृत्ति का परिणाम है। यह दार्शनिक वृत्ति अन्ततः व्यक्तिगत चेतना है जिसे अध्ययन मनन और निदिध्यासन के अतिरिक्त बाह्य प्रभावों ने भी संगठित किया है।

६

महादेवीजी का चिन्तन चिरन्तनता और सनातनता तथा व्यापकता और पूर्णता को लिये हुए है अतएव प्रत्येक विषय अथवा कविता की धारा प्रवृत्ति या विधा के वस्तुगत वे इसी का सन्धान करती हैं। छायावाद को उन्होंने इसी व्यापक आधार पर निरूपित किया है। अवश्य ही उसे उदात्त पृष्ठभूमि दी जा सकी है। विचारकों ने छायावाद के सांस्कृतिक भाव-बोध का विवरण दिया है पर महादेवीजी ने उसे दार्शनिक चेतना का प्रसार ही माना है। वह समझती हैं कि छायावाद ने मूर्त्त और अमूर्त विश्व को समन्वित करके उसे पूर्णता प्रदान की है। वह छायावाद के आविर्भाव का कारण कविता के बन्धनों से मुक्त होने की प्रवृत्ति में खोजती हैं।

जिस स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति में उसका जन्म हुआ उसे कवयित्री ने न चिन्तन में न अपने काव्य में महत्त्वपूर्ण वस्तु माना है। कदाचित् वह उस प्रतिक्रिया का मूल तत्त्व के रूप में स्वीकार नहीं कर पाईं। इसका प्रमुख कारण यह भी है कि नारी की सामाजिक सीमाएँ तथा उसकी नैतिक मर्यादाएँ उसे इस प्रकार की स्वच्छन्दता का अवकाश ही नहीं देतीं। अतएव आत्मानुभूति की व्यंजना को मुख्य वस्तु मानती हुई वह स्वच्छन्द को 'स्वच्छन्द छन्द' में ही सीमित कर लेती हैं। व्यक्तिगत सुख-दुःख ही छायावाद के उत्स हैं जो अभिव्यक्ति के लिए आकुल रहे हैं। अतः छायावादी कविता स्वानुभूति प्रधान होने के कारण वैयक्तिक उल्लास-विषाद की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम बनी। वह इसका दूसरा प्रमुख तत्त्व 'प्रकृति की सौन्दर्य चेतना' को मानती हैं जिसके कारण अनेक रूपों में प्रकट एकरूपता महाप्राण बन जाती है। फलतः 'मनुष्य के अश्रु मेघ के जल-कण और पृथ्वी के ओस-बिन्दुओं का एक ही कारण एक ही मूल्य है।" यहीं सर्ववादी मान्यता स्पष्ट हुई है। यह छायावाद का मूल दर्शन नहीं है। प्रकृति पर चेतना का आरोप विशुद्ध दार्शनिक वस्तु है यह नहीं कहा जा सकता। प्रकृति की सचेतनता मानवीय भावारोप या मानवीकरण की आलंकारिक प्रवृत्ति का परिणाम भी है। उसे चेतनता का आभास देने वाला रूपक कहा जा सकता है। वस्तुतः प्रकृति अपने सौन्दर्य और मानव-सापेक्ष अस्तित्व के कारण छायावाद में महत्त्वपूर्ण स्थान पा सकी है। उसे परिव्याप्त चेतना का प्रतिबिम्ब मानने की प्रायः आवश्यकता नहीं पड़ी। महादेवीजी के काव्य में प्रकृति को सर्वत्र यही दार्शनिक आधार नहीं दिया गया। वह प्रतीक और अलंकरण भी है विश्व चेतना का व्यक्तीकरण ही नहीं।

महादेवीजी प्रकृति को अपने भावात्मक दृष्टिकोण के कारण कल्पनाशील सौन्दर्य में मंडित करती रही हैं। उनका वक्तव्य है कि छायावाद का कवि न प्रकृति के किसी रूप को लघु या निरपेक्ष मानता है न अपने जीवन को क्योंकि वे दोनों ही विराट् रूप-समष्टि में स्थिति रखते हैं और एक व्यापक जीवन में स्पन्दन पाते हैं।

प्रकृति जीवन का रूप-स्पन्दन है और जीवन प्रकृति का भावावतार। यह विचारणा नितान्त वैयक्तिक और काल्पनिक कही जायगी। सम्पूर्ण जगत् में एक ही सत्ता की व्याप्ति अनुभव करना जितना दार्शनिक अभिप्राय है उतना स्वानुभूत तत्त्व नहीं। छायावादी कविता में व्यष्टि और समष्टि का ऐसा एकीकरण सम्भव नहीं हुआ। हम उसका सत्य सा

आदर्श अवश्य कह सकते हैं जो उसकी कल्पनाशील प्रवृत्ति का संकेत करता है। अतएव महादेवीजी छायावाद को प्रकृति के बीच जीवन का उद्गीथ कहती हैं।

प्रकृति पर आधारित यह काव्य स्वभावतः कल्पनाओं की बहुरंगी और विविध रूपी सूक्ष्म रेखाओं से निर्मित हुआ। निश्चय ही महादेवीजी का काव्य कल्पनाशील है पर दार्शनिक निरूपणों के कारण वह स्वतंत्र वस्तु नहीं परोक्ष सत्य का अपरोक्ष माध्यम है। प्रकृत छायावादी अनुभूति प्रायः प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करती है पर महादेवीजी के लिए वह मात्र रहस्य का व्यक्तीकरण है।

महादेवीजी इस मत का विरोध करती हैं कि छायावाद संघर्षमय यथार्थ जीवन से पलायन है क्योंकि उसके निर्माण-युग में मध्यमवर्गीय चेतना का आभिजात्य मुखरित था जिसमें सामाजिक क्षोभ और सांस्कृतिक असन्तोष के तत्त्व वस्तुतः सम्मिलित नहीं हो पाए थे। छायावाद भौतिक अस्तित्व की समस्याओं को अन्तर्भुक्त नहीं करता। ये उस युग की अनिवार्यताएँ नहीं हैं। प्रसाद निराला और पंत ने एक सीमा तक प्रत्यक्ष जीवन की चेतना आत्मसात् की थी पर महादेवी उससे असंपृक्त रहीं। वह स्थूल के स्थान पर सूक्ष्म की अभिव्यक्ति का निर्देश करती हैं। वह समझती हैं कि छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुआ था। अतः स्थूल को उसी रूप में स्वीकार करना उसके लिए सम्भव न हो सका। परन्तु उसकी सौन्दर्य-दृष्टि स्थूल के आधार पर नहीं है यह कहना स्थूल की परिभाषा को संकीर्ण कर देना है।

महादेवीजी सूक्ष्म या सांकेतिक चित्रों के अतिरिक्त स्थूल को सूक्ष्म सौन्दर्य बोध का आधार तक स्वीकार कर लेती हैं। इस दार्शनिक परिणति को महादेवीजी उस सीमा तक स्वीकार करती रहीं कि उनका काव्य रहस्यवाद के क्षेत्र की वस्तु बन गया। उन्होंने छायावाद को अपने प्रियदर्शन का मात्र सोपान बनाया। उनकी वैयक्तिक अनुभूति स्वाभाविक मनोभावना न रहकर परिष्कृति और उदात्तीकृत रहस्य-जिज्ञासामयी प्रणय भावना बन गई।

मैं समझता हूँ कि स्वाभाविक मानवीय अनुभूतियों का काव्य अ-श्रेष्ठ नहीं होता। महादेवीजी का सूक्ष्मतावादी दर्शन चरम कोटि की कला नहीं है। अवश्य ही उनका काव्य अपने आंतरिक गुणों के कारण श्रेष्ठ है उपर्युक्त तत्त्वज्ञान के कारण नहीं।

महादेवीजी के अनुसार छायावादी अभिव्यंजना की सांकेतिकता का कारण भाव को रूपायित करने की आवश्यकता है। वह छन्द को भाषा के सौन्दर्य की सीमा कहती हैं और इसीलिए नई छन्द-योजना का समर्थन कर सकी हैं। शब्द-शोधन की कला उन्हें इसलिए आवश्यक जान पड़ी कि सूक्ष्म भाव-बोध को अभिव्यक्ति देनी थी। अतएव प्रत्येक शब्द को ध्वनि वर्ण और अर्थ की दृष्टि से नाप-तोल और काट-छाँटकर तथा कुछ नये गढ़कर अपनी सूक्ष्म भावनाओं को कोमलतम कलेवर दिया गया। यहाँ खड़ी बोली के पदावली-संस्कार, छन्द निर्माण और संगीत-पद्धति की काव्य-शैली का अभिनव कौशल स्पष्ट किया गया है। महादेवीजी एक सचेत कलाकार रही हैं और इन क्षेत्रों में उन्होंने नवीन काव्याभिव्यंजना को यत्नपूर्वक सँवारा है। उनकी शैली में तरलता और मार्दव इसी कारण आ पाया है। छायावादी काव्य में उनकी शैली सर्वाधिक सांकेतिक है जिसे

प्रतीक-पद्धति का नया रूप समझना चाहिए।

छायावाद के पराभव के कारणों पर महादेवीजी ने टिप्पणी की है। वह कहती हैं कि छायावाद सौन्दर्य-लोक की वस्तु है, प्रत्यक्ष जीवन की नहीं। इसीलिए वह अपूर्ण है। वह एक भावात्मक दृष्टिकोण है, बौद्धिक दृष्टिकोण नहीं। परवर्ती दृष्टिकोण भी अपूर्ण है क्योंकि वह बौद्धिक है। जीवनानुभूति की न्यूनता से संयुक्त कल्पनातिशयी प्रवृत्ति को उन्होंने छायावाद के ह्रास का कारण माना है। यही उनके काव्य की सीमा का निदर्शन है। वह भावात्मक पूर्णता की बात कहती भी आई हैं। वस्तु और भाव, सौन्दर्य और जीवन तथा बुद्धि और हृदय का एकीकरण ही संभवतः पूर्णता है। छायावाद को यथार्थ रूप में ग्रहण ही नहीं किया जा सकता क्योंकि वह सुनिश्चित आध्यात्मिक रूढ़ियों अथवा वर्गीकृत सिद्धान्तों का संचय नहीं है बल्कि व्यक्तिगत और स्वच्छन्द विचारों का निरूपण है। महादेवीजी ने इन सीमाओं या ह्रास के कारणों का वस्तुनिष्ठ विवेचन किया है। यह अत्यन्त साहस का कार्य है क्योंकि अंततः यह अपने रचना-कार्य का ही सीमोल्लेखन है। यह वक्तव्य सारवान् और तथ्यपूर्ण है।

अस्तु, प्रकृति पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप, कल्पनाओं की समृद्धि, स्वानुभूत सुख-दुःखों की अभिव्यक्ति को परस्पर सापेक्ष कहा गया है। ये ही छायावाद की मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं। महादेवीजी छायावाद को करुणा की छाया में सौन्दर्य के माध्यम से व्यक्त होनेवाला भावात्मक सर्ववाद कहकर उसकी उपयोगिता को सिद्ध करती हैं। वह प्रकृत अनुभूति को अपरोक्ष अनुभूति की रहस्यमयता से मंडित करती हैं, यथा—छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से "अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है जो मूर्त और अमूर्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है।" वह अपने इसी चिन्तन-क्रम के कारण छायावाद को अतिव्याप्त करती हुई उसे रहस्यवाद की समकक्षता प्रदान करती हैं, यथा 'बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखंडता का भावन किया, हृदय की भावभूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी हुई सौन्दर्य-सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की और दोनों के साथ स्वानुभूत सुख-दुःखों को मिलाकर ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, छायावाद और अनेक नामों का भार सँभाल सकी।' यहाँ छायावाद युग-विशेष की काव्य प्रवृत्तियों का परिचायक शब्द-संकेत-मात्र है। वस्तुतः छायावाद के अन्तर्गत अध्यात्म की प्रवृत्ति अवश्य रही है पर वह यत्र-तत्र ही प्राप्त हुई है। उसे मूल प्रवृत्ति नहीं कहा जा सकता। महादेवीजी ने अपने काव्य की विवेचना के क्रम में ही कदाचित् छायावाद और रहस्यवाद को एक-दूसरे का पूरक माना है। एक सौन्दर्य का दर्शन है, दूसरा सत्य का अन्वेषण। वास्तविक यह नहीं है।

महादेवीजी रहस्यवादी कवयित्री हैं, पर उनके काव्य में छायावादी काव्य प्रवृत्तियाँ भी हैं। यथा—प्रकृति-प्रेम, सौन्दर्य, कल्पना, सहानुभूति आदि सुविख्यात हैं। मैं समझता हूँ कि महादेवीजी का साध्य रहस्यवाद है और साधन छायावाद। ये ऐसे पूर्ण या निरपेक्ष सत्य और उसके सौन्दर्य को माध्यम से पर्याय ही हैं अथवा ये अभिव्यक्त का स्थायी भाव और उसकी अभिव्यंजना के प्रक्रिया हैं। इस प्रक्रिया के कारण व्यंजना को चाहे जितनी रमणीयता प्राप्त हो जाय, पर बेचारे वाच्यार्थ का सौन्दर्य सुरक्षित नहीं रह

पाता। महादेवीजी के काव्य में छायावाद का मूल कारण नहीं है क्योंकि उसे काव्य पद्धति के रूप में अपनाया गया है स्वतंत्र सौन्दर्य-बोध या भाव-चेतना के रूप में नहीं।

७

महादेवीजी ने रहस्यवाद का भी स्वरूप-विवेचन किया है। दो महायुद्धों के बीच छायावाद और रहस्यवाद एक-दूसरे पर आश्रित चाहे रहे हों पर उनमें पार्थक्य भी है। उनके अनुसार जब प्रकृति की अनेकरूपता में परिवर्तनशील विभिन्नता में कवि ने एक ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया जिसका एक छोर किसी असीम चेतन और दूसरा उसके ससीम हृदय में समाया हुआ था तब प्रकृति का एक-एक अंश एक अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा। परन्तु इस सम्बन्ध में मानव-हृदय की सारी प्यास न बुझ सकी क्योंकि मानव-सम्बन्धों में जब तक अनुरागजनित आत्मविसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती हृदय का अभाव दूर नहीं होता। इसी से इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण करके उसके निकट आत्म-निवेदन कर देना काव्य का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्यवाद का नाम दिया गया। महादेवीजी के *प्रणयमूलक आत्मनिवेदनात्मक गीतिकाव्य का यह तात्त्विक स्पष्टीकरण है।* वह रहस्यवाद के दार्शनिक या बौद्धिक अथवा साधनात्मक रूप को अकाव्योचित समझती हैं। रहस्यवाद और रागात्मक स्वरूप ही उनका अभीष्ट है। उनका कथन है कि अखण्ड चेतन से तादात्म्य का रूप रहस्यानुभूति में हृदय का प्रेम हो जाता है वह बुद्धि का भ्रम ही नहीं रहता। अतएव 'रहस्यवादी का आत्म-समर्पण बुद्धि की सूक्ष्म व्यापकता से सौन्दर्य की प्रत्यक्ष विविधता तक फैल जाने की क्षमता रखता है अतः उसमें सत् और चित् की एकता में आनन्द सहज सम्भव रहेगा। सत् चित् और आनन्द की पूर्णता ही नहीं स्वयं रहस्यवादी की परिपूर्णता भी सम्भव है क्योंकि मूर्त जगत् का यथार्थदर्शी अमूर्त जगत् का रहस्यद्रष्टा बनकर ही पूर्णता प्राप्त करता है। महादेवीजी रहस्यवाद को जीवन का पूर्णत्व मानती हैं। अखण्ड और व्यापक चेतन के प्रति आत्म-समर्पण अवश्य सम्भव है क्योंकि रहस्यात्मक कृतियाँ उसका प्रमाण हैं। रहस्यानुभूति अलौकिक होती है पर उसकी अभिव्यक्ति अलौकिक ही रहेगी यथा—"अरूप की अभिव्यक्ति लौकिक रूपकों में ही तो सम्भव होगी। यह व्यष्टिगत जीवन के परिष्कार और विकास पर निर्भर है कि अन्तर्जगत् का समष्टिगत जीवन के साथ सामंजस्य स्थापित हो जाय।

क्या कविता के लिए आध्यात्मिक पृष्ठभूमि उचित है ? महादेवीजी के अनुसार इसका निर्णय व्यक्तिगत चेतना ही करेगी। वह समझती हैं कि न वही काव्य हेय है जो अपनी साकारता के लिए केवल स्थूल और व्यक्त जगत् पर आश्रित है और न वही जो अपनी सप्राणता के लिए रहस्यानुभूति पर।" उन्हें रहस्य-काव्य की संवेदनीयता के सम्बन्ध में कोई शंका नहीं है। हिन्दी के आधुनिक रहस्य-काव्य के सम्बन्ध में उनकी टिप्पणी है कि "उसने परा विद्या की अपार्थिवता ली वेदान्त के अद्वैत की छाया मात्र ग्रहण की लौकिक प्रेम की तीव्रता उधार ली और इन सबको सांकेतिक दाम्पत्य भाव-सूत्र में बाँधकर एक निराले स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलम्बन

दे सका, इस पार्थिव प्रेम से ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका।" स्पष्टतः यह महादेवीजी की रहस्य कविता के सूत्रों का ही विश्लेषण है। वह यह स्वीकार करती हैं कि यह वाद काव्य की कल्पना और अपनी अपार्थिव पार्थिवता तथा साधना की स्थूलता के कारण सहज ही सबको आकृष्ट कर सका। अतएव यह विरुद्ध हुआ गया। अत्यन्त स्पष्ट रूप में वह कहती हैं कि 'रहस्यवाद आत्मा का गुण है, काव्य का नहीं।' वह रहस्यवाद को मनःस्थिति और छायावाद को काव्य-कला समझती हैं। और यहीं कला स्वतन्त्र नहीं रह पाती। वह उस आध्यात्मिकता या मूल जीवन-चेतना के उपयोग की वस्तु मानती आई हैं। इस दृष्टिकोण काव्य क्षेत्र में स्वीकृत किया है। अतः महादेवीजी के रहस्य विषयक विवेचन का विश्लेषण और प्रामाणिक मानना चाहिए। यह उनकी काव्य-कला की केन्द्रीय मनःस्थिति का निरूपण है। इसे आत्मकथन माना जा सकता है।

८

महादेवीजी का काव्य चिन्तन न केवल उनके सुसंस्कृत व्यक्तित्व और प्रबुद्ध विचारक का स्पष्ट निदर्शन है बल्कि उनके काव्य को समझने में बड़ी दूर तक हमारा सहायक है। स्वयं महादेवीजी छायावाद-युग की प्रमुख प्रतिष्ठित और प्रतिनिधि कवयित्री हैं अतएव उनके विचार सिद्धान्तवाद के रूप में स्वीकार किये जाते हैं। छायावादियों की प्रवृत्तियों में कतिपय साम्य के सूत्र उपलब्ध हुए हैं और उन्हीं के आधार पर उस युग की विवेचना की जाती रही है। अवश्य ही उसमें पर्याप्त अन्तर मौजूद रहा है पर वह उनकी वैयक्तिक विशेषताओं का परिचायक समझा गया है। महादेवीजी मूलतः अध्यात्मवादी या रहस्यवादी हैं पर अन्य सभी छायावादियों की यही केन्द्रीय मनःस्थिति नहीं है। अतएव महादेवीजी की कतिपय मान्यताओं की सीमाएँ यहीं देखी-पहचानी जाती हैं। वह छायावाद को वैयक्तिक ही नहीं आत्मवादी अभिप्रेत भी प्रदान करती हैं। स्पष्टतः यही मतभेद का कारण है। छायावाद के अन्तर्गत सौन्दर्य की स्वाभाविक अनुभूति भी व्यक्त हुई है। महादेवीजी उसे अमूर्त सत्य का माध्यम मात्र मान लेती हैं। कदाचित इस सम्पूर्ण युग के परिप्रेक्ष्य में प्रमाणित नहीं किया जा सकेगा।

महादेवीजी का अध्ययन विशद है, मनन प्रक्रिया सुसम्बद्ध है और चिन्तन क्रम एकदेशीय नहीं है। रहस्यवाद और छायावाद के विकास-क्रम का उन्होंने परिश्रमपूर्वक प्रामाणिक निरूपण किया है। उनका दृष्टिकोण अतिशय व्यापक है और वह सदैव शाश्वत या चिरन्तन सत्य का अनुभव करने के लिए दृढ़संकल्प हैं। पूर्णत्व की अपनी धारणा उन्हें अतिशय प्रिय है जिसे स्थूल और सूक्ष्म, व्यष्टि और समष्टि, मूर्त और अमूर्त, हृदय और मस्तिष्क, सत्य और सौन्दर्य आदि के एकीकरण के रूप में निरूपित किया गया है। आशय यह है कि उन्हें मूलतः का भी सामञ्जस्यशील और समन्वयशील द्रष्टा तथा आत्मवादी चिन्तक समझना चाहिए। उनका आत्म-दर्शन सदा सर्ववाद के रूप में उपस्थित हुआ है। वह मायावादी द्रष्टा हैं और अध्यात्मवादी कवि। वस्तुवादी जीवन-दर्शन और यथार्थवादी काव्य के प्रति उनके मन में स्वभावतः असंतोष का भाव विद्यमान है पर उस पर अपनी व्यापक विचार-भूमि में सर्वथा [illegible] जाती है। अन्ततः वह सामंजस्यवादी दृष्टिकोण

की अपनी खेती है। यह उनके अपने ही सिद्धान्त का विस्तार या पल्लव है। संक्षेप में महादेवीजी का काव्य-चिन्तन प्रौढ़ और पुष्ट है, सुचिन्तित और कवित्वपूर्ण है। यह महादेवीजी के काव्य की अन्तरंग परीक्षा का विशिष्ट प्रतिमान है। स्पष्टतः उसकी सीमाएँ वे ही हैं जो छायावादी काव्य-समीक्षा की हैं। यह वैयक्तिक साहित्य सिद्धान्त है और उसमें वस्तु-निष्ठता का अभाव है।

और महादेवीजी का काव्य आत्माभिव्यंजक गीतिकाव्य का श्रेष्ठ उदाहरण है जिसका मूल तत्त्व रहस्यवाद है और जिसकी काव्य-कला छायावाद की उत्कृष्ट उपलब्धियों से सुसम्पन्न है। वह वैयक्तिक और अलंकृति-पूर्ण गीति-काव्य होने के कारण सहज संवेद्य नहीं है, कम-से कम संक्रामक तो नहीं ही है। पर यह गीति कला विशिष्ट है और समृद्ध भी। महादेवीजी के गीति-काव्य का विशिष्ट व्यक्तित्व है जो अपने पृथक् सौन्दर्य के कारण महत्त्वपूर्ण उपलब्धि बन गया है।

उनकी गीति-रचना का परिचय प्रायः 'मैं नीर भरी दुख की बदली' उक्ति से दिया जाता है। पर यह युक्तियुक्त नहीं है। वह 'तुम हो विधु के बिम्ब और मैं मुग्धा रश्मि अजान' से चल कर 'बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ' की स्थिति को प्राप्त करती है। 'है तुझे अंगारशय्या पर मृदुल कलियाँ बिछाना' कालान्तर में ही वह कह पाती है। उनकी 'पथ होने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला' की हठ न केवल 'सब आँखों के आँसू उजले सबके सपनों में सत्य पला' का अनुभव करती है बल्कि समझती है कि 'अलि मैं कण-कण को जान चली सबका क्रन्दन पहचान चली'। महादेवीजी के भाव-विकास के ये कतिपय इंगित हैं। वह केवल अन्तर्मुखी वियोगिनी नहीं है, वह रहस्यवादी भी है अतएव वह रात के उर में दिवस की चाह का शर है। जिन्हें महादेवीजी की रहस्यानुभूति पर सन्देह है वे उसे आरोपित भले मान सकते हैं पर विगत चालीस वर्ष की गीति रचना और चिन्तन-सृष्टि में एकनिष्ठ रह पाने की उनकी शक्ति की प्रशंसा उन्हें भी करनी चाहिए। जो आलोचक छन्द-काव्य की नई आवृत्ति न देखकर निराश हुए हैं और महादेवीजी के रहस्यवाद को मृगजल समझते रहे हैं उन्हें किसी उत्तर की अपेक्षा ही नहीं है।

यह सामान्य नियम है कि प्रतिभा नवनवोन्मेषशालिनी होती है, वह आवर्तन नहीं करती, निर्माण करती है और यह नव्यता प्रत्येक युग की काव्य-कला को नई अंग-सज्जा और नवीन भाव-भंगिमा से मण्डित करती है। महादेवीजी का लक्ष्य सुस्पष्ट है और पथ सुनिश्चित। वह कहीं भटकी नहीं, उन्होंने कहीं अपना मार्ग नहीं बदला और वह निरन्तर 'जाग तुझको दूर जाना' का अनुसरण करती रहीं।

वस्तुतः महादेवीजी छायावाद-युग की रहस्योन्मुखी कृती कवि और अंतर्मुखी सुधी काव्य चिन्तक हैं और उनके ये दोनों रूप सहयोगी हैं। गीति-सीमा के अन्तर्गत जो कुछ वह स्पष्ट नहीं कर पाईं उसे वह समीक्षात्मक निबन्धों में निरूपित कर सकी हैं। इन्हें अवश्य ही लक्षण और उदाहरण नहीं कह सकेंगे। यहाँ गीति रचना कवि-कर्म है और काव्य-चिन्तन अध्ययन मनन का परिणाम। यह भूमिका या स्पष्टीकरण है, लक्षण निरूपण नहीं। यह आलोचकों द्वारा किये गए आरोपों के उत्तर भी नहीं हैं।

महादेवीजी की यह महान् उपलब्धि है कि उनके काव्य तत्त्व-चिन्तन और

साहित्य-समीक्षण में कोई बाह्य या आभ्यन्तर विरोध नहीं है। इसका कारण यह है कि उनका व्यक्तित्व टूटा हुआ अस्त-व्यस्त अथवा मुखौटा-धारी नहीं है। वह अतिशय संयत और सुसंगठित है। प्रसादजी के शब्द उधार लूँ तो मैं कहूँगा कि 'उसमें इच्छा क्रिया ज्ञान मिल गये थे। कथनी करनी और रहनी की यह एकता जो इतना विचार और जीवन के रूप में अविरोधी जान पड़े कोई सामान्य विशेषता नहीं है। महादेवीजी के लेखन की सचाई और उसके स्थायित्व के सम्बन्ध में इसी कारण हमें निःशंक होना चाहिए।

सौन्दर्यानुभूति

आनन्दप्रकाश दीक्षित

सौन्दर्य का प्रथम साक्षात्कार वस्तु विशेष के आकार अथवा उसके रूप-बोध के साथ सम्पन्न होता है और उसकी अन्तिम परिणति गृहीता की चेतना के सम्पर्क में अनुभूति के रूप में होती है। जगत् के साथ पहला सम्पर्क-क्षण मनुष्य को उसके वैभिन्न्य और वैचित्र्य के प्रति औत्सुक्यपूर्ण कौतूहल से विचलित कर देता है और उसके अन्तर में आनन्द की तरंगवती धारा प्रवाहित कर देता है। अतः वैचित्र्य को ही सौन्दर्य का आधार स्वीकार कर न तो उसकी अवस्थिति वस्तुगत माननी होगी। आरम्भिक स्थिति में व्यक्ति का मन सौन्दर्य का भोक्ता है और उसकी चेतना सौन्दर्य का निश्चय करने में महत्त्वपूर्ण सहायता प्रदान करती है ऐसा ज्ञान नहीं रहता। इस बात का बोध नहीं रहता कि सौन्दर्य की प्रतिष्ठा वस्तु में नहीं अपितु उसकी दृष्टि में ही अधिक सम्भव होती है। मनुष्य में इस चेतना का विकास धीरे धीरे होता है कि वस्तु का सौन्दर्य व्यक्ति-सापेक्ष अथवा बहुत-कुछ व्यक्ति-सापेक्ष भी होता है।

औत्सुक्यपूर्ण कौतूहल की आरम्भिक भावना व्यक्ति मन के प्रसादन के हेतु प्रायः मृदुल-कोमल को ही अपना आलम्ब-स्थल बनाती है और प्रायः दृश्य-जगत् के बीच ही प्रसार पाती रहती है। चेतना के विकास और जगत् के नाना रूप-व्यवहारों की परिचिति और अनुभूति के साथ-साथ हमारा मन केवल अनेक वस्तुओं के वैचित्र्य के बीच से संचरित होता हुआ भी जब एक ही वस्तु के अनेक रूपों का भी परिचय लाभ प्राप्त करने लगता है तब गृहीता की दृष्टि अपनी चेतना के सहारे सौन्दर्य का ऐसा पट बुनने लगती है जो उसकी कल्पना पर निर्भर और जीवन के राग-विरागात्मक भावों और उन्हें उभारने वाली वस्तुओं के सामंजस्य पर आश्रित रहता है।

स्थूल से आन्तरिक सूक्ष्म की ओर धावित होने का यह क्रम वैचित्र्य और अनेकता से एकता की ओर धावित होने का क्रम बन जाता है। जगत् के नाना रूप रंगों के बीच अनेकता में भी एकता की खोज करने वाला मन बुद्धि और हृदय में से कभी एक का और कभी दूसरे का सहारा लेता हुआ मार्ग ढूँढने लगता है। बुद्धि की प्रेरणा उसे ज्ञान के क्षेत्र में घुमाती है और हृदय की प्रेरणा उसकी रागात्मकता को झकझोर जगा देती है और व्यक्ति कलाकार के रूप में मनचाहे माध्यम के सहारे दृश्य-जगत् के साथ-साथ अन्तर्जगत्

के दृश्य भी उपस्थित करने लगता है। बाहरी रूपाकारों में आन्तरिक उन्मुक्तता का रस भरने लगता है। ऐसी दशा में प्रायः उसके मन का बाल या कैशोर औत्सुक्यपूर्ण कुतूहल किसी अदृश्य सत्ता के प्रति जिज्ञासामय बन जाता है जिसके परिणामस्वरूप जगत् का सारा प्रसार ही कलाकार को उस सत्ता से परिचालित-सा प्रतीत होने लगता है और उसकी जिज्ञासा जगत् के सारे रूपों के प्रति एक विशेष रागात्मक सम्बन्ध में बाँध देती है। इसका एक सीधा परिणाम यह होता है कि कलाकार की आँखों के सामने से सुरूप और कुरूप का भेद हट जाता है और उसे सारी प्रकृति ही सुन्दर जान पड़ने लगती है। वह नाना रूपों को उपस्थित करना चाहता है और सब रूपों में एक ही सत्ता का आभास पाकर उसका चित्त सबके प्रति मुग्धता और आह्लाद से भर जाता है। इस रूप में वह सौन्दर्य के माध्यम से आनन्द की सम्प्राप्ति तो करता ही है, अखण्ड एकता के सत्य को भी साथ ही ग्रहण करना चाहता है। रहस्यवाद और सर्वचेतनावाद की भूमिका यही है।

अनुभूति की इस स्थिति की कलाकार में दो दिशाएँ सम्भव हैं जिनके द्वारा वह इस अनुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान कर सकता है। एक, वह सबमें एक ही सत्ता का दर्शन या अनुभव करता हुआ केवल उस असीम और अनन्त की कल्पना में ही लीन रह सकता है और दूसरे, जगत् के नाना रूपों में उसी की छवि का प्रसार देखकर व्यावहारिक धरातल पर मनुष्य की एकता और जीवन की अखण्डता का बोध कराने में प्रवृत्त हो सकता है। ऐसा कलाकार जीवन के नाना रूपों के चित्रण के माध्यम से उस विराट् शक्ति की ही सूचना देता है, किन्तु पहले प्रकार के कलाकार के समान आत्मनिष्ठ या अन्तर्मुख न होकर वह समाजनिष्ठ और बहिर्मुख हो जाता है। पहला कलाकार महादेवी के समान होता है और दूसरा सुमित्रानन्दन के।

जो कलाकार सौन्दर्य के इस राग-द्वेषात्मक सुख-दुःखात्मक रूप का समन्वय करके उसका ग्रहण नहीं कर पाते वे अन्तर्वृत्तियों के सहज उन्मीलन जनित सौन्दर्य के स्थान पर वस्तु के बाहरी आकार प्रकार में ही उसकी खोज करने लगते हैं और रागात्मकता की अपेक्षा शब्दों की आनुप्रासिकता को प्रश्रय देते और कला को कला के लिए स्वीकार करते हैं।

महादेवीजी कला का लक्ष्य कला नहीं मानतीं। कला व काव्य का भी लक्ष्य है अखण्ड सत्य की प्राप्ति। यह प्राप्ति जीवन से दूर रहकर नहीं अपितु उसी के बीच में रहकर निरन्तर होती रहती है और इस प्राप्ति में सौन्दर्य एक माध्यम बन जाता है। इस प्रकार सत्य तक सौन्दर्य के माध्यम से पहुँचता हुआ कलाकार और ग्रहीता का आनन्द का अनुभव होता रहता है। अतः सौन्दर्य जहाँ जीवन की अखण्डता और एकता का प्रतिष्ठाता है वहाँ आनन्द का प्रसारकर्ता भी है। इस सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए, इसीलिए, महादेवीजी ने कहा है "कला का सत्य जीवन की परिधि में सौन्दर्य के माध्यम द्वारा व्यक्त अखण्ड सत्य है।"[1] अथवा "सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य साधन है। एक अपनी एकता में असीम रहता है और दूसरा अपनी अनेकता में अनन्त, इसी से साधन के परिचय

---

१ दीपशिखा भूमिका पृ० ६।

स्निग्ध खण्ड रूप से साध्य की विस्मयभरी अखण्ड स्थिति तक पहुँचने का क्रम आनन्द की लहर पर उठता हुआ चलता है।[1]

'जीवन की परिधि' और 'अनेकता में एकता' की चर्चा इसलिए आवश्यक हुई कि केवल व्यक्ति-सम्बन्ध से सौन्दर्य का विचार करें तो देश भेद से व्यक्ति-व्यक्ति के बीच इतना अधिक रुचि-वैचित्र्य दिखाई देगा कि न तो सौन्दर्य का ही कोई एक रूप निश्चित किया जा सकेगा न ही सामंजस्य का। इस वैचित्र्य के कारण उपस्थित अव्यवस्था से बचने का एकमात्र रास्ता है सम्पूर्ण जीवन को स्वीकार करना। वस्तुतः कलागत सौन्दर्य "जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आश्रित है केवल बाह्य रूपरेखा पर नहीं।"[2] जगत् की क्षुद्रतम वस्तु भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है और प्राणि-जगत् की अनेकात्मक गतिशीलता से लेकर अन्तर्जगत् की रहस्यमयी विविधता तक सब स्थितियाँ सौन्दर्य के अन्तर्गत गृहीत होती हैं। यहाँ तक कि 'छोटा बड़ा लघु गुरु सुन्दर, विरूप आकर्षक भयानक कुछ भी कला-जगत् से बहिष्कृत नहीं किया जाता।'[3]

कला-जगत् में सुन्दर और विरूप दोनों का एक-साथ स्थान है। "व्यष्टि और समष्टि में समान रूप से व्याप्त जीवन के हर्ष-शोक आशा-निराशा सुख-दुख आदि की संख्यातीत विविधता को स्वीकृति देने ही के लिए कला-सृजन होता है।"[4] किन्तु संसार में सुन्दर और विरूप जीवन-सापेक्षता से घट या बढ़कर भी दिखाई दे सकते हैं। "संसार में प्रत्येक सुन्दर वस्तु उसी सीमा तक सुन्दर है जिस सीमा तक वह जीवन की विविधता के साथ सामंजस्य की स्थिति बनाये हुए है और प्रत्येक विरूप वस्तु उसी अंश तक विरूप है जिस अंश तक वह जीवन-व्यापी सामंजस्य को छिन्न-भिन्न करती है।"[5] किन्तु सुन्दर की हमारे जीवन में जैसी स्वाभाविक स्थिति है वैसी विरूप की नहीं है। सौन्दर्य से हमारा परिचय अभिभक्ति का है और विरूप से औपचारिक। दोनों एक ही सामंजस्य की ओर इंगित करते हुए भी परस्पर भिन्न हैं। 'सौन्दर्य अपने समर्थन के लिए जिस सामंजस्य की ओर इंगित करता है विरूपता भी अपने विरोध के लिए उसी की ओर संकेत करती है पर दोनों के संकेत में अन्तर है। प्रत्येक सौन्दर्य-खण्ड अखण्ड सौन्दर्य से जुड़ा है और इस तरह हमारे हृदयगत सौन्दर्यबोध से भी जुड़ा है पर विरूप व्यापक सामंजस्य का विरोधी होने के कारण हमारे भीतर कोई स्वभावगत स्थिति नहीं रखता। सौन्दर्य से हमारा वह परिचय है जो अनन्त जलराशि में एक लहर का दूसरी लहर से होता है पर विरूपता से हमारा वैसा ही मिलन है जैसा पानी में फेंके हुए पत्थर और उससे उठी लहर में सहज है।'[6] इतना ही नहीं सौन्दर्य की चिर-नवीनता उसे काव्य के लिए ग्राह्य बना देती है और विरूपता साधारण होकर उस सीमा में स्थान नहीं पाती। 'सौन्दर्य चिर-परिचय में भी नवीन है पर विरूपता अति परिचय से नितान्त साधारण बन जाती है। इसी से सौन्दर्य की रहस्यानुभूति ही अस्तहीन काव्य-कक्ष में नये परिच्छेद जोड़ती रहती है।'[7]

---

१ दीपशिखा भूमिका पृ १। २ वही पृ ६।
३ वही, पृ ७। ४ वही पृ० १८।
५ वही, पृ ९०। ६-७ वही पृष्ठ २८।

सौन्दर्य की अनुभूति एक प्रकार से रहस्यानुभूति ही है। बाह्य जगत् ही नहीं अन्तर्जगत् में होने वाले व्यापार भी हमारे लिए कम महत्त्वपूर्ण नहीं होते। स्थूल और सूक्ष्म के सामंजस्य में ही जीवन है केवल स्थूल या केवल सूक्ष्म की अपनी चाहे जैसी स्थिति हो जीवन के लिए उनका महत्त्व नहीं है। कर्म का जितना महत्त्व है उससे कम भाव का नहीं है। "हमारे जीवन में सूक्ष्म और स्थूल की जैसी समन्वयात्मक स्थिति है वही कला को, केवल स्थूल या केवल सूक्ष्म में निर्वासित न होने देगी। जब हम एक व्यक्ति के कार्य का स्वीकार करेंगे तब उसकी पट भूमिका पर बने हुए वायवी स्वप्न सूक्ष्म आदर्श रहस्यमयी भावना आदि का भी मूल्य आँकना आवश्यक हो जायगा।"[1] अन्तर्जगत् की यह स्थिति रहस्यानुभूति में आनन्द की प्रतिष्ठा करती है अतः सौन्दर्यानुभूति को रहस्यानुभूति मान लेने पर उसमें आनन्द को स्वीकार करना सहज हो जाता है। इसी से महादेवीजी का कथन है "व्यापक अर्थ में तो यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक सौन्दर्य या प्रत्येक सामंजस्य की अनुभूति भी रहस्यानुभूति है। यदि एक सौन्दर्य-अंश या सामंजस्य-खण्ड हमारे सामने किसी व्यापक सौन्दर्य या अखण्ड सामंजस्य का द्वार नहीं खोल देता तो हमारे अन्तर्जगत् का उल्लास से आन्दोलित हो उठना सम्भव नहीं। इतना ही नहीं किसी कर्म के सौन्दर्य और सामंजस्य की अनुभूति भी रहस्यात्मक हो सकती है इसी से मनुष्य ऐसे कर्मों का आलोक-स्तम्भ बना-बनाकर जीवन-पथ में स्थापित करता रहा है।"[2]

सौन्दर्यानुभूति से अलौकिक रहस्यानुभूति तक का यह यात्रा-पथ जीवन की विविधता को उसके मध्य एवं अखण्ड रूप में ग्रहण करने के कारण ही आनन्दमय बन जाता है। बुद्धि जिस रहस्य को ज्ञेय के रूप में ग्रहण करती है हृदय का व्यापार उसे ही प्रेय बनाकर उपस्थित करता रहता है। प्रेय का यह व्यापार चाहे कितना ही अलौकिक क्यों न हो जाता है पर वह लौकिक भूमि पर ही संचरण करता है। रागात्मकता माधुर्य भाव का पल्ला पकड़कर ही आगे बढ़ती है। रहस्य की इस भूमि पर अन्तर्जगत् की अनुभूति भी बाह्य जगत् के समान ही सहज हो उठती है। दूसरे शब्दों में अखण्ड चेतन से तादात्म्य का रूप केवल बौद्धिक भी हो सकता है पर रहस्यानुभूति में बुद्धि का ज्ञेय ही हृदय का प्रेय हो जाता है। इस प्रकार रहस्यवादी का आत्म-समर्पण बुद्धि की सूक्ष्म व्यापकता से सौन्दर्य की प्रत्यक्ष विविधता तक फैल जाने की क्षमता रखता है अतः उसमें सत् और चित् की एकता में आनन्द सहज सम्भव होगा।[3] तथा रहस्यद्रष्टा जब नक्षत्रों से चलकर अखण्ड और अरूप चेतन तक पहुँचता है तब उसके लिए अपने अन्तर्जगत् के वैभव की अनुभूति भी सहज हो जाती है और बाह्य जगत् की सीमा की भी। अपनी व्यक्त अपूर्णता का अव्यक्त पूर्णता से मिलन तक की इच्छा उसे पूर्ण आत्मसमर्पण की प्रेरणा देती है। यदि इस तादात्म्य के साथ माधुर्य भाव न होता तो यह ज्ञाता और ज्ञेय की एकता बन जाता भावभूमि पर आधार आश्रय की एकता नहीं।[4]

---

१ दीपशिखा, भूमिका, पृ० ६।
२ वही पृ० ७७-८।
३ वही पृ० १६।
४ वही पृ० ११।

सौन्दर्य और रहस्यानुभूति सम्बन्धी इन मान्यताओं के निरन्तर चर्चा करने की यहाँ आवश्यकता इसलिए हुई कि महादेवी के काव्य के सम्बन्ध में विचार की सही दिशा अपनाई जा सके। महादेवीजी की इन मान्यताओं के अनुरूप ही उनका काव्य भी है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने मान्यताओं को व्यावहारिक रूप देने के लिए ही काव्य की रचना की है। इसके विपरीत शायद यह कहना ठीक होगा कि अनुभूति के बल पर उपस्थित काव्य को जब चिन्तन का सहारा मिला तब उन्होंने अपनी भूमिकाओं में उस अनुभूत सत्य को ही वाणी देने का प्रयास किया है। अस्तु

महादेवीजी के काव्य में अपने ढंग की गुणात्मक विविधता भी है और अखण्ड सत्य की अनुभूति भी उनमें सौन्दर्य के प्रति औत्सुक्यपूर्ण जिज्ञासा भी है और माधुर्यपूर्ण तरल भावुकता भी सान्द्र अनुभूति को उपस्थित करने की शक्ति भी है और चित्रमय अंकन की सहज कलाकारिता भी। फिर भी महादेवीजी के काव्य की प्रसार भूमि यद्यपि जीवन और जगत् भले ही हो तथापि जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण जितना आन्तरिक अनुभूतिपरक है उतना बाह्य अनुभवपरक नहीं। पहले ही कहा जा चुका है कि इस दृष्टि से महादेवी तुलसीदासजी से भिन्न स्थिति रखती हैं। जीवन और परिस्थितियों का सामाजिक सन्दर्भ में जैसा रूप अंकित होना चाहिए या हो सकता है, महादेवीजी या तो उसमें परिचित होकर भी उससे अपरिचित ही बनी रहना चाहती हैं या उसे पहचानती ही नहीं हैं। अतः उनके काव्य में अनुभूति की गीतात्मक तन्मयता तो है किन्तु विराट् सामाजिकता नहीं है। सुख-दुःख से उनका परिचय है अवश्य किन्तु उसके विविध रूपों के उद्घाटन में अनेक घटनाओं के बीच उसके प्रकाशन में उनकी वृत्ति नहीं रमती। परिणामतः उनका काव्य बाह्य प्रकृति में ही अभिव्यक्ति का सन्तोष ग्रहण करता है। उनको भी केवल प्रातः सन्ध्या और रात्रि के चित्र ही उन्हें रुचिकर प्रतीत होते हैं ऋतुओं में वसन्त और वर्षा ही उन्हें विशेष उल्लेखनीय ज्ञात होती हैं। मानवीय रूपों में नारी-रूप ही उन्हें भाता है।

'नीहार' से 'दीपशिखा' तक के पूरे पाँच चरणों में महादेवी सहज औत्सुक्य के रहस्य से ऊपर उठती हुई अन्ततः ऐसे स्थल पर पहुँच गई हैं जहाँ वह दृढ़ता के साथ कह पाती हैं— हुए शूल अक्षत मुझे धूलि चन्दन' अथवा अश्रु-हास की समान महत्ता स्वीकार करती हैं।

एक ही घर में पले पथ एक [illegible] दोनों चले हैं
पलक पुलिनों पर, अधर-उपकूल पर दोनों खिले हैं।
एक ही झंकार में गुण अश्रु, हास गुना चुकी हूँ।

और 'दुःख से आविल सुख से पंकिल' जीवन को वह भली भाँति समझ चुकी हैं किन्तु 'नीहार' और 'रश्मि' में गूँजने वाला उनका उल्लास आज भी पूर्णतया खोया नहीं है। 'रश्मि' में महादेवी ने जिस 'कनक-से दिन मोती-सी रात सुनहली साँझ, गुलाबी प्रात' को देखकर मन के चित्राधार की ओर जिज्ञासु भाव से देखा था उसका आकर्षण नष्ट नहीं हुआ है केवल आन्तरिक अनुभूति में अपेक्षाकृत अधिक स्थैर्य के लक्षण प्रकट हो आये हैं। जीवन-बोध की 'कण-कण को प्राण देने की जितनी तीव्र स्पन्द' 'दीपशिखा' में

है उतनी ही उससे पूर्व की कृतियों में प्रकृति-बोध की मादकता भी है। न दीपशिखा में प्रकृति-बोध समाप्त हुआ है न उसमें पूर्व की कृतियों में जीवन-बोध। फिर भी महादेवी की रचनाओं का मूल सौन्दर्याधार तो प्रकृति ही है—बाह्य प्रकृति। प्रकृति का चित्रण करते हुए महादेवी वर्ण ध्वनि गन्ध स्पर्श और रंग आदि के ऐसे सूक्ष्म ऐन्द्रियबोध जागृत करती हैं कि पाठक का मधुग्रहणातुर हृदय कहीं भी उल्लास शिथिल नहीं होता। सौन्दर्य के इतने भिन्नवर्णी चित्र महादेवी ने आँके हैं कि यहाँ सबका उल्लेख नहीं किया जा सकता। कुछ दो-चार चित्र भी सामने रख जा सकें तो बहुत है।

महादेवी ने मुख्यतः उषा सन्ध्या और रात्रि के ही चित्र अंकित किये हैं। किन्तु इन चित्रों में भिन्नता इतनी है कि कोई भी एक-दूसरे से मिलता जुलता नहीं है अन्तः आकर्षण में दूसरे से कम नहीं है। उषा के पाँच भिन्न चित्र देखें। रश्मि की पहली कविता 'चुभते ही तेरा अरुण बाण' नीरजा से 'मत अरुण घूँघट खोल री' 'सान्ध्यगीत' में आ अरुण-वसना' तथा 'आज सुनहली बेला' और 'दीपशिखा' की 'सजग है कितना सवेरा' कविताओं में पहली में प्रात कालीन स्वर्णवर्णी सुषमा जागरण की मनि-भंगिमा और वातावरण की मादकता का रूप अंकित है तो दूसरी में तारक-कुसुम चुनने वाली मनोज्ञ नवोढ़ा का सौन्दर्य उभर रहा है। मनोज्ञ अरुणवर्णी उषा अम्बर के तारक-कुसुम नभ की डार से मन रजनी-रूपी मालिका के मोती का रूप और नव इन्द्रधनुषी मेघ-लहरियों में बिद्रुमवर्णी-हठीली यौवनमय उषा का मतिमन्त मानवीकृत रूप उसकी ललित चेष्टाओं के माध्यम से बड़ी सहृदयता और भावुकता से अंकित किया गया है। जो अरुण-वसना में नव-वधू का रूप सामने आता है तो 'आज सुनहली बेला' में आशा परिवर्तन के समय की विस्मृत चित्त की वर्तमान सौन्दर्य को पकड़ लेने की ललक है और 'सजग है कितना सवेरा' में रात्रि के मन छुड़ाने का चीत्कार उपस्थित हास वाली उन्मादित उषा का स्वागत है। लेकिन ये सब चित्र केवल उषा के ही नहीं हैं निशा की सापेक्षता से उषा के चित्र हैं अतः रूप-परिवर्तन का-सा परिणामकारक मोह-जाल फैलाते हैं।

उषा के समान ही सन्ध्या के भी कई चित्र हैं। रश्मि में सन्ध्या का आगमन 'अगरु सुरभि का मूदुल विभास' का सूचक बनता है। प्रात काल से सान्ध्यकाल तक हँसने वाली जग-ज्योति पर रात्रि का अन्धकार घिर आता है तो कुछ किया नहीं रह जाता—

शलभों से रवि का पथ पीत
अरुण पश्चिम में बहता शोक
विरहिणी संध्या भरी सुहाग
पूछती है तारक स्वर-भार
उसे तम की वह एक झकोर
उड़ा कर ले जाती किस ओर ?
अथक सुषमा सृजन विनाश
यही क्या जग का श्वासोच्छ्वास ?

'सान्ध्यगीत' की सन्ध्या भी अपने वातावरण में मादक है।' [illegible]
में तम

आज सुनहली रेणु मली सस्मित गोधूली ने।
रजनीगन्धा आँज रही है नयनों में सोना।
हुई विद्रुम वेला नीली।

। रोमांचक चित्र है और अन्त में पूर्वकथित सिद्धान्त भी 'सृष्टि भरने पर बीती' शब्दों में दुहरा दिया गया है किन्तु 'दीपशिखा' में 'गोधूली अब दीप जगा ले' कविता में केवल सान्ध्य-सौन्दर्य के बीच उभरती रजनी का स्वागत ही है परिवर्तन का संकेत देकर किसी सिद्धान्त से उसका सिरा जोड़ने का प्रयत्न नहीं है। सान्ध्य रमा को लेकर महादेवी इतना ही कहती है—

कुमकुम से सीमन्त सजीला
केसर का आलेपन पीला
किरणों की अंजन-रेखा
फीके नयनों में आज लगा ले।

अथवा यह कि

किरण-नाल पर घन के शतदल
कलरव-लहर विहग-बुद-बुद जल।
क्षितिज-सिन्धु को चली चपल
आभा-सरि अपना उर उमगा ले।

उषा-वर्णन की भाँति न तो सन्ध्या-वर्णन की बहुलता ही है और न वैसी विविधता ही किन्तु रजनी के कई रूप महादेवीजी की कविताओं में अवश्य मिलते हैं। महादेवीजी की 'प्रिय सान्ध्यगगन मेरा जीवन' कहती अवश्य हैं किन्तु सन्ध्या के उतने चित्र नहीं उतारती। सबसे अधिक उनका मन रमा है रात्रि-वर्णन में। रात्रि के प्रति उनका आकर्षण 'नीहार' और 'रश्मि' में पुलक भरा है, नीरजा में आवेगमय और 'सान्ध्यगीत' तथा 'दीपशिखा' में निर्वाणोन्मुख। 'नीहार' की निम्नांकित पंक्तियाँ सम्पूर्ण कविता के इस विषादमय वातावरण में मृदुल संवेदन और अन्तर्मनों को ही जागृत नहीं करतीं बल्कि पाठक को मिलन के मादक व्यापार में विभोर भी करती हैं। शब्दों का ऐसा अर्थमय प्रयोग कम ही देखनेको मिला करता है—

रजनी ओढ़े जाती थी
झिलमिल तारों की जाली।
उसके बिखरे वैभव पर
जब रोती थी उजियाली।।
शशि को छूने मचली सी
लहरों का कर कर चुम्बन।
बेसुध तम की छाया का
तटिनी करती आलिंगन।।

सौन्दर्य की सजल प्रतिमा की तरह रजनी महादेवीजी के भावार्चन का लक्ष्य बनती रही है। बसन्त में शरीर और प्रकृति को जिस नवीन चेतना की गाँठ खोलकर अकस्मात् ही

रूप निखार बना दिया है उसी में रजनी रानी के अंगों को भी सहेज लिया है। शरद्-ज्योत्स्ना में नहाई हुई रजनी नहीं वसन्त रजनी ही महादेवीजी का ध्यान आकर्षित करती है। उसकी रूप-सज्जा के लिए उनका उपक्रम देखने योग्य है पुलक हास संकोच और सिहरन का ऐसा क्रम है कि प्रिया का प्रिय से मिलन के पूर्व से लेकर उसके अन्त तक का चित्र आँखों के सामने नाचने लगता है। प्रकृति पर नारी भाव का आरोप तो महादेवीजी ने बार बार किया है किन्तु 'धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त रजनी' कविता में प्रसाधन-सौन्दर्य और आन्तरिक उल्लास का जैसा चित्र अंकित किया है वह स्थायी प्रभाव डालता है। यदि इस कविता में नवोढ़ा का लज्जा-संकोच है तो 'नीरजा' की ही दूसरी कविता 'रूपसि तेरा घन केश-पाश' में मध्य स्नाता का उद्दीपक सौन्दर्य अंकित है। उच्छ्वसित वक्ष मलयज बयार बन जाने वाली निश्वास स्निग्ध लटें और पास ही कहीं झूलने वाली मधूरी—सारा दृश्य ही ऐसा है कि अनजाने ही मन छूने के लिए बेकल हो उठे लेकिन यह बेकली रूप के लुटेरे की बेकली नहीं है उदास अंग शिशु की माँ के आँचल में मुँह छिपा लेने की बेकली है। प्यार का ऐसा रूप शीतलता का ऐसा स्पर्श भी कितना सुखद होता है कितना सुन्दर। इन्हीं कविताओं की तुलना में 'नीरजा' की ही 'लो चितवनी' कविता रखकर देखें कितनी सीधी और कैसी संकेतात्मक है। 'सान्ध्यगीत' की 'जाग-जाग सुकेशिनी री' में महादेवी का स्वर बदल गया है। उल्लास और आवेग की तीव्रता में स्थिरता आने लगी है चित्रण संश्लिष्ट है। एक अलस-सा भाव तन्द्रिलता-सी और किसी का पथ देखती प्रेमिका की भाव-तन्मयता-सी ही इस कविता में व्याप्त दीखती है और 'दीपशिखा' की 'सपने जगाती आ' शीर्षक कविता में उपस्थित रजनी सांसारिक सुख-दुःख के सन्दर्भ में केवल मृदुल स्वर के लिए उपमानी बन गई है।

उषा सन्ध्या और रजनी के ये चित्र तो केवल उदाहरण के लिए ले लिए गए। वस्तुतः महादेवीजी की कविताओं का सौन्दर्य ही इस बात में है कि उनकी किसी भी रचना में प्रकृति और मानव भाव को अलग-अलग करना सरल नहीं है। प्राकृतिक दृश्यों ने उनकी कल्पना को छेड़कर जगा दिया है उनकी रागात्मकता को रहस्य का पथ प्रदर्शित किया है। प्रकृति के साथ भाव-तादात्म्य के कारण ही उन्हें 'तारिकाएँ अविदित सी मनमान-सी' जान पड़ती हैं और एक कुतूहल जाग उठता है कि 'दूर के संगीत सा वह कौन है?' महादेवीजी के सामने कभी प्रकृति बालिका बन कर उपस्थित नहीं होती सदैव वह रमणी ही बनकर आती है। उन्हें 'अवनि अम्बर की रुपहली सीप में तरल मोती-सा जलधि' ही 'पीना' नहीं दिखाई देता अपितु वारिद में बिजली की मुस्कान भी दिखाई देती है जिस मधु बीथियों में गुंजन और फेनमय मुस्कानों में तारकों को देखकर उनका उल्लास कई गुना हो जाता है। घर मधुमास और मीर मधी दस्सी भी रचतो है तो भी उनके उल्लास में कोई न्यूनता नहीं आती। उन्हें तो यही लगता है—

> आज मधुर विलास को फिर करुणा आई यामिनी।
> चरण-धूलि के इन्दु से छिड़का जगत को चाँदनी।

दीपशिखा में आकर उस अन्त विरह की गम्भीरता और अपनी निरंतर न्यूनता का ऐसा ज्ञान हो जाता है कि उन्हें कहना पड़ा—

थम गया मदिर विलास सुख का वह दीप्त हास,
टूटे सब वलय हार, व्यस्त चीर अलक-पाश
बिंध गया अजान आज किसका मृदु-कठिन तीर?

किन्तु प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति उनका आकर्षण रहस्यवाद की ऊँचाइयों में खोया सा भले ही लगता हो लुप्त नहीं हुआ है। जो बात महादेवी पहले चित्रों के माध्यम से कहती थीं उसे 'दीपशिखा' में वह प्रतीकों और विरोधाभासों के माध्यम से कहती रही हैं। अन्तर इतना ही है कि जो महादेवी किसी समय अल्हड़ बनी कभी निस्संकोच कहती थीं—'मैं मतवाली इधर उधर प्रिय मेरा अलबेला-सा है' वह अब इस अवस्था को पार करके स्थैर्य-धैर्य की ऐसी भूमि पर पहुँच चुकी है जहाँ वह कहती है—

आज तार मिला चुकी हूँ।
सुमन में संकेत-लिपि
चंचल विहग स्वर-ग्राम जिसके
वात उठता किरण के
निर्झर झुके लय-भार जिसके,
वह अनामा रागिनी अब साँस में ठहरा चुकी हूँ।
सिन्धु उठता मेघ पर,
झरता तड़ित का कम्प गीला
कंटकित सुख से धरा
जिसकी व्यथा से व्योम नीला
एक स्वर में विश्व की दोहरी कथा कह चुकी हूँ।

किन्तु, प्रकृति का उनका साथ आज भी छूटा नहीं है। अब वह प्रकृति की छवि के चित्र नहीं आँकती मानव की छवि में ही प्रकृति का रूप अंकित करती हैं फिर चाहे वह करुण रूप ही क्यों न हो। करुण को भी इस प्रकार की अभिरामता दे देना भी इसीलिए सम्भव हुआ है कि वह सुख-दुःख के सामंजस्य में ही विश्वास रखती है। वह कहती हैं—

तरल मोती से नयन भरे।
मानस से ले उठे स्नेह घन
कसक-विद्युत् पुलकों के हिमकण
सुधि-स्वाती की छाँह पलक की सीपी में उतरे।

सच वस्तुतः महादेवीजी की समस्त सौन्दर्य-निधि उसी एक की आराधना में अर्पित है हृदय के समस्त भाव उसी को समर्पित हैं। और जो उसे समर्पित है वह सुन्दर ही हो सकता है या सुन्दर ही बनाकर दिया जा सकता है। अतएव महादेवीजी की उक्तियों में अनुभूति का भेद चाहे जैसा हो सौन्दर्य में अन्तर कभी नहीं आता। उसी के ऐश्वर्य से प्रकृति भी ऐश्वर्यमयी ही दीखती है अतएव नीलम के बादल प्रवाल-सी उषा मोती-सी रातें मोती-से तारे, मोती-सी आँसू की बूँदें सोने के दिन और सन्ध्या में स्वर्ण पराग ही उन्हें दिखाई देता है बादलों में बिजली नीलम के मन्दिर में हीरक प्रतिमा बन

पाती है, मरकत-सुन्दर श्याम कुंकुम में बसाकर रँगी जाती है और सिमि-धाम कनक भार सौरभ के मार्गों पर दौड़ने जान पड़ते हैं। प्रकृति के ये रंग कहीं उसकी कविता में रंगीनी, कोमलता, स्फूर्ति और आह्लाद के चित्र अंकित करते हैं, कहीं सौन्दर्य की उपस्थिता का परिचय देते हैं। इतना ही नहीं, महादेवीजी की प्रकृति यदि उल्लास से मुस्कराती है तो विरह के क्षणों में करुण, क्षोभ आदि सात्त्विकों की अभिव्यक्ति का सहारा भी बन जाता है। यह पर प्रकृति का आधार ग्रहण करते हुए महादेवीजी उन स्थितियों का भी सुन्दर चित्र अंकित करने में अत्यन्त कुशलता प्रदर्शित करती हैं। सुकुमारता से ये चित्र अनूठे हैं और अनुरंजन में ही सुन्दरता का अभिराम है।

महादेवीजी की सौन्दर्यानुभूति के सम्बन्ध में यहाँ सामान्य सौन्दर्य का विचार करना उचित न होगा। उसके साथ न्याय करने के लिए पृथक ग्रन्थ की आवश्यकता है, अतएव उनके द्वारा व्यक्त किये गए सौन्दर्य-सम्बन्धी विचारों के सन्दर्भ तक ही इस ग्रन्थ की सीमा मानना उचित है।

अतीत के चलचित्र

आशा गुप्त

मेरे हँसते अधर नहीं जग की आँसू लड़ियाँ देखो।
मेरे गीले पलक छुओ मत मुर्झाई कलियाँ देखो॥
—महादेवी

महादेवी वर्मा आधुनिक युग की प्रमुख कवयित्री के रूप में अधिक ख्यात हैं। परन्तु जब साहित्य-अध्येता उनके गद्य-साहित्य से थोड़ा भी परिचय प्राप्त करता है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कवयित्री का गद्यकार रूप कम महत्त्वशाली नहीं है। कतिपय आलोचक तो उन्हें अपेक्षाकृत सफल गद्यकार मानते हैं। उनकी संस्मरणात्मक गद्य-रचनाओं में से अधिकांश 'स्मृति की रेखाएँ' 'अतीत के चलचित्र' में संगृहीत हैं। महादेवीजी ने इन अतीतचित्रों को लिपिबद्ध करके प्रकाश में लाने के दो कारण स्पष्ट किये हैं। एक तो इस रूप मे उन अतीत चित्रों की चमक समय के साथ धुँधली नहीं पड़ेगी जिनके सम्पर्क मे लेखिका के चिन्तन की दिशा बदली और संवेदना को गति दी है। दूसरे, उन्हें यह भी आशा है कि इन अधूरी रेखाओं और धुँधले रंगों की समष्टि में किसी सहृदय पाठक को अपनी छाया की एक रेखा मिल जायगी। ये तथाकथित अकिंचन व्यक्ति अपने क्षत-विक्षत जीवन मे सिमटे किसी खिलौने की हाट या प्रदर्शिनी का उपकरण नहीं जो साहित्य-जगत् उनसे अपना मनोरंजन करना चाहे। उस दशा में उन्हें अपनी स्मृति-निधि से इन रत्नों को प्रकाश में लाना वेदनाजनक ही प्रतीत होगा। एक बात और। इन संस्मरणों के धुँधले आलोक में जो लेखिका का व्यक्तिगत जीवन झाँक रहा है वह भी उस राख से अधिक महत्त्व नहीं रखता जो बहुत समय तक सजीव रखने के लिए ही अंगारों को घेरे रहती है।

'अतीत के चलचित्र' में कुल मिलाकर ग्यारह संस्मरण-कथाएँ हैं। इनके अतिरिक्त करुणा से भीगी और वेदना से सिक्त एक अधूरी कथा स्नेह में समृद्ध उस बूढ़े की है जिसे इन संस्मरणों की प्रेरणा का श्रेय मिला है। महादेवीजी ने उसका परिचय एवं सम्बद्ध घटनाएँ सर्वथा गोपन रखी हैं। फिर भी उस अपरिचित वृद्ध में कुछ ऐसा भीगापन है कि नेत्र सहसा आर्द्र हो जाते हैं और शेष संस्मरणों का दीन पीड़ापरक और विषाक्त जीवन मानस-चक्षु के समक्ष उभर-उभर आता है। अतः अपूर्ण होकर भी उस कथा में पूर्णता का भाव है। लेखिका ने इन अतीत चित्रों में अपनी सम्पूर्ण भावना और

जीवन के ग्राम समाज के शोषित दीन-दुःखी पीड़ित और दलित वर्ग का यथार्थवादी रूप प्रस्तुत किया है। ये पात्र न तो कोई पौराणिक या ऐतिहासिक महापुरुष हैं और न समाज के प्रतिष्ठित उच्चवर्ग के समृद्ध-जन। ये तो जन जीवन के ऐसे कुरूप चिह्न हैं जो या तो अशिक्षा और शोषण के कारण दीन एवं नरक हैं या निर्धारित नियमों के अपवाद बनकर समाज की ओर उपेक्षा के पात्र हुए हैं। महादेवीजी की कोमल करुण स्मृतियों का वितान एक ओर समाज के श्रमजीवी वर्ग रामा भृत्य नेत्रहीन अलोपीदीन बुधवा बदलू कुम्हार और ललमठ पहाड़िन-लछमा पर तना है और दूसरी ओर उनके हृदयगत वात्सल्य का बाल-विधवा मारवाड़िन मातृहीना बिन्दा परित्यक्ता भक्तिन सबिया बाल-विधवा माँ और बदला-मुन्नी की सिसकियाँ मुखर कर रही हैं। कदाचित् घीसा-जैसे कलाप्रेमी जिज्ञासु दीन शिष्यों को दृष्टि में रखकर ही महादेवी ने कहा है कि "कितने अच्छे अच्छे नाम हैं, जो जीवन में आगे बढ़ने का अवसर नहीं पाते और यों ही मर जाते हैं।" बेडौल मूर्तियों के निर्माता बदलू कुम्हार को समुचित प्रोत्साहन द्वारा प्रतिष्ठित कलाकारों की कोटि में लाकर महादेवी ने मानो सम्भ्रान्त कलाकारों को शिक्षा दिया कि "कला उन्हीं का पैतृक अधिकार नहीं कल्पना उन्हीं की क्रीतदासी नहीं।" नेत्रहीन अलोपीदीन का सरल सफल जीवन उस युवक वर्ग के लिए चुनौती है जो निराशा और असफलता की मदिरा पाकर अकर्मण्य जीवन को मृत्यु मानता है। बुन्देलखण्ड के कुरूप रामा भृत्य ने वर्मा-परिवार के बच्चों को मोहित करके जीवन के इस चिरन्तन सत्य पर पुनः प्रकाश डाला है कि "बालक केवल जीवन को पहचानता है। जहाँ जीवन से स्नेह-सद्भाव की किरणें फूटती जान पड़ती हैं वहाँ तक वह बाह्य विषम रेखाओं की उपेक्षा कर डालता है और जहाँ द्वेष-घृणा आदि के धूम से जीवन ढँका रहता है वहाँ वह बाह्य सामंजस्य को भी ग्रहण नहीं करता।"

इसी प्रकार महादेवी के भावप्रवण कलाकार की सम्पदाएँ युग-युग से समाज द्वारा पीड़ित तिरस्कृत और परम उपेक्षित नारी के लिए हैं, वह नारी जो उनके अनुसार माता भगिनी पत्नी पुत्री आदि के उनके सम्बन्धों से वात्सल्य ममता स्नेह आदि अनेक भावनाओं से तथा कोमल कठोर भावनाओं की विविधता से पुरुष को सुसज्जित होने से चितारोहण तक घेरे रहती है और मृत्यु के उपरान्त भी उसे स्मृति में जीवित रखने के लिए उपक्रम तपस्या से नहीं हिचकती जो आदिम काल से आज तक विकास-पथ पर पुरुष का साथ देकर उसकी यात्रा को सरल बनाकर उसके अभिशापों को स्वयं झेलकर और अपने वरदानों से जीवन में अक्षय शक्ति भरती रही है।"[1] पर पुरुष ने उसे कभी मन्दिर से अधिक महत्त्व नहीं दिया। सबसे अधिक भारतीय नारी इस प्रकार वैषम्य से कैसी अपमानित प्रताड़ित अधिकारों से वंचित और व्यक्तित्वहीन प्राणी है यह आज सर्वविदित है। हिन्दू समाज के उसी अतीत की दयनीय दशा परित्यक्ता भक्तिन दुर्भाग्यपीड़िता बिट्टो अविवाहिता माँ वेश्या-पुत्री बाल-विधवा मारवाड़िन तथा पहाड़िन लछमा से प्रतिबिम्बित है।

---

१ महादेवी का विवेचनात्मक गद्य।

काव्य-जगत् की भावुक तथा सामयिक प्रणयिनी महादेवी यहाँ धरती की बेटी माँ और बहन के रूप में अवतरित हुई हैं। लेखिका के अन्तस् का कोना कोना मानो हिन्दू जाति की इस रूढ़िग्रस्त एवं अभिशप्त नारी के अछूते बचपन असमय में ढलते यौवन और तिरस्कृत बुढ़ापे के साथ हाहाकार कर उठा है।

यथार्थ और आदर्श तथा सामयिक समस्या से विधवा नारी के विषादमय जीवन का ज्वलन्त उदाहरण बिन्दो की कहानी है जो समाधि जैसे घर में लोहे के प्राचीर से घिरे फूल के समान बिना संगी-साथी और आमोद प्रमोद के निरन्तर बूढ़ा होने की साधना में लीन थी। चौथा संस्मरण भंगियों के पारिवारिक चित्रण के साथ दम्भ-दलित समाज की नारी सबिया का है जो अशिक्षित होते हुए भी उत्सर्ग की महान् भावना से अनुप्राणित है। सबिया की इस एकान्त स्थिति एवं अनोखे व्यक्तित्व में महादेवीजी ने पौराणिक नारी की झलक देखी है जिसने जीवन की सीमा रेखा किसी अज्ञात लोक तक फैला दी थी। क्योंकि सबिया उन महिलाओं में नहीं है जो पति के हरेकपन को उसके वैभव कार, वैभव आदि के पालग पर रखकर भारी कर सकती है। उसकी गणना न उनमें हो सकती है जिनके भावना-मन्दिर के द्वार पर स्वयं धर्म के कठोर और सजग पहरेदार हैं, और न उनमें जिनके उद्भ्रान्त मस्तकों पर समाज की नंगी तलवार लटकती रहती है। वह तो सब प्रकार से स्वच्छन्द एवं स्वतन्त्र नारी है। यदि उसे जीवन के लिए मृत्यु से लड़ना पड़ा तो वह न मरने के लिए जीवन से संघर्ष करती रही परन्तु समाज की नृशंसता देखिए कि अपनी पति भक्ति एवं कर्त्तव्यनिष्ठा के लिए न तो प्रतिष्ठित अभ्यर्थना में उसकी गणना हो सकी और न निम्नवर्ग के बन्धु-बान्धुओं की सहानुभूति उपलब्ध हुई। ऐसे समाज पर विक्षुब्ध महादेवी अपने अन्तर में तीव्र आक्रोश संजोये मानो समस्त पुरुष-जाति को अपनी क्रोधाग्नि में भस्मसात् कर डालना चाहती हैं। आप कहती हैं "पुरुष भी विचित्र है वह अपने छोटे-से-छोटे सुख के लिए बड़े-से-बड़ा दुःख दे डालता है और ऐसी निश्चिन्तता से मानो वह स्त्री को उसका प्राप्य दे रहा है। उसी कर्त्तव्यों को वह चीनी से ढँकी कुनैन के समान मीठे-मीठे रूप में चाहता है।" लेखिका को समाज के मनोविज्ञान का जैसा परिचय समतल में मिला वैसा ही पर्वत की विषम भूमि पर उपलब्ध हुआ। पर्वत से घिरी हुई उन घाटियों में यही निष्कर्ष मानो सूक्ति-रूप में गूँजता है कि "एक पुरुष के प्रति अन्याय की कल्पना से ही सारा पुरुष-समाज उस स्त्री से प्रतिशोध लेने को उतारू हो जाता है और एक स्त्री के साथ क्रूरतम अन्याय का प्रमाण पाकर भी सब स्त्रियाँ उसके अकारण दण्ड को अधिक भारी बनाए बिना नहीं रहतीं।" स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को लेकर महादेवीजी का वक्तव्य किसी किताबी ज्ञान पर आधारित नहीं है अपितु वह इस चिरन्तन सत्य तक मौलिक जीवन के तथ्यों के सहारे पहुँची हैं। यही कारण है कि उनके संस्मरण अधिकांशतः नारी की अभिशप्तावस्था और परवशता का चित्र उपस्थित करते हैं। और विधवा परित्यक्ता नारी के जीवन-चित्रों की यह तस्वीर प्रकारान्तर से उनकी आत्मा का विद्रोही स्वर प्रतिध्वनित करती है।

इसके अतिरिक्त महादेवीजी ने वेश्या समस्या पर भी गम्भीर चिन्तन किया है जिसका प्रथम सोपान छठे संस्मरण की अभागिन बाल विधवा माँ है। सम्भवतः समाज

की ओर से सहानुभूति का अभाव ही वेश्या-वृत्ति के प्रादुर्भाव का कारण रहा है। अपने अकाल वैधव्य के लिए जो दोषी नहीं ठहराई जा सकती उसी वेदना-विह्वल माँ की वकालत करते हुए वह पुरुष-जाति से कह उठी हैं— बर्बरो ! तुमने हमारा नारीत्व पत्नीत्व सब ले लिया, पर हम अपना मातृत्व किसी प्रकार न देंगी। यों तो वेश्या-वृत्ति को अवश्य समझने वाले आदर्श पुरुष-समुदाय की समाज में कमी नहीं है परन्तु माता पत्नी पुत्री आदि विगुणात्मक उपाधियों से रहित जीवन्मुक्त नारी के इस रूप से पुरुष-समाज का कल्याण भी है। अतः स्वार्थवश पुरुष नारी-वर्ग के इस उपेक्षित अंश को न पत्नी रूप में स्वीकार करना चाहता है और न माता या भगिनी रूप में। अन्तर के विक्षोभ को महादेवीजी प्रकट होने नहीं देना चाहतीं किन्तु व्यंग्य और तीखापन उनकी उक्ति में आ ही गया है। आप कहती हैं— 'यह पतित कही जाने वाली माँ की पुत्री है और बिना समाज के प्रवेशपत्र के ही साध्वी स्त्रियों के मन्दिर में प्रवेश करना चाहती है। उसे पता नहीं कि समाज के पास वह जादू की छड़ी है जिससे छूकर वह जिस स्त्री को सती कह देता है बस वही सती होने का सौभाग्य प्राप्त कर सकती है।"

हमें जानना चाहिए कि यदि पाताल के सब जीव-जन्तु स्वर्ग की ओर दौड़ पड़ें तो सृष्टि एक दिन भी न चले। यदि वह अपने गुरु कर्तव्य से च्युत होकर पत्नीत्व मातृत्व आदि सम्बन्धों को चुराती फिरें तो समाज चुराई हुई वस्तु पर इनका स्वत्व स्वीकार करके क्या अपना विधान ही मिथ्या कर दे ?

बिट्टो के अभागे जीवन का स्मरण अनमेल विवाह-जैसे ज्वलन्त प्रश्न पर चिन्तना करने को बाध्य करता है। व्यंग्य से कोमल और करुणा से भीगा हुआ तर्क उपस्थित किया गया है कि समाज में ६४ वर्ष का विधुर पुरुष भी १६ वर्षीया पत्नी की आकांक्षा करता है। अतः नियमानुसार १२ वर्षीय बिट्टो को १५० वर्ष का पति मिलना चाहिए था। परोपकारी सम्बन्धियों ने यदि कम आयु का वर खोज दिया तो बिट्टो को कृतज्ञ होना चाहिए। नारी की इस दयनीय स्थिति के मूल में वस्तुतः उसकी आर्थिक परवशता है। वही उसे इतना अकिंचन एवं असहाय बनाए है। इन सामाजिक संकीर्णता धार्मिक बन्धन और आर्थिक परवशता में समाज के अपने सबसे अशक्त अर्द्धांग पद्दलिता नारी के उन गुणों को नहीं परखा जो उसे इन विषमताओं में भी स्वतन्त्र एवं मुक्त बनाए हैं। उन गुणों की ओर संकेत करते हुए महादेवीजी कहती हैं—"स्त्री जब किसी साधना को अपना स्वभाव और किसी सत्य को अपनी आत्मा बना लेती है तब पुरुष उसके लिए न महत्त्व का विषय रह जाता है न भय का कारण।"

संक्षेप में महादेवी वर्मा ने अपने व्यतीत जीवन की झाँकियों में अभावग्रस्त अंगनाओं के तिरस्कार कुम्हार, कुली मुसलमानों आदि तथा पुरुष की कामुकता की शिकार और सामाजिक बन्धनों में जकड़ी नारी की आशा-निराशा एवं उनके अन्तर-बाह्य के अवसाद का मर्मपूर्ण चित्रण किया है। इसमें कहीं उनका हृदय करुणा से सिक्त सहानुभूति से आपूरित एवं वेदना से कराह रहा है तो कहीं आक्रोश क्षोभ एवं टीस से तड़प उठा है। हाँ समाज की परम्पराओं में व्याप्त इन विषमताओं एवं भयंकर विषमताओं का कहीं समाधान प्रस्तुत नहीं किया गया है। क्योंकि ये संस्मरण मात्र हैं जहाँ 'पथ न

साथियों को कल्पना का परिधान पहनाकर कुछ की सृष्टि' का प्रश्न उपस्थित नहीं होता था। दूसरे इस धरातल के जीव अपने कण्ठ और वाणी में ऐसा सत्य का बल लेकर आए हैं कि न हम उनकी उपेक्षा कर पाते हैं न उन्हें अनदेखा या अनसुना। इस आधार-भित्ति पर जीवन की कुरूपता देखकर हमारा हृदय काँपता तो है पर थाह नहीं पाता। ऐसा प्रतीत होता है कि महादेवी का 'शृंखला की कड़ियाँ' में व्यक्त आक्रोश संस्मरण में संवेदना का रूप धारण कर गया है—आक्रोश समाज के प्रति और संवेदना उन करुणापूर्ण मानव मूर्तियों के प्रति है। इन पात्रों का व्यक्तित्व और अस्तित्व महादेवी के करुण करों से अभिषिक्त हो मानो समाज के लिए एक चुनौती बन गया है। शब्द-चित्रों में चित्रित ये व्यक्ति महादेवी की अनुपम कलाकृतियाँ हैं जिनमें हमारी सामाजिक विषमता वीभत्स रूप में आ खड़ी हुई है। हाँ लेखिका के विचारों में किसी सामाजिक कुसंस्कार या जड़ता की छाया भी नहीं मिलती। उदाहरण के तौर पर अवैध सन्तान की समस्या पर उनका दृष्टिकोण निर्भीक सत्यपूर्ण एवं उदार है। उदार की पीड़ा से सर्वथा मर्मस्पृक्त आत्मलीन एवं आत्मकेन्द्रित कवयित्री की गद्य में इस यथार्थवादी बौद्धिक एवं सहानुभूतिपूर्ण विचार धारा की अभिव्यक्ति देखकर बहुधा यह आरोप लगाया जाता है कि गद्य-पद्य दोनों क्षेत्रों में महादेवी दो भिन्न व्यक्तित्वों का परिचय देती हैं। किन्तु स्मरण रहे कि उनके इन विरोधी व्यक्तित्वों को एक सूत्र में आबद्ध करने वाला अमर भाव-बिन्दु 'दु:ख' है। यह दु:ख काव्य में अलौकिक प्रियतम को लेकर अभिव्यक्त हुआ है और यही लौकिक क्षेत्र में समाज के इन शोषित एवं अभिशप्त वर्गों के प्रति समानुभूति तथा सहानुभूति का रूप धारण कर गया है। यह संवेदना ही उनके सम्पूर्ण साहित्य की मूलप्रसाद-भित्ति है।

जैसा कि महादेवीजी ने भूमिका में स्पष्ट कर दिया है 'अतीत के चलचित्र' का प्रत्येक संस्मरण स्मृति-चित्र है। क्योंकि इनमें उनका अपना जीवन भी सन्निविष्ट है इसलिए चित्रों में कल्पना को कहीं अवकाश नहीं है। स्वयं उनका विचार भी है कि 'जिस परिचय के लिए कहानीकार अपने कल्पित पात्रों को वास्तविकता से सजाकर निकालता है उसी परिचय के लिए मैं अपने पथ के साथियों को कल्पना का परिधान पहनाकर दूरी की सृष्टि क्यों करती?' कहानी-कला के आवश्यक अंग कल्पना-तत्त्व के अभाव में डॉ. वासुदेवशरण तथा पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी प्रभृति आलोचकों ने इन्हें संस्मरण ही माना है। डॉ. रामकृष्णदास सभी स्मृति-चित्रों को कहानी की संज्ञा देते हैं। यों पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी और डॉ. वासुदेवशरण भी महादेवीजी को कहानीकारों में परिगणित करते हैं। इसका मूल कारण सम्भवतः यह है कि संस्मरण पाश्चात्य सम्पर्क की देन है। यह गद्य-शैली का वह नवीनतम रूप है जो जीवन के सत्य और वास्तविकता की अनुभूतिमय अभिव्यक्ति करता है। संस्मरण में कल्पना का स्थान पात्र या घटना के प्रति अनुभूत प्रतिक्रिया पर लेखक की टिप्पणी के रूप में रहता है। यों तो कला की दृष्टि से कहानी संस्मरण की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है परन्तु संस्मरण का जितना प्रत्यक्ष प्रभाव पाठक के मन पर पड़ता है, उतना कहानी का नहीं। इसका कारण मूलतः संस्मरण का तथ्यपरक आधार ही कल्पित किया जा सकता है। अतीत के धूमिल चित्रों की साकार अभिव्यक्ति

ही संस्मरण हैं और इस कसौटी पर आलोच्य चित्र उत्कृष्ट रूप में प्रस्तुत हुए हैं। जैसा कि कह आए हैं लेखिका की इस सफलता का सबसे बड़ा कारण उनकी हृदय की संवेदनशीलता है जो उनके पारिवारिक जीवन तथा वातावरण का सुपरिणाम है। माता से उन्होंने आस्तिकता और भावुकता तथा पिता से असाम्प्रदायिकता तथा कर्मनिष्ठा की भावना ली है। निर्धनों की सहायता की प्रवृत्ति भी उन्हें माँ से ही मिली थी जिसका परिचय हमें रामा वाले संस्मरण में मिलता है। उनकी माता ने ही रामा की कुरूपता का आवरण भेदकर उसके आन्तरिक अक्षय सौन्दर्य को परखा था। इस प्रकार साधना सम्पन्न और लोक-कल्याण की भावना से संयुक्त महादेवी ने ये संस्मरण रेखाचित्र-रूप में सफलता से प्रस्तुत किये हैं।

रेखाचित्र की यह शैली साहित्य-क्षेत्र में चित्रकला से आई है। शब्दों द्वारा जीवन के विविध रूपों का आकार बनाने की विधि को रेखाचित्र कहा जाता है। जिस प्रकार कैमरामैन व्यक्ति का फोटो लेते समय उसकी पृष्ठभूमि को भी दृष्टि में रखता है उसी प्रकार महादेवी के समस्त रेखाचित्र समाज की सुदृढ़ पीठिका पर रचित हैं। ये रेखाचित्र हिन्दी में अपने ढंग के सर्वप्रथम और सशक्त हैं। उदाहरणार्थ रामा का चित्र देखिए—

'किसी थके झुंझलाए शिल्पी की अन्तिम भूल जैसी अनगढ़ मोटी नाक, साँस के प्रवाह से फैले हुए-से नथुने, मुक्त हँसी से भरकर फूले हुए होंठ तथा काले पत्थर की प्याली में दही की याद दिलाने वाली सघन और सफेद दन्तपंक्ति के सम्बन्ध में भी यही सत्य है। और इसलिए महादेवी की वात्सल्यमयी लिप्सा का आकार प्रकार मानो तूलिका की मोटी-पतली रेखाओं में उभर आया हो "दो पैरों से चलने वाली लकड़ी के ऊपर मढ़ी झिल्ली के समान पतले चर्म में मढ़े और भीतर की हरी-हरी नसों की झलक देने वाले उसके दुबले हाथ-पैर न जाने किस अज्ञात भय से अवसन्न रहते थे।' इस प्रकार के सहस्रातीत उदाहरण इन चलचित्रों से उद्धृत किए जा सकते हैं जिनमें बदलू, लछिमा, बीमा और अलोपीदीन की रेखाएँ स्पष्टतर और अधिक गहरी बन पड़ी हैं। बदलू का रेखाचित्र भी द्रष्टव्य है—"उसकी मुखाकृति साँवली और सौम्य थी, पर चिपके गालों ने विद्रोह करके नाक के दोनों ओर उभरी हुई हड्डियों उसे कंकाल घोषित बनाये बिना नहीं रहती। लम्बा इकहरा शरीर भी कभी सुडौल रहा होगा, पर निश्चित आकार-रहित के कारण जनमत बढ़ावस्था के भार से झुक आया था। उसकी छोटी आँखें स्त्री के आँसू के समान नम्र थीं, पर एकरस उत्साहहीनता से भरी होने के कारण किरनी वाली मिट्टी से गढ़ी मूर्ति के कौड़िया के सभी आँखों का स्मरण दिलाती रहती थीं। कोरा होने में से निकलता हुआ गम को गरमराहट सुनने वाले को वैसे ही चौंका देती थी जैसे बाँसुरी में से निकलता राग का स्वर।" सिनेमा के चित्र के समान श्वेत और श्याम बिन्दुओं से निर्मित यह सजीव नीच मनि से जैसा के समक्ष चलता-फिरता लगता है। ममता और करुणापूर्ण सहानुभूति के भाव से लिखकर लेखिका ने जो पात्र प्रस्तुत किए हैं वे स्वयं मूक रहा है। अतः संस्मरणों में सबसे बड़ा है स्वयं महादेवी उनके विषय में अधिक सामग्री है। हाँ जितना वह कहती है और जो कुछ पात्र स्वयं कह पाता है उसी में वर्णित योग उत्पन्न है।

इन रेखाचित्रों को मर्मस्पर्शी और प्रभावोत्पादक बनाने के लिए महादेवी ने उपमानों का चयन इस प्रकार किया है कि रेखाएँ सहृदय के मन को विरोधी भावना से भर देती हैं और उस दशा में हँसना निष्ठुरता और मौन रहना सहानुभूतिहीन जान पड़ता है। सबिया की बचिया को देखिए जिसके—"सूखे शरीर में नये पत्ते की चंचलता न होकर पास से छिन न सकने वाले वैसे किसलय कोरक का अवश हिलना डुलना था। कोने में झुकके हुए 'भीसा पर दृष्टि जाती है 'जिसकी उभरी हड्डियों वाली गर्दन को सँभाले हुए झुके कन्धों से रक्तहीन मटमैली हथेलियाँ टेढ़े-मेढ़े कटे हुए नाखूनों से युक्त हाथों वाली पतली बाँहें ऐसी झूमती थीं जैसे ड्रामा में विष्णु बनने वाले की दो नकली भुजाएँ।" रामा की कुरूपता और कालेपन को उपमानों के सहारे अभिव्यक्त करने में लेखिका ने अपनी कुशल लेखनी का परिचय दिया है— 'साँप के पेट जैसी सफेद हथेली और पेड़ की टेढ़ी-मेढ़ी गाँठदार टहनी जैसी अंगुलियाँ।" कहीं-कहीं मुहावरेदार भाषा का उपयोग भी मिलता है जिससे कथन में प्रभविष्णुता एवं संक्षिप्तता आ गई है। रामा की कोठरी में महाभारत के अंकुर जमना काम को भूखा दीप बनने से बचाना खेल के संसार में सूखा पड़ने की सम्भावना अंगारों से जीवन का घर जलना धूप-से सफेद बाल और दूधफेनी-सी सफेद दाढ़ी काँच की गोलियों-जैसी निष्प्रभ आँखें सूनी आँखों में बाढ़ आना खेत में लकड़ी पर औंधाई हुई मटकी-जैसा सिर आदि बोलचाल की शब्दावली से संयुक्त छोटे-छोटे वाक्यों में शैली भाषा में प्रवाह और चुटीलापन दोनों हैं। अनेक स्थलों पर काव्यमय उपमाओं से अलंकृत वाक्य-योजना उसके कवि-हृदय का परिचय भी देती चली है यथा—

१ रामा के कुम्हलाए मुख पर ओस के बिन्दु जैसे आनन्द के आँसू ढुलक पड़े।

२ सवेरे के पुलक पंखी वैतालिक एक लयवती उड़ान में अपने-अपने नीड़ों की ओर लौट रहे थे। विरल बादलों के अन्तराल से उन पर चलाये हुए सूर्य के सोने के शब्द-भेदी बाण उनकी उन्मद गति में ही चमत्कार लक्ष्य भ्रष्ट हो रहे थे।

३ अपने दलों पर मोती-सा जल भी न ठहरने देने वाली कमल की सीमातीत स्वच्छता ही उसे पंक में जमने की शक्ति देती है।

४ मलय के झोंके के समान मुझे कष्टक वन में खींच लाकर उन्होंने जो दो फूलों की धरोहर सौंपी थी उसमें मुझे स्नेह की सुरभि ही मिली है।

५ पृथ्वी के उच्छ्वास के समान उठते हुए धुँधलेपन में वे घर आकण्ठ-मग्न हो गए थे।

६ वैधाव्य मये नायक के समान अपनी अभिनीपा पर एक से एक सम्बा अलाप लेकर संसार को विस्मित कर देना चाहता था।

७ लछमी का पहाड़ के हृदय पर पड़े छाले जैसा छोटा घास-फूस का घर है।

इसके अतिरिक्त इस वर्ग का जीवन 'खुली पुस्तक जैसा अथवा वृद्ध जीवन के कम-से-कम ६४ वसन्त और पतझड़ देख चुके होंगे जैसे वाक्य पाश्चात्य अभिव्यंजना के अलक्ष्य प्रभाव का संकेत करते हैं। इसी प्रकार विषय-भेद के साथ भाषा का साहित्यिक रूप भी उन स्थलों पर उपलब्ध है जहाँ जीवन का गम्भीर एवं दार्शनिक विवेचन हुआ

है। यहाँ लम्बे-लम्बे वाक्य तत्सम शब्दों में गुँथे चले आते हैं। उदाहरणार्थ—"शैशव की स्मृतियों में विचित्रता है। जब हमारी भाव प्रवणता गम्भीर और प्रशान्त होती है तब अतीत की रेखाएँ कुहरे में से स्पष्ट होती हुई वस्तुओं के समान अनायास ही स्पष्टतर होने लगती हैं।" अथवा 'वास्तव में जीवन सौन्दर्य की आत्मा है वह सामंजस्य की रेखाओं में जितनी मूर्तिमत्ता पाता है उतनी विषमता में नहीं।"

संक्षेप में मानव और संसार की क्रिया—प्रतिक्रिया से उत्पन्न ज्ञानवृत्ति और अनुभूति सम्भारों का ताना-बाना-सा बुनती चलती है और महादेवीजी के शब्दों में हमें प्रतीत होता है कि संसार-यात्रा में हमने ऐसे अनेक चित्र खण्ड देखे हैं जिन निकट ठहरने की हमारे व्यस्त जीवन को इच्छा ही नहीं हुई परन्तु उस मूर्ति से साक्षात् होते ही हमारा जीवन अपने सम्पूर्ण वेग से उसे घेरकर उसी प्रकार आर्द्र करने लगता है जिस प्रकार तीव्र गति वाला जल-प्रवाह अपने पथ में पड़े हुए शिलाखण्ड की प्रदक्षिणा कर-करके उसे अपने सीकरों से अभिषिक्त करने लगता है। हमारा हृदय कहता है—'यह मेरा है' हमारी आँख पूछती है—'इतना अन्तर किसलिए'। 'हमारी बुद्धि प्रश्न करती है—'ऐसा दैन्य क्यों'। मनन चिन्तन के उपरान्त इस अन्तर का कारण स्पष्ट उभर आता है—कलाकार महादेवी ने अपनी प्रतिभा से उस खण्ड-विशेष को जीवन की अखण्ड पीठिका पर प्रतिष्ठित और सामंजस्य की व्यापक आधार-भित्ति पर अंकित करके हमारे समक्ष उपस्थित किया है और उस रूप में हमारे जीवन का सत्य उसकी उपेक्षा नहीं कर सका।

गद्य-गरिमा

सूर्यप्रसाद दीक्षित

देवीजी छायावाद-युग की विशिष्ट उपलब्धि हैं। 'शृंखला की कड़ियाँ' 'साहित्यकार की आस्था' तथा अन्य निबन्ध 'अतीत के चलचित्र' 'स्मृति की रेखाएँ' 'पथ के साथी' और 'क्षणदा' आदि गद्य कृतियाँ इस युग की अक्षुण्ण-निधि हैं। उनके काव्य-ग्रन्थों की भूमिकाएँ उस युग-मात्र की भूमिकाएँ हैं। देवीजी यहाँ भावुक भावक की स्थिति पर आती हैं। उनकी कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा का सम्मिलन वस्तुतः आलोचक एवं आलोच्य वस्तु का सम्मिलन है। कवि के स्पष्ट सिद्धान्त पृथक् काव्यशास्त्र निरूपित करते हैं जो आत्म प्रतीति के साथ-साथ यथार्थात्मकता का प्रामाणिक साक्ष्य प्रस्तुत करने में सक्षम हैं। गद्य को आचार्यों ने कवियों (कवि-कर्म) की कसौटी (?) कहा है। पद्य की एक मार्मिक उक्ति रचना में चमत्कार लावण्य एवं सरसता की सृष्टि कर सकती है, पर गद्य को सांगोपांग उत्कृष्ट होना आवश्यक होता है। अभावों का प्रकटीकरण पद्य की अपेक्षा गद्य में अधिक सरलता से उपलब्ध है। अस्तु, गद्यकार को आद्यन्त बड़ी सतर्कता संयम और सन्तुलन का निर्वाह करना होता है। महादेवीजी के सम्बन्ध में एक और भी विलक्षणता है वह मूलतः कवि हैं जो तीव्र संवेदनशीलता के आवेग में अपने गीत-गानों द्वारा हृदयवाद की प्रतिष्ठा करती हैं। कवि की भावुकता रसात्मक व रागात्मक होकर आत्मस्फूर्त अजस्र प्रवाह (Spontaneous overflow) में परिणत हो जाती है अतः वहाँ वैचारिक पक्ष का आग्रह अधिक तीव्र नहीं होता है। काव्य हृदयतत्त्व के निकट है और मूर्धा तत्त्व से किंचित पृथक्। गद्य उसके विपरीत वैचारिकता का अधिक आश्रय लेकर हार्दिकता की उपेक्षा करता है। महादेवीजी की सफलता का यही मूल रहस्य है कि वह एक साथ भाव और विचार का सम्पर्क निर्वाह कर लेती हैं कवित्व के भावुक क्षणों में वह संवेग से प्रेरित होकर हृदय की अन्तर्वर्ती परिधियों का संस्पर्श करती हैं तो गद्य-लेखन के समय वह चिन्तन के क्षणों में आत्मलीन होकर वैचारिक समस्याओं के अनेक विकल्प विश्लेषण और विवेचन प्रस्तुत करती हैं। उनकी इस साधना का निश्चित परिणाम है कि उनका सारा साहित्य (गद्य एवं पद्य) भाव और विचार, बुद्धि और हृदय संकल्प और विकल्प आदि एक ही प्रक्रिया से परिचालित और आन्दोलित है।

विद्वान् का गद्य प्रायः गरिष्ठ होता है किन्तु देवीजी पर यह उक्ति पूर्णतः चरितार्थ

नहीं हो पाती। उनकी गद्यात्मकता कहीं भी परिष्कृत शिष्टता और अरोचकता का कारण नहीं हो पाती। गद्य-लेखन में उनकी सम्पन्न अनुभूतियाँ वैचारिक निष्कर्ष का स्वरूप धारण करके प्रकट हुई हैं परिणामतः वहाँ भी बौद्धिकता का आतंक नहीं है प्रत्युत हृदय की सुकुमार वृत्तियों का मधुर प्रकाशन भी है काव्य और कला छायावाद रहस्यवाद प्रगतिवाद आदि युगीन समस्याओं पर गम्भीर विवेचन करती हुई भी वह अपनी अभिव्यक्ति को इतना सरस-सम्प्रेषणीय और प्रभावोत्पादक बना देती है कि उसे स्पष्ट ही एक पृथक गद्यकाव्य का नाम देना पड़ता है। अपने रेखाचित्रों में वह स्थूल और सूक्ष्म दोनों अवयवों को सतर्क निरीक्षण द्वारा संगठित करके अपनी मूक अनुभूतियों को भी सशक्त कर देती हैं हरेक पात्र का अन्तर्बाह्य निरूपण उसका बाहरी रूपांकन और उसकी मानसिक ग्रन्थियों का उद्घाटन इतनी सरसता और सूक्ष्मता के साथ कर सकना सामान्य कार्य नहीं है। अध्ययन व मनन के बाद चिन्तन की जो स्थिति होती है उस पर अधिष्ठित होकर वह बाह्य जीवन की स्थूलता और अन्तर्जीवन की सूक्ष्मता का सिद्धान्त प्रतिपादित करती हैं। जीवन के सत्यं शिव एवं सौन्दर्य पक्ष को समुपस्थित करने के लिए वह अपने कृतित्व का नया मानदण्ड निर्धारित करती हैं जो परम्परा पोषित न होकर नितान्त अभिनव है महादेवी का गद्य आद्यन्त केवल वैचारिक ही नहीं है उसमें मानसिक ग्रन्थियों के साथ ही हृदयवादी आस्था भी प्रकाशित हुई है। काव्य की वैयक्तिक भावभूमि यहाँ निर्वैयक्तिकता के सोपान पर प्रशस्त हो उठी है। चिन्तन की मौन अनुभूतियाँ गद्य में मुखरित हो रही हैं इसलिए वह यहाँ विचारक की अपेक्षा सुधारक अधिक हैं। नारी आन्दोलन उनकी गद्य-कृतियों में कुछ अधिक प्राण और बल गया है। उनकी मुक्त निस्पृह और उदासीन वेदना स्फुट चमत्कार और कर्मनीति प्रेरणा के रूप में परिणत हो गई है। वह यहाँ तटस्थ तथा असपृक्त नहीं हैं। उन असंख्य निरीह प्राणियों की ओर संकेत के बाद वह दयनीय जीवन की असहायता से अपना मौन व्रत भंग करके गद्य-क्षेत्र में उतर पड़ी हैं और उन वर्ग को अपनी रागात्मक व बौद्धिक सहानुभूति देती हैं।

देवीजी के भावकथनों के पीछे उस युग की अनिवार्यता का एकाग्रही स्वर है। गद्य के क्षेत्र में अधिक प्रसन्न नहीं है। काव्य की भावधारा अन्तर्मुखी होकर वैयक्तिक संवेदना में खो गई है। वहाँ चिन्तन और विविध समस्याओं के निरूपण के लिए अवकाश नहीं है। छायावादी काव्य स्वयं एक अस्पष्ट व्यंजना है और रहस्य का आवरण डाल देने पर वह और भी दुरूह गोपनीय और विस्मयजनक बन गया है अतः यह उन कवियों का अभिप्राय दायित्व था कि वह प्रतीकों की रहस्यात्मकता अनुभूतियों की महत्ता और भावजगत की व्यापकता को अधिक स्पष्ट करके गद्य के माध्यम से प्रकट करें। प्रत्येक छायावादी कवि इसीलिए व्याख्याता बन गया है। इस कार्य के मूल में एक सरस प्रतिक्रिया भी रही है। अतः साहित्यिक अभिव्यक्ति सिद्धान्तों तथा अभिनव भाव भूमियों की स्पष्ट घोषणा करने के लिए प्राक्कथनों में इन्हें मुखर होना पड़ा है। देवीजी के काव्य में एक साथ अनुभूति की तीव्रता दर्शन की गम्भीरता और चिन्तन की बौद्धिकता समाहित हो जाती है अतः उन्हें स्पष्ट करने के लिए पृथक रूप में एक पूर्वाभास की अपेक्षा रहती है। इन भूमिकाओं में पद्य की भाँति न वह अपना व्यवस्थावादी मूल्यांकन

करना चाहती है और न निरालाजी की भाँति अपने मर्माहत मर्ह प्रतिवादी विपक्षियों पर प्रहार करना चाहती हैं। उनका कवि स्वयं बड़ा सहिष्णु है और वह शासन के प्रति मौन है। पर युग की मिटती हुई आस्थाओं के रक्षार्थ देवीजी अत्यन्त पूर्वाग्रह के साथ समस्त हो उठी हैं मिटते हुए विश्वासों को वह पुनः प्रतिष्ठित करना चाहती हैं और इस यांत्रिक सभ्यता में साहित्य की उपयोगिता को सिद्ध करने का उपक्रम खोजती हैं।

महादेवीजी प्रारम्भिक रूप से कवि हैं और धीरे-धीरे क्रमशः प्रौढ़ता के विकास के साथ गद्य-पथ पर उतरती जाती हैं। भाव से विचार, हार्दिकता से बौद्धिकता और राग से वयन की वृद्धि के साथ गद्य-लेखन में वह अधिकाधिक प्रवृत्त होती हैं। काव्य-ग्रन्थों की भूमिकाओं के पीछे उनकी कुछ विवशताएँ हैं। छायावाद के प्रवर्तन-युग में अनुकूल समीक्षकों के अभाव के कारण इन कृतिकारों को स्वयं निर्णायक बनना पड़ा है वस्तुतः गद्य इनकी आत्मरक्षा का साधन है और उनकी सृजन प्रक्रिया का स्वानुभूत साक्ष्य है। देवीजी के संयम का यह निश्चित परिणाम है कि उनकी भूमिकाओं में न आत्म-विज्ञापन का मन्तव्य है और न प्रतिक्रिया की बौखलाहट। वह विशुद्ध आत्मचिन्तन और स्वस्थ मत-दर्शन है। प्राचीन शास्त्र वैज्ञानिक सभ्यता और उपयोगितावाद का यह नया समझौता है जिसे भारतीय संस्कृति के परिपार्श्व में रखकर परखा गया है। देवीजी अपने चिन्तन के अन्तराल में लोक-सहानुभूति से उत्प्रेरित हैं जिसे आधार में रखकर वह समसामयिक विचारधाराओं में उलझती हैं। भारतीय वाङ्मय की सन्दर्भ में रखकर तथ्यातथ्य की परीक्षा केवल बहुज्ञता प्रदर्शन के लिए नहीं है अपितु वह लेखिका के अभिमतों की पुष्टि का साधन है। उनका उल्लेख प्रासंगिक है इसलिए औपनिषदिक भावधारा और पुरातन संस्कृति का उल्लेख समानुपातिक रूप से व्याघात उत्पन्न नहीं कर पाता।

आलोच्य गद्य-लेखन भाव-सम्पदा की दृष्टि से तो महत् है ही पर शिल्प और रचनातन्त्र की दृष्टि से अपनी विशेष उपयोगिता रखता है। यह महादेवीजी की प्रायोगिक सिद्धि है कि वह एक साथ अपने निष्कर्षों को बौद्धिक विचारधारा और काव्यात्मक रसात्मकता के परिपार्श्व से अनुप्राणित करके प्रस्तुत करती हैं। उनके रेखाचित्र केवल अभिनिवेश ही नहीं हैं उनमें विवेच्य वस्तुओं के बहुरंगी चित्र हैं जो विषम-स्थिति की तीखी अनुभूति उत्पन्न करते हैं साथ ही अपनी अभिव्यक्ति-कौशल और भावभंगिमा द्वारा नूतन शिल्प की सृष्टि करते हैं। इन विवेचनों में भावात्मकता का सन्तुलित संयोग हिन्दी गद्य के लिए एक नवीन आविष्कार है। और मैं समझता हूँ इसका गौरव प्रथम बार देवीजी को ही प्राप्त होता है। यही उनकी विशिष्ट गद्य-गरिमा है जिसका युगपद् विकास और उसकी गतिविधि का सक्रिय प्रयोगधर्मी है, प्रत्येक पात्र उनकी तीव्र संवेदना का फल है जिनकी सृष्टि लेखिका ने अपने हृदय-रस से अभिषिक्त करके की है। इस अन्तर्ज्वाला में तपकर एक-एक पात्र निखर उठा है इसलिए आत्म-संस्मरण के सन्दर्भ में वह महता पूर्वक पात्रों के चटकीले रूप-रंग-दर्शन की सूक्ष्म रेखाओं और घटनाओं की क्रमबद्धता का सफल निर्वाह हो सका है।

महादेवी का गद्य तत्त्व-चिन्तन और सौन्दर्योद्घाटन का सम्यक् निर्वाह करता

है। वह जीवन की मार्मिक अनुभूति के कारण संवेदना और रसात्मक अभिव्यंजना द्वारा अपने दुरूह विषय को भी ग्रहणीय बना देती है। गद्य-कला में केवल बौद्धिक विलक्षणता ही नहीं कविता की आत्मा का अंश भी है। दर्शन अध्यात्म और मनुष्य की स्वच्छ मनोवृत्ति का संयम उनके गद्य में अवलोकनीय है। जल पृथ्वी पर तट बनाता है ऊँचे-नीचे कगारों में बाँधता है पर धरती के बीच जल-खण्ड से ज्वाला में शिलाखण्डों से और अनेक धातुओं से अनायास ही मिल जाता है इनके बीच तट रेखाओं का प्रश्न नहीं उठता। प्रस्तुत उदाहरण उनकी विवेचना-शक्ति दार्शनिक गहनता और सूक्ष्म निरीक्षण की तल्लीनता का प्रमाण उपस्थित करता है। चिन्तन के पश्चात् निष्कर्ष निर्धारित करते समय उनका विषय बड़ा उदात्त और उसकी अभिव्यक्ति प्रणाली बड़ी उत्प्रेरक सिद्ध होती है। वैज्ञानिक युग के कवि-कर्म के प्रति उनका निर्देश इस ओज गुण का स्मरण करता है। आज के कवि को अपने लिए अनागरिक होकर भी संसार के लिए गृही अपने प्रति वीतराग होकर भी सबके प्रति अनुरागी अपने लिए संन्यासी होकर भी सबके लिए कर्मयोगी होना होगा ?" इन चिन्तनों में रससिद्धता की परिव्याप्ति विशेष उल्लेखनीय है।

महादेवीजी का गद्य काव्य की भाँति गायनीय रहस्यानुप्राणित और अप्रत्यक्ष नहीं है। वह सौन्दर्य चमत्कार की सृष्टि से हमारी जिज्ञासा-वृत्ति को दिग्भ्रमित नहीं करता अपितु अपनी प्रौढ़ वैचारिक अभिव्यक्ति से हमारी मानसिक दृष्टि को प्रशस्त करता है। गद्य में वह किसी महान सन्देश का आकुल आग्रह लेकर प्रकट होती है। काव्य की भाँति यहाँ वह आत्मानन्द या स्वान्तः सुख की आत्मप्रतीति या वैयक्तिक आत्मरोदन की एकाकी अभिव्यक्ति नहीं रचती अपितु किसी विषम समस्या के अन्तस्तल में उद्भूत अपने चिन्तन का निष्कर्ष प्रतिपादित करती है। गद्य के क्षेत्र में देवीजी युग के प्रति एक असह्य वेदना एवं व्यापक प्रतिक्रिया और विषम मानसिक अशान्ति लेकर अवतरित होती हैं। काव्य के सीमित कलेवर में जीवन की विविधतामूलक जिस विडम्बना का पर्दाफाश वह नहीं करना चाहती उसकी पूर्ति गद्य में करती हैं। गद्य में उदात्त अनुदात्त सात्त्विक अभिजात अथवा विद्रोहात्मक स्वरों का कोई निषेध नहीं है। वह अपने स्वाधीन विचार के लिए ही गद्य की परिधि में पैठती हैं। छन्दों की जिस स्थिति को साहित्यिक कलेवर नहीं दे पाता उसे वह गद्य के माध्यम से सजाकर, सँवारकर प्रस्तुत करती हैं। अतः उनके गद्य की विवेच्य सामग्री पद्य की अपेक्षा बड़ी विराट और उसकी परिधि बड़ी व्यापक है। समाज की वर्तमान न्याय प्रणाली के प्रति मनस्विनी असहिष्णु है। नारी जीवन के प्रति पुरुष वर्ग का जो पाशविक अत्याचार युग-युग से निरन्तर होता आ रहा है उसके प्रति वह असहिष्णु हो उठी है और साथ ही आज के प्रति आधुनिकता के अमर्यादित स्वच्छन्द वीभत्स लक्षणों के प्रति आतंकित है। इस द्विविधा का स्पष्टीकरण पद्य में सम्भव और सम्यक् नहीं है। गद्य का आश्रय लेने का यह प्रमुख कारण है। इसके अतिरिक्त छायावाद की रहस्यात्मक कृतियों का जो खण्डन और छिद्रान्वेषण समसामयिक युग में मूर्धन्य आचार्यों द्वारा किया जाता रहा है उसकी पुष्टि और अपने अभिमतों का दृढ़ पुनर्स्थापन इसी गद्य के क्षेत्र में सुविधेय रहा है। काव्य-सम्बन्धी 'दीपशिखा' 'यामा' आधुनिक कवि आदि के प्राक्कथन इन्हीं मर्मों के विश्लेषण हेतु प्रस्तुत हुए हैं। साहित्य

की समसामयिक प्रवृत्तियों अर्थात् प्रगतिशीलता, यथार्थवाद, गीतिकाव्य, छायावाद और विविध शास्त्रीय समस्याओं यथा काव्य और कला तथा अन्य आध्यात्मिक व दार्शनिक चिन्तना जैसे विश्राम, जीवन, मरण, आनन्द, प्रत्यक्ष, परोक्ष आदि के सम्बन्ध प्रश्नों पर विचार-विमर्श करने का उपयुक्त धरातल उन्हें गद्य की भूमि पर मिलता है। यहाँ उनकी तथ्यान्वेषी प्रवृत्ति कवि की अन्तः प्रवृत्ति से सत्कर्म-मण्डित लोक जीवन का स्पर्श करती है। भाव से विचार की ओर, सूक्ष्म से विराट् की ओर, प्रकृत-भूमि से वास्तविकता की ओर उनका संचरण आधुनिक विकास की दृष्टि से बड़ा समानुपातिक और सर्व-सापेक्ष है। हिन्दी-गद्य के विकास में देवीजी की यह विलक्षणता है कि वह आवेश व विवेचन का संयम नहीं खो देती और विवेचन की तहों में जाकर भाव की सरसता भूला नहीं पातीं। उनके प्रतिपाद्य तथ्यों में जहाँ गूढ़ चिन्तन और सूक्ष्म सत्य का समावेश है, वहीं उनकी प्रतिपादन पद्धति बड़ी कुतूहलपूर्ण, रमणीय तथा ललित है। उपयोगिता के परिप्रेक्ष्य में साहित्य का यह समन्वय—यह समग्रता ही महादेवीजी के गद्य-साहित्य का मेरुदण्ड है।

महादेवी के पद्य में आत्मपीड़न के कारण परस्पर अन्तर्विरोधात्मकता और असामञ्जस्य परिलक्षित है किन्तु गद्य साहित्य इनके प्रतिकूल विचारों की स्वतन्त्रता, एकस्वरता और तात्पर्यनिष्ठता के लिए प्रख्यात है। काव्य-क्षेत्र में उनकी आस्था अन्तर्मुखी है। गद्य में वह बहिर्मुखी और आध्यात्मिक, रागात्मक तथा कवित्वपूर्ण अभ्यास से नितान्त पृथक यहाँ लोक जीवन की विषमताओं से सम्पर्कित होकर शुद्ध चिन्तन में तल्लीन होती है। गद्य में उनका जीवन और संपृक्त मन कठिन समाधान के साथ प्रतिष्ठित हुआ। वे अस्तु गद्य के स्वरों में उनकी आत्म-सत्यता अधिक-से-अधिक समन्वित हो उठी है। उनकी अनुभूतियाँ यहाँ कल्पना की झाँकी सजाती हैं जिनमें यथार्थ का सच्चा निरूपण है। दार्शनिक मीमांसा के अवसर पर वह एक विराट् रूपकों का आयोजन करती है। जीवन की ऐसे मूल से समानता देना जो कहीं पथ में अव्यक्त है, कहीं पत्तों में सहलाता है, कहीं फूलों में सुन्दर है, कहीं फलों में उपयोगी है और कहीं बीज में सृजनशील, यह उनकी अभिव्यक्ति की चरम सिद्धि है।

रेखाचित्रों में देवीजी की गद्य-कला का उत्कृष्ट प्रभाव सुरक्षित है। उनका एक-एक शब्द स्पष्ट आकृति में भास्वरता धारण कर लेता है। कहीं-कहीं चिन्तन की गहनता के कारण कलात्मकता अवश्य बाधित हो जाती है। पर जो विशेष भाव उनकी संवेदना का सदय बना है वह इन चित्रों की रंगीनी से साकार हो उठा है। भाषा की एकरूप जीवन घटना, दिनचर्या, परिवेश और आकृतिपूर्ण आत्मीयता, गतिशीलता और यथार्थ संवेदना के साथ अभिव्यक्त हुई है। इनके कारण कुछ वचन-वक्रता सत्पक्षपोषक नहीं कर पाती। संस्मरणों और अनेक शिल्पों का प्रयोग तथा प्रवर्तन करती है। मुख्यतः वर्णनात्मक, विवेचनात्मक, व्यंग्यात्मक, आलोचनात्मक, व्याख्यात्मक और उद्धरणात्मक शैलियाँ यहाँ प्रस्तुत हैं। उनके सूत्र कथन पृथक भाष्य की अपेक्षा रखते हैं। आर्ष वाक्यों की भाँति वह सूत्रवत् विचार प्रकट करती हैं जिसकी स्पष्ट व्याख्या के लिए पर्याप्त अवकाश चाहिए। छायावाद की व्याख्या में उस उदात्त दृष्टि के बोध में जीवन का चतुर्दिक कहना इसी प्रकार की गम्भीर उक्ति है, ममता मधुमय आत्मदान है, करुणा चिरन्तन है, सौन्दर्य सनातन है

सत्य शाश्वत है और 'क्रान्ति स्वयं एक साधना है' आदि इसी प्रकार के सूक्ति-वचन हैं ।

भाषा के क्षेत्र में वर्माजी का गद्य अभिनव है। वह भावानुकूल भाषा का निर्माण करने में समर्थ है। हास्यरसपूर्ण प्रसंगों में उनका प्रत्येक शब्द क्रीड़ा करता है। भक्तिन के कर्मकाण्ड और दिनचर्या के वर्णन में उनकी शब्दावली सरस हो उठती है। संवेदना की सृष्टि करते हुए वही शब्द मन-कम्पन करते हैं और व्यंग्यात्मक प्रसंगों में हमें मर्माहत करते हैं। चिन्तन की तह में डूबकर प्रत्येक शब्द अर्थ-गौरव से भिन्न होकर व्याख्येय हो जाता है और आत्ममीमांसा का रस बिखेरा करता है। कुछ शब्दों की सृष्टि उनकी विलक्षण सूझ की परिचायक है, पृतदाह्यता आदि ऐसे ही शब्द हैं। दीर्घ काव्यात्मक एवं ललित वाक्यों की सृष्टि में लेखिका का रचना-कौशल निर्विवाद प्रमाणित है। 'पथ के साथी' में उनके सहज कवित्वपूर्ण उद्भावनाओं के साथ तादात्म्य होकर निखर उठे हैं। वर्णन का साकार करके महादेवी ने उसके चित्रण की परम्परा निभाई है। 'कपड़े की सिकन जैसी चीनी को सादे वचन केवल वर्णन ही नहीं बल्कि चित्र समस्त रस देता है। प्राकृतिक दृश्यों, बाह्य पदार्थों और परिस्थितियों को उन्होंने अपने रचना-कौशल द्वारा और भी अधिक गम्भीर और मग्न कर दिया है।

अस्तु, यह सहज स्वीकार्य है कि महादेवीजी गद्य के क्षेत्र में असाधारण सिद्धि सम्पन्न लेखिका हैं। पद्य की अपेक्षा गद्य कहीं अधिक भावप्रवण, विचारोत्तेजक और चित्रमयतापूर्ण है। कहीं-कहीं आलंकारिकता, व्यंजनात्मकता और कृत्रिमता का मोह रचनात्मक और भावबोध को अनावश्यक दुरूह और वक्र बना देता है। फिर भी उनका उक्ति-वैचित्र्य, उनका विवेचनात्मक अन्तर्बोध और उनकी दार्शनिक प्रतीति बड़ी सरस तथा प्रशंसनीय है। 'आत्म' से परे 'पर' की ओर अभिगमन करके वह यहाँ अधिक व्यापक भूमि पर प्रतिष्ठित होती है और विश्व की अनेकरूपता के अनुरूप अपनी अभिव्यक्ति को विविधा बनाकर हृदयस्पर्शी कर देती हैं। उनके निष्कर्ष जहाँ मननशील युग-सापेक्ष्य और स्वस्थ हैं वहाँ उनका शिल्प सुरुचि-सम्पन्न कलात्मक तथा विलक्षण है। उनकी गद्य गरिमा ने हिन्दी के गद्य युग को अपनी असाधारण वाग्विभूति से परिपूर्ण किया है और स्वयं उनके अन्तर्बाह्य पक्षों का विश्लेषण उद्घाटित करके पाठक को समुचित गति दिशा और प्रेरणा प्रदान की है।

स्वप्न सयोग एक मनोविश्लेषण

केवल धीर

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से यदि विचार एवं मनन किया जाय तो ज्ञात होगा कि हम प्राय जिन इच्छाओं एवं कामनाओं को अपने मानस में संजोते हैं तथा उनकी पूर्ति की आशा करते हैं उनमें से अधिकांश पूर्ण नहीं हो पाती तथा वे अतृप्त ही रह जाती हैं, किन्तु यही इच्छाएँ एवं कामनाएँ हमारे स्वप्नों में साकार रूप धारण कर लेती हैं तथा हम तृप्ति अनुभव करते हैं। एक साधारण व्यक्ति के लिए भले ही इन स्वप्नों का कोई विशेष महत्त्व न हो किन्तु एक कवि की कल्पना की परिधि में ये स्वप्न आ ही जाते हैं तथा उसकी कविताओं में उद्भासित हो उठते हैं। उस कवि का मानसिक वातावरण कैसा है उसे अपने जीवन में यह तृप्ति किस सीमा तक उपलब्ध हुई है तथा तत्सम्बन्धित उसका मनस्तत्त्व दृष्टिकोण क्या है—कवि की कविताओं में ये सभी तत्त्व उजागर होते हैं, किन्तु महादेवी का काव्य ऐसे स्वप्नों से भरा पड़ा है।

यदि स्वप्न-संयोग एवं इसके मनोवैज्ञानिक पक्ष पर हम विचार करें तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि महादेवी के काव्य में इसका अत्यधिक समावेश है। स्वप्न-संयोग के अनेक मात्रा-भेद एवं स्थिति भेद हैं तथा भिन्न साहित्यिक मनोविद्-विश्लेषकों ने भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं किन्तु श्रीमद्रूप गोस्वामीजी की इस व्याख्या के विषय में प्राय सभी एकमत हैं कि इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक स्वप्न-संयोग को मात्रा-भेद एवं स्थिति भेद के आधार पर चार प्रकार में विभाजित किया जा सकता है—(क) संक्षिप्त स्वप्न संयोग (ख) संकीर्ण स्वप्न-संयोग (ग) सम्पन्न स्वप्न-संयोग तथा (घ) समृद्धिमय स्वप्न-संयोग। यदि हम उपर्युक्त चारों प्रकार के मात्रा एवं स्थिति भेदों के आधार पर महादेवी के काव्य को परखें तो इसे स्वप्न-संयोग की किसी एक मात्रा अथवा स्थिति भेद के दायरे में नहीं रख सकते क्योंकि इस दृष्टिकोण के अनुसार किसी विशेष भेद की पूर्णता हमें उनके काव्य में उपलब्ध नहीं होती—अर्थात् दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि महादेवी के काव्य में स्वप्न-संयोग के भिन्न मात्राओं एवं स्थितियों का सम्मिश्रण तो है किन्तु किसी विशेष भेद की पूर्णता नहीं। महादेवी के अतृप्त स्वप्न एवं आकांक्षाएँ उभय हैं तथा कल्पना के पंख लगाकर वे बहुत ऊँची उड़ानें भी भरते हैं किन्तु इन स्वप्नों ने कवि के हृदय को किसी एक भेद तक सीमित न रखकर समस्त मानसिक चेतन एवं अवचेतन को अपनी

सीमा में ले लिया है। यही कारण है कि कवि का हृदय कभी करुणा से भर जाता है और कभी अवचेतन की सुखद भ्रमात्मक अनुभूति उसे पुलकित कर देती है। किसी ने महादेवी के काव्य का विवेचन इन थोड़े से शब्दों में कितना ठीक किया है—"महादेवी का काव्य आँसुओं का देश है जहाँ केवल विरह की बयार ही चलती रहती है किन्तु मरुस्थल के बिरल 'ओएसिस' की भाँति अश्रुओं के उस विरही देश में भी यदा-कदा कम्पित मलय समीर की लहर मिल जाती है।" समीर की इस लहर की अनुभूति महादेवी को केवल स्वप्नों के संसार में ही हो सकी है जाग्रतावस्था में नहीं। उनके काव्य में 'विरह की बयार' की अनुभूति तो प्रायः होती है किन्तु पुलकित कर देने वाली समीर की लहर का स्पर्श कभी-कभार हो पाता है और वह भी स्वप्नों के संसार में। यही उनके मानसिक वातावरण में 'स्वप्न-संयोग' का स्थान ग्रहण करता है। यही कारण है कि स्वप्न-संयोग के आधार पर ही महादेवी के स्वप्न कृत्रिम स्वप्न-चरित्र के वाहक न होकर विचार-बोधक हैं तथा इसीलिए इनमें स्वप्न-वर्णिता भी अत्यधिक है क्योंकि यदि हम उनके व्यक्तित्व पर नजर दौड़ाएँ तो हमें उनके व्यक्तित्व की विलक्षणता का भी भास होगा। उनके जीवन में पद्य गद्य सामाजिकता आदि सभी प्रकार विलक्षणता स्पष्ट एवं पृथक रूप में देखी जा सकती है। यह भिन्नता यद्यपि एक-दूसरे से असंपृक्त नहीं है तथापि इसे हम अन्वित एवं अद्भुत सिद्धान्तपथ भी नहीं कह सकते।

उपर्युक्त विश्लेषण से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महादेवी के साहित्य में—विशेष रूप से पद्य-साहित्य में स्वप्न-संयोग का वास्तविक समावेश है। 'सान्ध्यगीत' की ये पंक्तियाँ—

अश्रु मेरे माँगने जब नींद में वह पास आया।
स्वप्न-सा हँस पास आया!!
हो गया दिव की हँसी से
शून्य में सुर चाप अंकित
रश्मि रोमों में हुआ निस्पन्द
तम भी सिहर पुलकित
अनुसरण करता अमा का
चाँदनी का हास आया!
नींद में वह पास आया!!

उपर्युक्त पंक्तियों से जहाँ हमें स्वप्न-संयोग की अनुभूति होती है वहाँ इसमें प्रिय प्रियतम के मिलाप (स्वप्न में ही) का समावेश भी है। महादेवी के काव्य में स्वप्नों की अधिकता का एक दूसरा उदाहरण है—

बिछाती थी सपनों के जाल।
तुम्हारी वह करुणा की कोर॥

हिन्दी आलोचकों का कहना है कि महादेवी के काव्य में अधिकतर कुण्ठित एवं अवदमित वासनाओं को ही अभिव्यक्त किया गया है। यदि हम स्वप्न-संयोग सम्बन्धी फ्रॉयड के सिद्धान्तों पर विचार करें तो इस आधार पर हम कह सकते हैं कि उन्होंने अपने

काव्य में 'चेतन' पर बल नहीं दिया, बल्कि अधिकतर 'अवचेतन' का ही आश्रय लिया है। फ्रायड के मतानुसार भावनाएँ चेतन के प्रभाव से ही नहीं दबतीं, बल्कि जब वे स्वप्नों में आती हैं तो भी चेतन द्वारा प्रभावित रहती हैं। इन भावनाओं को हम वासना का नाम भी दे सकते हैं तथा ये भावनाएँ अथवा वासनाएँ स्वतन्त्र न रहकर परतन्त्र हो जाती हैं एवं छद्मवेश धारण कर लेती हैं। परतन्त्रता के भय से जब ये भावनाएँ स्वप्न का रूप धारण कर लेती हैं तो इनका रूप परिवर्तित हो जाता है—अर्थात् ये इसी रूप दृष्टिगोचर होती हैं जो व्यक्ति के 'सेन्सर' का रूप होता है। इस परिवर्तन के पीछे व्यक्ति का मानस ही क्रियाशील होता है। इस प्रकार की विलक्षणता एवं परिवर्तन के कारण ऐसे छद्मवेशी स्वप्न सुन्दर नहीं रहते तथा परिणाम यह होता है कि इनकी थाह पाने के लिए अनेक अन्य साधनों का आश्रय लेना पड़ता है। ये साधन विस्थापन एवं संघनन हो सकते हैं। इस प्रकार के विस्थापन की स्पष्ट झलक महादेवी के काव्य में मिलती है जैसे—

मैं पलकों में पाल रही हूँ
यह सपना सुकुमार किसी का।

सान्ध्यगीत की ये पंक्तियाँ भी इसी विस्थापन को स्पष्ट करती हैं —

कौन आया था न जाने
स्वप्न में मुझको जगाने।
याद में उन अँगुलियों के
हैं मुझे पर युग बिताने !!

विस्थापन का अर्थ है—मूलभूत भावना को छद्मवेश का रूप देने के लिए अनुभूति को किसी अलौकिक आलम्बन की ओर विस्थापित करना। महादेवी की उपर्युक्त पंक्तियों में इस विस्थापन का भाव स्पष्ट है। संघनन का अर्थ है संक्षिप्त करना—अर्थात् जो बात हमें पाँच सौ व्यक्तियों में कहनी है इन पाँच व्यक्तियों में कही जा सके। इसका उदाहरण 'दीपशिखा' की इन पंक्तियों से मिलता है—

पल-भर का वह स्वप्न तुम्हारी
युग-युग की पहचान बन गया।

स्वप्नों की यह संघननता संक्षिप्त एवं क्षणिक होने के कारण मन उचाट जाती है तथा शेष रह जाता है पश्चात्ताप। महादेवी भी कविताओं में ऐसे प्रियतम का उल्लेख करती हैं जो उनके स्वप्न-संसार में मात्र पल-भर के लिए आता है और जब वह उसे रिझाकर स्थायी बनाने का प्रयास करती हैं तो वह दूर कहीं खो जाता है। अपने प्रियतम को रिझाने एवं मिलन के इन क्षणों को स्थिर बनाने के उनके सभी प्रयास विफल हो जाते हैं तथा शेष रह जाता है मात्र पश्चात्ताप। अपने प्रियतम को रिझाने मिलन के क्षणों को स्थिर बनाने एवं बाद में पश्चात्ताप करने का उल्लेख उनकी कविताओं में प्राप्त हुआ है—

तुम्हें बाँध पाती सपने में!
तो चिर जीवन प्यास बुझा लेती

इस छोटे क्षण अपने में !![1]

कवयित्री के मन-मस्तिष्क में तब कैसा द्वंद्व उठता है 'नीरजा' की ये पंक्तियाँ—

मिटा उपमन कर-कर विचरण
लौट रही सपने संचित कर।

जब कवयित्री का प्रियतम उसके स्वप्नों में आएगा इसका भास उन्हें होता है तो अपने प्राण प्राण प्रियतम की वह किस प्रकार प्रतीक्षा करती है तथा मिलन की इस दशा को चिर एवं स्थायी बनाने की वह कैसी कल्पना करती है यह पंक्तियाँ—

वह सपना बन बन आता
जागृति में जाता लौट
मेरे श्रवण आज बैठे हैं
इन पलकों की ओट !

जब यह कल्पना भी साकार नहीं होती तो भी कवयित्री साहस नहीं हारती एवं वह नयनों में सपनों की सेज ही सजाए रहना चाहती है—

अब आओ मैं पलकों में
स्वप्नों से सेज बिछाऊँ !

वह इस सेज को सजाने के लिए स्वप्न-मोती ढूँढ लाती है तथा प्रियतम की प्रतीक्षा करती है—

नींद सागर से सजनि !
जो ढूँढ लाई स्वप्न मोती !
गूँथती हूँ हार उनका !
क्यों कहा मैं प्रात रोती ?[2]

जब यह सब व्यर्थ सिद्ध होता है तो कवयित्री इन्हीं स्वप्नों से अपने नयन अंकित कर लेना चाहती है—

जिसमें बैठ सँवारे कुंतल
अंगराग पुलकों का मलमल
स्वप्नों से आँसू पलकें चल
सपनों की रच आज प्रथा
नयनों में प्रिय का हास ![3]

जब इन सपनों के आँसू भी मुस्कराकर मूक सुमन बन जाते हैं कवयित्री यह कहे बिना नहीं रहती—

पलकों में उलझ बिखरे
स्वप्न के सूने सुमन से !

---

१ नीरजा।
२ सान्ध्यगीत।
३ नीरजा।
४ सान्ध्यगीत।

काव्य में 'चेतन' पर बल नहीं दिया बल्कि अधिकतर 'अवचेतन' का ही आश्रय लिया है। फ्रायड के मतानुसार भावनाएँ चेतन के प्रभाव से ही नहीं बचतीं बल्कि जब ये स्वप्नों में आती हैं तो भी चेतन द्वारा प्रभावित रहती हैं। इन भावनाओं को हम वासना का नाम भी दे सकते हैं तथा ये भावनाएँ अथवा वासनाएँ स्वतन्त्र न रहकर परतन्त्र हो जाती हैं एवं छद्मवेश धारण कर लेती हैं। परतन्त्रता के भय से जब ये भावनाएँ स्वप्न का रूप धारण कर लेती हैं तो इनका रूप परिवर्तित हो जाता है—अर्थात् वे इसी रूप दृष्टिगोचर होती हैं जो व्यक्ति के 'सेन्सर' का रूप होता है। इस परिवर्तन के पीछे व्यक्ति का मानस ही क्रियाशील होता है। इस प्रकार की विलक्षणता एवं परिवर्तन के कारण ऐसे छद्मवेशी स्वप्न सुन्दर नहीं रहते तथा परिणाम यह होता है कि इनकी थाह पाने के लिए अनेक अन्य साधनों का आश्रय लेना पड़ता है। ये साधन विस्थापन एवं संघनन हो सकते हैं। इस प्रकार के विस्थापन की स्पष्ट झलक महादेवी के काव्य में मिलती है जैसे—

मैं पलकों में पाल रही हूँ
यह सपना सुकुमार किसी का।

सांध्यगीत की ये पंक्तियां भी इसी विस्थापन को स्पष्ट करती हैं —

कौन आया था न जाने
स्वप्न में मुझको जगाने!
याद में उन अँगुलियों के
हैं मुझे पर युग बिताने!!

विस्थापन का अर्थ है—मूलभूत भावना को छद्मवेश का रूप देने के लिए अनुभूति को किसी अलौकिक आलम्बन की ओर विस्थापित करना। महादेवी की उपर्युक्त पंक्तियों में इस विस्थापन का भाव स्पष्ट है। संघनन का अर्थ है संक्षिप्त करना—अर्थात् जो बात हमें पाँच सौ व्यक्तियों में कहनी है उन पाँच व्यक्तियों में कही जा सके। इसका उदाहरण 'दीपशिखा' की इन पंक्तियों से मिलता है—

पल भर का वह स्वप्न तुम्हारी
युग-युग की पहचान बन गया।

स्वप्नों की यह संघनता संक्षिप्त एवं क्षणिक होने के कारण मन उचाट जाती है तथा शेष रह जाता है पश्चात्ताप। महादेवी भी कविताओं में ऐसे प्रियतम का उल्लेख करती हैं जो उनके स्वप्न-संसार में मात्र क्षण-भर के लिए आता है और जब वह उसे रिझाकर स्थायी बनाने का प्रयास करती हैं तो वह दूर कहीं खो जाता है। अपने प्रियतम को रिझाने एवं मिलन के इन क्षणों को स्थिर बनाने के उनके सभी प्रयास विफल हो जाते हैं तथा शेष रह जाता है मात्र पश्चात्ताप। अपने प्रियतम को रिझाने, मिलन के क्षणों को स्थिर बनाने एवं बाद में पश्चात्ताप करने का उल्लेख उनकी कविताओं में प्राय हुआ है—

तुम्हें बाँध पाती सपने में!
तो चिर जीवन प्यास बुझा लेती

इस छोटे क्षण अपने में ।।[1]

कवयित्री के मन-मस्तिष्क में तब कैसा ज्वार उठता है, 'नीरजा' की ये पंक्तियाँ—

निशा उन्मन कर-कर बिखरन
लौट रही सपने संचित कर ।

जब कवयित्री का प्रियतम उसके स्वप्नों में आएगा इसका भास उन्हें होता है तो अपने आने वाले प्रियतम की वह किस प्रकार प्रतीक्षा करती है तथा मिलन की इस वेला को चिर एवं स्थायी बनाने की वह कैसी कल्पना करती है यह पंक्तियाँ—

वह सपना बन बन आता
जागृति में जाता लौट
मेरे श्रवण आज बैठे हैं
इन पलकों की ओट ।

जब यह कल्पना भी साकार नहीं होती तो भी कवयित्री साहस नहीं हारती एवं वह नयनों में सपनों की सेज ही सजाये रहना चाहती है—

अब आओ मैं पलकों में
स्वप्नों से सेज बिछाऊँ !

वह इस सेज को सजाने के लिए स्वप्न-मोती ढूँढ लाती है तथा प्रियतम की प्रतीक्षा करती है—

नींद सागर से सजनि !
जो ढूँढ लाई स्वप्न मोती ।
गूँथती हूँ हार उनका ।
क्यों कहूँ मैं प्रात रोती ?[2]

जब यह सब व्यर्थ सिद्ध होता है तो कवयित्री इन्हीं स्वप्नों से अपने नयन अंकित कर लेना चाहती है—

जिसमें देख सँवारे कुंतल
अंगराग पुलकों का मलमल
स्वप्नों में आँसू पलकें चल[3]
सपनों की रज आज गया
नयनों में प्रिय का हास ![4]

जब इन नयनों के आँसू भी सूखकर सूखे सुमन बन जाते हैं कवयित्री यह कहे बिना नहीं रहती—

बरुनियों में उसास बिखरे
स्वप्न के सूखे सुमन से ।

---

१ नीरजा ।
२ सान्ध्यगीत ।
३ नीरजा ।
४ सान्ध्यगीत ।

काव्य में 'चेतन' पर बल नहीं दिया बल्कि अधिकतर 'अवचेतन' का ही आश्रय लिया है। फ्रायड के मतानुसार भावनाएँ चेतन के प्रभाव से ही नहीं दबतीं बल्कि जब वे स्वप्नों में आती हैं तो भी चेतन द्वारा प्रभावित रहती हैं। इन भावनाओं को हम वासना का नाम भी दे सकते हैं तथा ये भावनाएँ अथवा वासनाएँ स्वतन्त्र न रहकर परतन्त्र हो जाती हैं एवं छद्मवेश धारण कर लेती हैं। परतन्त्रता के भय से जब ये भावनाएँ स्वप्न का रूप धारण कर लेती हैं तो इनका रूप परिवर्तित हो जाता है—अर्थात् वे इसी रूप दृष्टिगोचर होती हैं जो व्यक्ति के 'सैल्फ' का रूप होता है। इस परिवर्तन के पीछे व्यक्ति का मानस ही क्रियाशील होता है। इस प्रकार की विलक्षणता एवं परिवर्तन के कारण ऐसे छद्मवेशी स्वप्न सुघर नहीं रहते तथा परिणाम यह होता है कि इनकी थाह पाने के लिए अनेक अन्य साधनों का आश्रय लेना पड़ता है। ये साधन विस्थापन एवं संघनन हो सकते हैं। इस प्रकार के विस्थापन की स्पष्ट झलक महादेवी के काव्य में मिलती है जैसे—

मैं पलकों में पाल रही हूँ
यह सपना सुकुमार किसी का।

सांध्यगीत की ये पंक्तियाँ भी इसी विस्थापन को स्पष्ट करती हैं —

कौन आया था न जाने
स्वप्न में मुझको जगाने !
याद में उन अँगुलियों के
है मुझे पर युग बिताने ।।

विस्थापन का अर्थ है—मूलभूत भावना को छद्मवेश का रूप देने के लिए अनुभूति को किसी अलौकिक आलम्बन की ओर विस्थापित करना। महादेवी की उपर्युक्त पंक्तियों में इस विस्थापन का भाव स्पष्ट है। संघनन का अर्थ है संक्षिप्त करना—अर्थात् जो बात हम पाँच सौ पंक्तियों में कहनी है उन पाँच पंक्तियों में कही जा सके। इसका उदाहरण 'दीपशिखा' की इन पंक्तियों से मिलता है—

पल भर का वह स्वप्न तुम्हारी
युग-युग की पहचान बन गया।

स्वप्नों की यह क्षणभंगुरता संक्षिप्त एवं क्षणिक होने के कारण मन उचाट जाती है तथा शेष रह जाता है पश्चाताप। महादेवी भी कविताओं में ऐसे प्रियतम का उल्लेख करती हैं जो उनके स्वप्न-संसार में मात्र क्षण भर के लिए आता है और जब वह उसे रिझाकर स्थायी बनाने का प्रयास करती हैं तो वह दूर कहीं चला जाता है। अपने प्रियतम को रिझाने एवं मिलन के इन क्षणों को स्थिर बनाने के उनके सभी प्रयास विफल हो जाते हैं तथा शेष रह जाता है मात्र पश्चाताप। अपने प्रियतम को रिझाने मिलन के क्षणों को स्थिर बनाने एवं बाद में पश्चाताप करने का उल्लेख उनकी कविताओं में प्राय हुआ है—

तुम्हें बाँध पाती सपने में !
तो चिर जीवन प्यास बुझा लेती

हर्ष छोटे इस अन्तर में ।१

कवयित्री के मानस-स्वप्न में जब [illegible] हुआ है, 'नीरजा' की ये पंक्तियाँ—

निशा आगम, कम्पन विचरण
लौट रही अपने मंजिल पर ।

जब कवयित्री का प्रियतम उसके स्वप्नों में आ, उसका मान उन्हें हरता है तो अपने पास प्रियतम का वह किस प्रकार प्रतीक्षा करती है तथा मिलन की इस कथा को फिर एवं स्वप्न बनाने की वह कैसी कल्पना करती है, यह पंक्तियाँ—

वह सपना बन-बन आता,
जागृति में जाता लौट
मेरे श्रवण आज बैठे हैं
इन पलकों की ओट ।

जब यह कल्पना भी साकार नहीं होती तो भी कवयित्री साहस नहीं हारती एवं इन स्वप्नों में सपनों की सेज ही सजाए रहना चाहती है—

अब आओ मेरे पलकों में
स्वप्नों से सेज बिछाऊँ ।

वह इस सेज को सजाने के लिए स्वप्न-मोती ढूँढ लाती है तथा प्रियतम की प्रतीक्षा करती है—

नींद सागर से सजनि !
जो ढूँढ लाई स्वप्न मोती ।
गूँथती हूँ हार उनका ।
क्यों कहा मैं प्रात रोती ?२

जब यह सब व्यर्थ सिद्ध होता है तो कवयित्री इन्हीं स्वप्नों से अपने नयन अंकित कर लेना चाहती है—

जिसमें बैठ सँवारे कुंतल
अंगराग पुलकों का मलमल
स्वप्नों में आँसू पलकें चल३
सपनों की रज आज नया
नयनों में प्रिय का हास !४

जब इन सपनों के आँसू भी [illegible] सुनहरे सुमन बन जाते हैं, कवयित्री यह कह बिना नहीं रहती—

कल्पना में [illegible] खिलते
स्वप्न के [illegible] सुमन से।

१ नीरजा ।
२ नीरजा ।
३ सान्ध्यगीत ।
४ सान्ध्यगीत ।

खोजने फिर शिथिल पग
निश्वासदूत निकल चुका है!![1]

जब कभी भी इन काल्पनिक स्वप्नों में डूब गई तो कह उठी—

मेरे जीवन की जागृति
देखो फिर भूल न जाना
जो वे सपना बन आवें
तुम चिर निद्रा बन जाना।[2]

यदि हम महादेवी के स्वप्नों के गुणों पर विचार करें तो हम पायेंगे कि उनके स्वप्न मूल न होकर ख्यालों का केवल स्मरण मात्र हैं क्योंकि उनके काव्य में मौलिक अनुभूति की ऊष्मा हमें नहीं मिलती। 'नीरजा' की ये पंक्तियाँ इसका उदाहरण हैं—

मिलन बेला में अलस तू
सो गई कुछ जागकर जब
फिर गया वह स्वप्न में!
आ रही प्रतिध्वनि वही फिर!
नींद का उपहार ले!
अब सजनि दीपक बार ले!!

यदि हम स्वप्नों की मौलिकता एवं स्मृत-स्वप्नों पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि दोनों में साम्य नहीं है। स्मृत स्वप्न अपने आनुपूर्वी गुणों को खो देते हैं। फ्रॉयड के कथनानुसार स्मृत स्वप्न 'विकृत स्थानापन्न' होते हैं। इन दोनों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि मौलिक स्वप्न 'अवचेतन' का सर्वाधिकार है किन्तु इसके विपरीत स्मृत स्वप्नों को स्मरण क्षणों में चेतन द्वारा प्रभावित होना पड़ता है। इस प्रकार स्मृत स्वप्न मौलिक स्वप्नों की अपेक्षा विकृत हो जाते हैं। इसी कारण फ्रॉयड ने इन्हें 'विकृत स्थानापन्न' कहा है। प्रो० विमलजी ने एक स्थान पर लिखा है—"महादेवी के काव्य निबद्ध स्मृत स्वप्नों में बराबर 'कौन' कहकर अभिहित किया जाने वाला अलौकिक अनुभूतियों का प्रेरक नायक अवश्य ही मूल स्वप्न में किसी निश्चित व्यक्तिवाचक संज्ञा का चिरपरिचित 'प्रतिमा' रहा होगा। स्मृत स्वप्नों का सामान्य एवं स्वाभाविक विकृति से महादेवी के काव्य निबद्ध स्वप्नों को सरलतापूर्वक अलौकिक धरातल मिल गया है। फ्रायडीय मनोविश्लेषण की शब्दावली में कहा जा सकता है कि महादेवी के काव्य निबद्ध स्वप्नों में हमें व्यक्त स्वप्न वस्तु (मैनीफेस्ट ड्रीम कान्टेन्ट) मिलती है किन्तु उनके गुप्त स्वप्न-विचार (लेटेण्ट ड्रीम थाट्स) को जानने के लिए हम आर्तंग व्याख्या का आश्रय लेना पड़ेगा जिसमें निश्चित रूपेण लौकिक अनुभूतियाँ मिलेंगी क्योंकि मनोविश्लेषण के अनुसार गुप्त स्वप्न विचार का ही महत्व है व्यक्त स्वप्नवस्तु तो उस तक पहुँचने का केवल माध्यम मात्र है।"

उपर्युक्त विश्लेषण का चित्र हम इन पंक्तियों में देख सकते हैं—

---

१ दीपशिखा।
२ नीहार।

अभु मेरे माँगने जब
नींद में वह पास आया !
स्वप्न-सा हँस पास आया !!
हो गया दिव की हँसी से
शून्य में सुरचाप अंकित !
रश्मि रोमों में हुआ
निस्पन्द तम भी सिहर पुलकित
अनुसरण करता अमा का,
चाँदनी का हास आया !
नींद में वह पास आया !!![1]

महादेवी की कविताओं में 'स्थानापन्न मनोबिम्बों' के विषय में प्रो० विमल ने लिखा है कि उनकी स्मृत-स्वप्नों की ऐन्द्रिय लौकिक अनुभूतियों को न पकड़ पाने का एक कारण यह है कि इनकी अभिव्यक्ति अधिकतर स्थानापन्न मनोबिम्बों (सब्स्टीच्यूट इमेज) द्वारा हुई है। स्थानापन्न मनोबिम्बों की विशेषता यह है कि वह अन्योक्ति अथवा समासोक्ति की तरह किसी दूरवर्ती अप्रस्तुत को सरसतापूर्वक सांकेतिक कर देते हैं। अतः महादेवी के स्वप्नों में आध्यात्मिकता को अनुस्यूत करने वाले स्थानापन्न बिम्बों का तत्त्वों के बीच प्रमुख स्थान है—

नीरव तम की छाया में
छिप सौरभ की अलकों में
गायक वह गान तुम्हारा
आ मँडराया पलकों में !

यहाँ 'गायक का गान' स्थानापन्न बिम्ब है। वह अवश्य ही प्रिय की या प्रिय का स्पर्श अथवा प्रिय की बात के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है।

महादेवी को सच्चा विरह एवं वेदना की ग्राहक कवयित्री कहा गया है तथा यह स्वाभाविक ही है कि ऐसे कवियों अथवा कवयित्रियों की रचनाओं में सुख-स्वप्न नहीं मिलते बल्कि इनमें अधीर स्वप्नों की ही अधिकता होती है। महादेवी के काव्य के मानसिक वातावरण का यदि हम मनोविश्लेषण करें तो हम पायेंगे कि उनके काव्य में भी स्वप्नों की अधीरता ही है—स्वप्न-सुख नहीं। इसका उदाहरण है 'नीहार' की ये पंक्तियाँ जिनमें उन्होंने लिखा है कि जब प्रियतम तम की छाया में छिपकर उनकी पलकों में मँडरा गया तब—

हाला-सी हलाहल-सी
वह गई अचानक लहरी
डूबा जग भूला तन-मन
आँखें निमिषाईं निहरी ![2]

---

१ सान्ध्यगीत । २ नीहार ।

पीड़ा में प्रेम तत्त्व

मधु भारती

दुःख की बदली घुल घुलकर गलने वाली दीपशिखा ओस के आँसू बिखराती हुई पीड़ा स्मिति प्रिय की अनन्त प्रतीक्षा में लीन साधिका पीड़ा के राज्य की रानी अमरों का लोक त्यागकर मिटने का अधिकार माँगने वाली समर्पिता जन्म को वियोग के नाम से अभिहित करने वाली चिर विरहिणी ये हैं महादेवीजी के वे चित्र जो उनकी कविता का ध्यान करते ही कल्पना में घूमने लगते हैं।

काव्य-क्षेत्र में 'नीहार' 'रश्मि' 'नीरजा' 'सान्ध्यगीत' और 'दीपशिखा' के अमिट चरण-चिह्न छोड़ने वाली कवयित्री के जीवन में पीड़ा की विरह-वेदना की इतनी तीव्र अनुभूति कहाँ से आई यह प्रश्न बार-बार काव्य-प्रेमियों को आन्दोलित करता रहा है। पीड़ा कला का शाश्वत स्वर रहा है। मनुष्य के अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् की क्रिया प्रतिक्रिया की रागात्मक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति ही काव्य तथा अन्य ललित कलाओं का रूप धारण करती है। काव्यान्तर्गत पीड़ा के भी दो रूप हैं—बाह्य परिस्थितिजन्य मानसिक वेदना जो संसार की असारता स्वार्थपरता और संकुचित मनोवृत्ति से उत्पन्न होती है और अभिलाषाओं के अपूर्ण रहने पर मन की कचोट प्रियजनों के बिछुड़ने से भावुक हृदय की कातरता बाह्य प्राणियों के दुःख-दैन्य से उत्पन्न व्यथा और करुणा की भावना में परिलक्षित होती है। दूसरे प्रकार की वेदना अन्तर्जगत् से सम्बन्धित होती है और आध्यात्मिक कारणों से उत्पन्न होती है। परमात्मांश आत्मा काल-सीमा के बन्धन में पड़कर विश्वात्मा में लीन होने के लिए आर्त्त क्रन्दन करती रहती है। पर यह एकाकार सहज सम्भव न होने से वह व्यथित हो रो पड़ती है। निराश हो प्रकृति के नाना उपकरणों में विश्वात्मा की झलक पाने के लिए अकुला उठती है। इस प्रकार मानव-जीवन में वेदना के इन दोनों रूपों का सहज विकास होता रहता है। बाह्य जीवन की अभावजन्य दुःखानुभूति और अन्तर्जगत् की विरह भावना मन में पीड़ा और करुणा की अनन्त लहरें उठाया करती है। महादेवीजी की पीड़ा के प्रेरक तत्त्वों को जब काव्य प्रेमी उनके जीवन में खोजने का प्रयास करते हैं तब महादेवीजी का यह वाक्-जाल उन्हें उलझा देता है—

'संसार साधारणतः जिसे दुःख और अभाव के नाम से जानता है वह मेरे पास नहीं है। जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब-कुछ मिला है।

उस पर पार्थिव दुःख की छाया नहीं पड़ी। कदाचित् यह उसी की प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगने लगी है।

नारी जीवन में अतिशय दुलार, आदर और सब-कुछ बहुत मात्रा में मिलने की प्रतिक्रिया से वेदना प्रिय नहीं हो जाती। अनुभूति के स्तर पर आए बिना प्रतिक्रियात्मक साहित्य मर्मस्पर्शी नहीं हो सकता। किन्तु महादेवीजी मर्म की सफल कवयित्री हैं। उन्होंने कवि-सुलभ 'भावुकता' और संवेदनशील हृदय पाया है अतः वह अपने सम्पूर्ण काव्य को प्रतिक्रियात्मक कहकर पाठकों को भ्रमा नहीं सकतीं। उसमें निहित पीड़ा बाहर से उधार ली हुई नहीं है। यह पीड़ा शुद्ध स्वानुभूति लिये हुए उनके अन्तर्जगत् से फूटी एवं विकसित हुई है। 'नीहार' में उनके लौकिक प्रेम, मानसिक संघर्ष और व्यक्तिगत दुःख के स्वर हठी बालक के समान मुखर हो जाना चाहते हैं पर जैसे महादेवीजी ने सतर्कतापूर्वक उन्हें दबा दिया है। कुछ ऐसा ही आभास पाकर शायद श्रीमती शचीरानी गुर्टू यह तथ्य प्रकाशित करने पर लाचार हो गई हैं— 'माता-पिता की स्नेह-छाया में अबोध शैशव बिताकर जीवन की कठोर वास्तविकता जब उनकी बुद्धि के सयानेपन से टकराई तो अनमिल भावनाओं के कारण दो भिन्न हृदय प्रेम-सूत्र में न बँध सके और तभी से उनके मानस में नीरवता, बेचैनी और सूनेपन की छाया परिव्याप्त हो गई। यौवन के तूफानी क्षणों में जब उनका अल्हड़ हृदय किसी प्रणयी के स्वागत के लिए मचल रहा था और जीवन-गगन के रक्ताभ पट पर स्नेह-ज्योत्स्ना छिटकी पड़ रही थी तभी अकस्मात् विषम प्रेम की धूप झिलमिला पड़ी और दुलकते प्राणों की धूमिलता में अस्पष्ट रेखाएँ-सी अंकित कर गई। आत्म-संयम का व्रत लिये हुए उद्दाम जिस लौकिक प्रेम को ठुकराकर पीड़ा का गम समाया वह कालान्तर में आन्तरिक क्षीणता से म्लान होकर बहुत कुछ बिखर तो गई किन्तु उनके हठीले मन का उससे कभी लगाव न छूटा और वह उसे निरन्तर स्मरण में विलाप रटन की मानो हठ पकड़ बैठी।

असफल स्थूल प्रेम को लौकिक आलम्बन के सहारे व्यक्त करना एवं व्यापक विकृति ग्रस्त निर्जीव संस्कारों के बोझ से अभिभूत वर्ग में जन्म लेने वाली संकोचशीला महादेवीजी के लिए सम्भव भी तो नहीं था। अतः जीवन की शुष्कता से घोर विमुख होकर वह लोकोत्तर आलम्बन की ओर उन्मुख हुईं और उनकी व्यथित आत्मा ने प्रेम का वह मधुर सम्बन्ध जो प्रेमी प्रेमिका के मध्य पनपता है, केवल उस परम पुरुष से स्थापित किया जिसके अनन्त प्यार में न कभी तृप्ति मिलती है न पीड़ा का अन्त होता है।

आध्यात्मिक प्रेम पनपने के लिए उनका मन पहले से ही था। भावुक माता सब प्रकार की साम्प्रदायिकता से दूर धार्मिक तथा दार्शनिक पिता के संस्कार लेकर भावुकता, कोमलता, भावना, व्यापक दार्शनिकता और सम्प्रदायहीन चेतना के धरातल पर खड़ी होकर वह उस संस्कृत साहित्य और दर्शनशास्त्र के अध्ययन में लीन हो गईं जिसके स्तर में आध्यात्मिकता के स्वर ही गूँजते हैं। बौद्ध-धर्म की महाकरुणा और हिन्दी साहित्य के भक्ति काल के सन्त कवियों की परमात्मा से साक्षात्कार होने की तड़पन, मीरा का 'दर्द', सूफियों की 'प्रेम की पीर', सूर की राधा की गम्भीर विरह वेदना और तुलसी के आत्म का आर्त-पीड़ा को उन्होंने आत्मसात् किया था।

आधुनिक काल में यह रवि बाबू की आध्यात्मिकता स्वामी विवेकानन्द और परमहंस रामकृष्ण की अद्वैतवादी विचारधारा से भी प्रभावित हुई। अतएव उनकी अलौकिक प्रेम-वल्लरी एक स्वप्निल मानसिक वातावरण और व्यथा के सम्मोहन में बढ़ चली। महादेवीजी के काव्य में उनके विकास की एक अन्तर्धारा स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है जिसके विषय में महादेवीजी ने 'यामा' में स्वयं लिखा है—"नीहार के रचनाकाल में मेरी वैसी ही कुतूहल-मिश्रित वेदना उमड़ आती है जैसी बालक के मन में दूर दिखाई देने वाली अप्राप्य सुनहली उषा और स्पर्श से दूर सजल मेघ के प्रथम दर्शन से उत्पन्न हो जाती है। रश्मि को उस समय आकार मिला जब मुझे अनुभूति से अधिक चिन्तन प्रिय था। परन्तु 'नीरजा' और 'सान्ध्यगीत' मेरी उस मानसिक स्थिति को व्यक्त कर सकेंगे जिसमें अनायास ही मेरा हृदय सुख-दुःख में सामंजस्य का अनुभव करने लगा।

प्रेम अनुभूतिसाध्य विषय है। उसका पहला लक्षण है अन्तर में कोमलता और स्निग्धता का उद्रेक होना। आकर्षण के जन्म लेते ही व्यक्ति के मुग्ध प्राणों को मधुरता मिश्रित बर्फ-जैसी शीतल जलन की तीव्र अनुभूति होने लगती है। उस समय कोमलतम मधुरतम काव्यमयी भावनाएँ अन्तर्मन के किसी निगूढ़ कोने से निकलकर चुपके से होंठों पर आ बैठती हैं जिनमें से कुछ गीत बन जाती हैं और कुछ मौन भाव से प्रेमास्पद के मधुर स्मितों को अपलक निहारती रहती हैं। 'नीहार' के गीतों में प्रेमविह्वला महादेवीजी की यही मुग्धता, मुखरता, मौनता और मधुर वेदनानुभूति अभिव्यक्त हुई है। यह प्रेम लौकिक अधिक आध्यात्मिक कम है।

उनकी मुग्धावस्था का यह चित्र कितना आकर्षक है—

जब विस्मय के तुम सुना
उसके मन में रहस्य की बात,
मेरे निर्निमेष पलकों में
मचा गये क्या-क्या उत्पात!
जीवन है उन्माद तभी से
निधियाँ प्राणों के छाले
माँग रहा है विपुल वेदना—
के मन प्याले पर प्याले!

उनका यह मिलन काल्पनिक जगत् में नहीं इसी संसार में हुआ है इसे वह भावे प्रमाणित करती हैं—

कैसे कहती हो सपना है
अलि उस मूक मिलन की बात
भरे हुए अब तक फूलों में
मेरे आँसू उनके हास?

पीड़ा के राज्य की रानी दीप-सी जल जलकर उसे आलोकित कर रही है। प्रेम की साधना करते-करते एक दिन उसका जीवन-दीप बुझ जायगा। प्रिय को दिये गए इस उपालम्भ में प्रेम की अमर साधिका का कैसा अद्भुत आत्मविश्वास झलक उठा है—

चिन्ता क्या है हे निर्मम !
बुझ जाये दीपक मेरा
हो जायेगा तेरा ही
पीड़ा का राज्य अँधेरा ।

अपनी पीड़ा, सूनापन और असीमता पर उन्हें बड़ा अभिमान है। वह प्रिय से किसी बात में कम नहीं, अतः उन्हें पूर्ण विश्वास है कि उनकी लघुता के कारण प्रिय को लज्जित नहीं होना पड़ेगा। स्वाभिमानिनी महादेवीजी का यह स्वर मन की गहराइयों में उतरता चला जाता है—

उनसे कैसे छोटा है
मेरा यह भिक्षुक जीवन
उनमें अनन्त करुणा है
इसमें असीम सूनापन ।

सच तो यह है कि महादेवीजी के प्रिय को भी उनके समान पीड़ा, दुःख और करुणा प्रिय है, तभी तो तम के पर्दे में आना भाता है—

करुणामय को भाता है
तम के पर्दे में आना
हे नभ की दीपावलियो
तुम पलभर को बुझ जाना ।

फिर महादेवीजी को पीड़ा इतनी प्रिय क्यों न हो। इसीलिए उनकी ब्रह्म प्राप्ति की साधना दुःखपरक है। रवि बाबू की भावना में भी इसी प्रकार के रंग भरे हैं। 'गीतांजलि' के एक गीत में वेदना-दूती आकर उन्हें सन्देश दे रही है—ओ प्राण, तेरे ही लिए भगवान जाग रहे हैं।

वेदनादूती गाहिछे ओरे प्राण
तोमार लागि जागेन भगवान ।
निशीथ घन अन्धकारे
डाकेन तोरे प्रेमाभिसारे ।
दुख दिये राखेन तोर मान ।
तोमार लागि जागेन भगवान ।

महादेवीजी के मानस में पीड़ा मीठे स्वप्न-सी निखरी है। यह पीड़ा प्रिय से मिलन का साधन है। वस्तुतः उनके लिए पीड़ा और प्रियतम एकरूप हो गए हैं—

तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा
तुममें ढूँढ़ूँगी पीड़ा ।

तभी तो पीड़ा के विनिमय में उन्हें अमरों का लोक भी तुच्छ लगता है—

क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार

छूने दो हे देव ! अरे
यह मेरा मिटने का अधिकार।

'रश्मि' में महादेवी की कल्पना प्रवणता कुतूहल-मिश्रित वेदना और व्यक्तिगत जीवन के प्रश्न दुःख बन गये। चिन्तन द्वारा उनकी पीड़ा अन्तर्मुखी से बहिर्मुखी हुई। भौतिक अभाव और सामाजिक विषमतायें मानव-जीवन के प्रमुख तत्त्व हैं इस ज्ञानोपलब्धि ने उनके करुणा-पूरित जीवन में अत्यन्त महत्त्व पाया। अतएव उन्होंने अपनी व्यक्तिगत पीड़ा विश्व-पीड़ा में मिला दी। विश्वात्मा का प्रेम विश्व के कण-कण में व्याप्त कर दिया। प्रियतम ब्रह्म के व्यक्त रूप अभावग्रस्त और कष्टमय संसार को विस्मृत कर क्या प्रिय को पाया जा सकता था ? इसीलिए उन्होंने सारे विश्व से तादात्म्य कर लिया।

तुम मानस में बस जाओ
छिप दुख के अवगुण्ठन से
मैं तुम्हें ढूंढने के मिस
परिचित हो लूं कण-कण से

जब-जब चातक का बालक-मन नये मेघों के लिए रोया किरणों ने तितलियों के चित्रित पंखों की माया चुग लेनी चाही बादलों ने नभ को ढँक लिया प्रेम-साधिका महादेवीजी का मन करुणार्द्र हो उन पर सुख की छाया करने को आतुर हो उठा। जीवन की विषमता देखकर उन्होंने प्रश्न किया—

'कह दे माँ क्या अब देखूं ?
देखूं खिलती कलियाँ या
प्यासे सूखे अधरों को
तेरी चिर यौवन सुषमा
या जर्जर जीवन देखूं।

'रश्मि' में यह है महादेवीजी की पीड़ा का नया रूप और दुःख की व्यापकता। महादेवीजी ने दुःख-पीड़ा के इसी रूप को कवि का मोक्ष कहा है। वह लिखती हैं—"दुःख मेरे निकट जीवन का एक ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें किन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता। मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है परन्तु दुःख सबको बाँटकर—विश्व-जीवन में अपने जीवन को विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है कवि का मोक्ष है।

"मुझे दुःख के दोनों ही रूप प्रिय हैं। एक वह जो मनुष्य के संवेदनशील हृदय को सारे संसार से एक अविच्छिन्न बन्धन में बाँध देता है और दूसरा वह जो काल और सीमा के बन्धन में पड़े हुए असीम चेतन का क्रन्दन है।

असीम चेतन का क्रन्दन तो उनके सम्पूर्ण काव्य में परिव्याप्त है जिसे काव्य सुधियों ने भावनात्मक रहस्यवाद भी कहा है। मनुष्य के संवेदनशील हृदय का सारे संसार से अविच्छिन्न सम्बन्ध जोड़ने वाले दुःख से भी उनका काव्य वंचित नहीं है जैसा

कि ऊपर दिखाया जा चुका है। 'नीरजा', 'सान्ध्यगीत' और 'दीपशिखा' में दुःख का महत्त्व अधिक स्पष्ट हुआ है। प्रायः काव्य प्रेमियों और आलोचकों को महादेवीजी से यह शिकायत रही है कि वह काव्य में अन्तर्जगत् की रहस्यमय गलियों में ही भटकती रही हैं, बहिर्जगत् की यथार्थता को नहीं छू सकीं। महादेवीजी अमर गीतों की गायिका हैं। उनके गीतों में अन्तर्दर्शन और आत्मनिष्ठा की ही प्रधानता रहती है। महादेवीजी की बहिर्मुखता देखने के अभिलाषी उनके गद्य में उतरें।

'रश्मि' में प्रेम-साधिका विरह में डूबी अवश्य लेकिन आत्मिक पीड़ा का नहीं भुला पाई। अज्ञात प्रियतम के सान्निध्य से उन्हें श्रवण-सुख, नयन-सुख, घ्राण और स्पर्श सुख मिला, तृप्ति भी मिली—

श्रवण-सुख—

तब बुला जाता मुझे उस पार जो
दूर के संगीत-सा वह कौन है?

नयन-सुख—

तब चमक जो लोचनों को मूँदता
तड़ित की मुसकान में वह कौन है?

घ्राण और स्पर्श-सुख—

सुरभि बन जो थपकियाँ देता मुझे
नींद के उच्छ्वास सा वह कौन है?

पर उन्हें यह तृप्ति नहीं चाहिए। वह विरह की कामना करती हैं। कारण यह है कि विरह अतृप्ति है। जब तक अतृप्ति है, अभाव है तभी तक उन्हें उन्माद और आनन्द की प्रेरणा मिलती है। मिलन होने पर उनका जीवन हलचल-शून्य होकर सूना, भावनाहीन एवं जड़ हो जायगा और महादेवीजी यही नहीं चाहतीं। तृप्ति का एक क्षण भी उन्हें स्वीकार नहीं—

पाने में तुमको खोऊँ,
खोने में समझूँ पाना।
यह चिर अतृप्ति हो जीवन
चिर तृष्णा हो मिट जाना।

'रश्मि' में उन्होंने प्रिय को पीड़ा में ढूँढ़ा, फिर तृष्णा को अपनाया और प्राप्तिजन्य सुख को विरह-वेदना में घुला दिया। इस प्रकार उन्होंने 'नीहार' की अनुभूतियों का दार्शनिक दृष्टि से चिन्तन कर अपना एक जीवन-दर्शन सुनिश्चित किया। यही जीवन दर्शन अद्वैत और [illegible] भावना का आधार लेकर रागात्मक अनुभूतियों का स्पर्श पाकर अधिक तीव्रता और गम्भीरता के साथ 'नीरजा' 'सान्ध्यगीत' और 'दीपशिखा' में आया। कल्पना का प्राधान्य क्षीण हो गया। महादेवीजी का उपासना-भाव, प्रेम, जिज्ञासा, मार्मिक करुण आत्मनिवेदन और आत्मानुभूति चरमावस्था पर पहुँच गई। [illegible] में पानी का [illegible] प्रभाविस्मरण में महादेवीजी ने आत्मा का रस मिला दिया। प्रिय का आह्वान, मिलन-विरह, आत्मनिवेदन, समर्पण और समर्पण भी [illegible] अभिव्यक्त म

रहते हुए भी उसी प्रकार भौतिक हो गए, जिस प्रकार कबीर-जायसी की रहस्यवादी कविता में और मीरा के भाव भीने गीतों में है।

अब तक प्रकृति उनकी विरह-विदग्ध आत्मा को सहानुभूति के अश्रुओं से शीतल करती थी अब महादेवीजी ने जड़ चेतन सभी में सार्वभौमिक प्रीति एवं प्रणय निवेदन देखा। प्रकृति से उन्हें आत्म-विसर्जन की प्रेरणा भी मिली। उन्होंने एक पुष्प को झरते झरते संसार में अपनी सुगन्धि फैलाते देखा जुगनू-जुगनू लघु दीपक को अन्धकार में आलोक भरते देखा। विसर्जन में ही सुख है इस सत्य को उन्होंने प्रकृति से समझा और अपने जीवन-दीप को धीरे-धीरे जलाकर प्रियतम का पथ आलोकित करने की प्रेरणा पाई। उनके इस आत्म-समर्पण में कितनी पुलक कितनी मृदुलता कितना माधुर्य और प्रिय में घुलने मिलने का कैसा पावन भाव निहित है—

मधुर-मधुर मेरे दीपक जल।
युग-युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल
प्रियतम का पथ आलोकित कर
तू जल-जल जितना होता क्षय
वह समीप आता छलनामय
मधुर मिलन में मिट जाना तू
उसकी उज्ज्वल स्मिति में घुल-खिल।
मदिर-मदिर मेरे दीपक जल
प्रियतम का पथ आलोकित कर

उनके लिए जीवन विरहजन्य उपादानों से निर्मित है 'विरह का जलजात जीवन विरह का जलजात।

मैं नीर भरी दुख की बदली।

बरदान भी वह घन बनने का चाहती है जिससे करुणामय के सन्तप्त संसार को हरियाली देकर वह प्रियतम को प्रसन्न कर सके।

नित घिरूँ झर-झर मिटूँ प्रिय
घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय।

'प्रिय सान्ध्य-गगन मेरा जीवन' गीत में सान्ध्य-गगन की विविध-रूप रंगमयता से उनके जीवन की विरहाकुलता अभिलाषा आशा मिलनेच्छा न मिल सकने की कसक और विषाद के मिले-जुले भावों की एकरूपता देखते ही बनती है। दुख सहते-सहते सन्ध्या हो गई। कवयित्री को पूर्ण विश्वास है कि अब मिलनेच्छा पूर्ण हो जायगी वह पुकार उठती है—

उतरो अब पलकों में पाहुन।

निष्ठुर प्रियतम अभी नहीं आता। उन्होंने प्रकृति के उपकरणों से आध्यात्मिक शृंगार करके प्रियतम को रिझाना चाहा—

शशि के दर्पण में देख-देख
मैंने सुलझाए तिमिर केश,

गूँथे फूल तारक पारिजात
अवगुण्ठन कर किरणें अशेष ।

इतने पर भी जब प्रिय नहीं आया तो शृंगार की विफलता पर वह चुपके-चुपके रो उठीं—

क्यों आज रिझा पाया उसको
मेरा अभिनव शृंगार नहीं ?

वह कभी प्रिय की प्रतीक्षा करती हैं 'आ तुम आ जाते एक बार' कभी उसे अपनी व्यथा दिखाकर करुणार्द्र करना चाहती हैं 'यह सजल मुख देख लेते यह करुण मुख देख लेते'; कभी उस सपने में खोजने की कामना करती हैं कभी उन्हें एकान्त मिलन और अभिसार की साध सिहरा देती है। फिर भी क्षण-क्षण सुहागिनी का मान आँखों की राह ढुलक गया नहीं है। निजत्व देने की असमर्थता के कारण वह अभिमानिनी प्रिय से मिल भी नहीं पातीं—

सजनि मधुर निजत्व दे
कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं ?

उन्हें प्रियतम की आरती उतारने के लिए विरह के सारे उपकरण व्यर्थ लगते हैं क्योंकि विरह का मूर्तरूप उनका जीवन ही नीराजना बन गया है—

प्रिय मेरे गीले नयन बनेंगे आरती
श्वासों में सपने कर गुम्फित
वन्दनवार वेदना चर्चित
भर दुख से जीवन घट मित
मूक क्षणों में मधुर भरूँगी भारती ।

यही भाव दीपशिखा में भी आया है—

यह मन्दिर का दीप इसे नीरव जलने दो ।

प्रियतम के सान्निध्य में आत्मा अहंकार शून्य हो आत्म-विस्मृता-सी प्रिय से तादात्म्य सुख पाती है फिर उसे प्रिय से परिचय की आकांक्षा नहीं रहती 'तुम मुझमें प्रिय फिर परिचय क्या ?' युग-युगान्तर से पृथक् अस्तित्व के भ्रमजाल में पड़ी 'पथ देख बिता दी रैन मैं प्रिय पहचानी नहीं' का करुण विचार करने वाली आत्मा सारे आने-जाने मुखर क्षणों की एकता को समझने लगती है और निराला के 'तुम तुंग हिमालय शृंग और मैं चंचल-गति सुर-सरिता' के समान कहने लगती है—'बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ ।' और

चित्रित तू मैं हूँ रेखा क्रम
मधुर राग तू मैं स्वर संगम
तू असीम मैं सीमा का भ्रम
काया छाया में रहस्यमय
प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या ?

विरह की यही वह चरमावस्था है जहाँ सुख-दुःख न विरह-मिलन आत्मा-परमात्मा

में भेद नहीं रहता है। अनूठा आत्मताप समस्त वेदनाएँ हर लेता है।

विरह की घड़ियाँ हुईं अलि
मधुर मधु की यामिनी-सी।

मिलन का मत नाम ले
मैं विरह में चिर हूँ।

हो गई आराध्यमय मैं
विरह की आराधना ले।

दीपशिखा में नायिका की प्रेम-साधना सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गई है। यह साधना तीन रूपों में परिलक्षित होती है—

पहला रूप है दीपक की तरह जलने की भावना। विरह रात्रि को प्रकाशित करने व प्रिय के समीप पहुँचने के लिए ही मानो यह दीपशिखावत् तिल-तिल करके जल रही है।

धूप-सा तन, दीप-सी मैं
जल रही अविराम मिट-मिट
स्वजन और समीप-सी मैं।

वह यह चिन्ता क्यों करे कि मिलन कब होगा ? प्रभात को पाना उनका लक्ष्य ही नहीं है। वह तो प्रभाती तक अनवरत जलती रहना चाहती है—

मैं क्यों पूछूँ यह विरह निशा
कितनी बीती क्या शेष रही ?

दूसरी विशेषता करुणा-स्निग्ध लौ से कण-कण को आलोक प्रदान करना है। पीड़ा-सन्तप्त उनका हृदय इतना संवेदनशील हो गया है कि वह दूसरे की व्यथा को सहज ही हृदयंगम कर लेती है—

अलि मैं कण-कण को जान चली
सबका क्रन्दन पहचान चली।

उनकी लघु पलकों से ममता छलक छलककर कण-कण में बिखर गई है वेदनाश्रु जहाँ भी गिरे वहाँ की धूल पवित्र हो गई।

इन आँखों के रस से गीली
रज भी है दिल से गर्वीली
सुख से चंचल दुख से बोझिल
क्षण-क्षण का जीवन जान चली
मिटने को कर निर्माण चली !

तीसरी विशेषता है प्रिय से प्रेरणा और मिलन-संकेतों का मिलना। अपनी विरहानुभूति में उन्हें प्रिय से प्रेरणा मिल रही है और मिलन-संकेत भी जिससे कवयित्री को अतीव शक्ति मिलती है। वह अपनी करुणानुभूति को विश्व के कण-कण के माध्यम से उस अनन्त निरुपम के चरणों तक पहुँचा रही है। ऐसी साधना के पथ पर धूम अक्षत धूप चन्दन के समान लग रही है प्रिय की सुधि से साँसें सुरभित हो गई हैं प्रेम-बाती

चल रही है नयन अश्रु बहाकर अभिषेक कर रहे हैं निस्सन्देह साधना-मार्ग की यह वेदना बड़ी सरस और मधुर है—

हुए शूल अक्षत, मुझे धूलि चन्दन
अगरु-धूम-सी साँस गन्ध-सुरभित
बनी स्नेह की आरती चिर अकम्पित
हुआ नयन का नीर अभिषेक जलकण

साधनात्मक दृष्टि से ज्यों-ज्यों प्रियतम और साधिका के बीच की दूरी घट रही है, आवागमन हो रहा है त्यों-त्यों मिलन की उत्कण्ठा और तज्जनित व्याकुलता भी तीव्र होती जा रही है दूरी कम हुई तो पीड़ा बहुत अधिक बढ़ गई है—अब तो प्रतीक्षा के कुछ क्षण भी युग कल्प-से लग रहे हैं। बस एक संकेत ही मिलन-संकेत के लिए उनके प्राण शत शत बार मचल रहे हैं—

अन्तहीन विभावरी है
पास अंगारक तरी है,
तिमिर की तटिनी क्षितिज की कूल रेख डुबा भरी है।
शिथिल कर से सुभग
सुधि पतवार आज बिछड़ चुका है
अब कहो सन्देश है क्या ?
और ज्वाल विशेष है क्या ?
अग्नि-पथ के पार—चन्दन
चाँदनी का देश है क्या ?
एक इङ्गित के लिए
शत बार प्राण मचल चुका है।

चाहे यह संकेत न भी मिला हो फिर भी वह पूर्ण विश्वास के साथ पथ पर आगे बढ़ रही है—

रात-सी नीरव व्यथा
तम-सी अगम मेरी कहानी
फेरते हो तुम तुम्हारे
आँसुओं का क्षणिक पानी
व्याप्त कर लेगी इसे
छू प्राण की मुसकान !

प्रायः महादेवीजी का अलौकिक प्रेम की कविताओं और चिर पीड़ा के कारण चिन्तन-प्रधान भावुकता रहित और अनुभूतिशून्य होने का आरोप सहना पड़ा है जबकि इन 'नीहार' से लेकर 'दीपशिखा' तक कहीं भी अनुभूति का रंग फीका नहीं पड़ा। 'दीपशिखा' के गीतों में भी जहाँ चिन्तन गहरा हो गया है अनुभूति और भावुकता का आवरण और भी अधिक गाढ़ होकर आया है।

उन्होंने अपने काव्य पर आरोपित भावना का समर्थन उत्तर प्रदान न शास्त्र-सम्पर्क

की भूमिकाओं में किया है। अनुभूति की यथार्थता के सन्देह का निवारण भी काव्य के द्वारा ही किया है। सर्वप्रथम तो वह लोगों की धारणा पर विस्मित है—

जाने क्यों कहता है कोई
मैं तम की उलझन में खोई ?
मैं कण-कण में ढाल रही अलि
आँसू के मिस प्यार किसी का,
मैं पलकों में पाल रही हूँ
यह सपना सुकुमार किसी का।

इस पर भी जब आलोचकों की भ्रममूल धारणाएँ नहीं बदलीं उन्होंने उनसे अत्यन्त सहज भाव से अपने अनुभवों का कोई समाधान माँगा—

जो न प्रिय पहचान पाती।
दौड़ती क्यों प्रति शिरा में
प्यास विद्युत्-सी तरल बन ?
क्यों अचेतन रोम पाते चिर
व्यथामय सजग जीवन ?
किस लिए हर साँस तम में
सजल दीपक राग गाती ?
मेघ-पथ में चिह्न विद्युत् के
गए जो छोड़ प्रिय पद
जो न उनकी चाप का मैं
जानती सन्देश उन्मद।
किस लिए पावस नखत में
प्राण में चातक बसाती ?

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि उनके एकाकी और वेदनामय जीवन का कारण सुख और सुहाग का अभाव नहीं है कोई गहरी अतृप्ति है जिसने उनसे 'यामा' और 'दीपशिखा' जैसी सबल कृतियों की सृष्टि करवा ली है। पर उस अतृप्ति को स्थूल शारीरिक अर्थ में लेना सुसंस्कृत और संयत तपस्विनी के प्रति घोर अपराध होगा। कवयित्री होने के कारण पुरुष कवि की तरह उनका प्रणय निवेदन स्वभावतः ऐन्द्रिय रोमानी असंयत और मुखर नहीं है। वह स्वकीया की भावना लिये हुए संयत और गार्हस्थिक-सा परब्रह्म के प्रति अपार्थिव प्रणय-निवेदन है। उसमें प्रच्छन्न रूप से प्रारम्भिक प्रणय का स्पन्दन भले ही हो किन्तु उसकी ऐन्द्रियता सूक्ष्म से सूक्ष्मतम होती हुई अतीन्द्रियता में परिणत हो गई है अर्थात् उसका उदात्तीकरण हो गया है। इसीलिए 'नीहार' में कहीं-कहीं झलकने वाला लौकिक प्रेम पीड़ा के प्रशस्त मार्ग से चलकर 'दीपशिखा' तक आते-आते संस्कारित होकर आध्यात्मिक ऊँचाई तक पहुँच गया है और व्यक्तिगत पीड़ा को लोक-व्यापी बनाता हुआ सुख-दुःख का सामंजस्य करता रहा है।

परिशिष्ट | पुस्तक-सूची

कृतियाँ

(क) काव्य

१ नीहार [१९३०], १९२४ १९२८ के गीत संख्या ४७
२ रश्मि [१९३२] १९२८ १९३१ के गीत संख्या ३५
३ नीरजा [१९३५] १९३१ १९३४ के गीत संख्या ५८
४ सान्ध्य गीत [१९३६] १९३४ १९३६ के गीत संख्या ४५
५. दीपशिखा [१९४२] १९३६ १९४२ के गीत संख्या ५१
६ सप्तपर्णा [१९६०], काव्यानुवाद
७ सन्धिनी [१९६५] विविध गीतों का संग्रह संख्या ६५

(ख) गद्य

७ अतीत के चलचित्र [१९४१] १९३० १९३६ कुल ११
८ स्मृति की रेखाएँ [१९४३] कुल ७
९ शृंखला की कड़ियाँ [१९४८] लेख १९३१ १९३७ कुल ११
१० पथ के साथी [१९५६] रेखाचित्र कुल ३
११ क्षणदा [१९५६] निबन्ध कुल १२
१२ विवेचनात्मक गद्य [१९४२] आलोचना
१३ साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध [१९६२], आलोचना

आलोचनात्मक साहित्य

१४ महादेवी की रहस्य-साधना विश्वम्भर 'मानव'
१५ महादेवी वर्मा मूल्यांकन कुमार विमल
१६ महादेवी अभिनन्दन ग्रन्थ
१७ आधुनिक कविता का मूल्यांकन : इन्द्रनाथ मदान

१८ छायावाद   नामवरसिंह
१९ महादेवी वर्मा   गंगाप्रसाद पांडेय
२० छायावाद   पुनर्मूल्यांकन   श्री सुमित्रानन्दन पन्त
२१ महादेवी की काव्य-साधना   सत्यपाल 'चुघ'
२२ हिन्दी साहित्य   बीसवीं शताब्दी   नन्ददुलारे वाजपेयी
२४ विचार और अनुभूति   नगेन्द्र